प्राचीन भारतवर्ष की जनसत्ता और संस्कृति

— वाजपेयी

प्राचीन भारतवर्ष की जनसत्ता और संस्कृति

— वाजपेयी

प्राचीन भारतवर्ष की

जनसत्ता और संस्कृति

लेखक—
श्री० बेनीप्रसाद वाजपेयी "मंजुल"
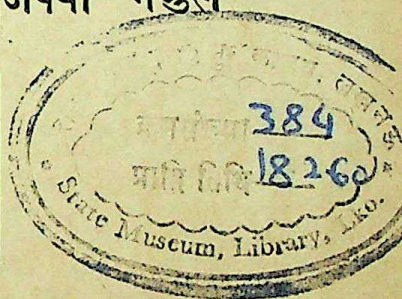
विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा.

प्रथम संस्करण] सन १९५१ ईसवी [मूल्य ३॥)

विषय-सूची

ऐतिहासिक सिंहावलोकन

भारतीय संस्कृति का विकास क्रम

प्राचीन काल की भारतीय संस्कृति

ऐतिहासिक सिंहावलोकन

१—इतिहास लिखने की कला के सम्बन्ध में

यदि ध्यान-पूर्वक देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि इस समय की इतिहास-कला को जन्म देने वाली आधुनिक यूरोप की सभ्यता ही है। प्राचीन चीन, भारत, ईरान, मिश्र इत्यादि में भी यह कला कुछ अंश तक अपना कार्य कर रही थी। इनमें से प्रत्येक देश में उस देश की पुरानी सभ्यता का कुछ-न-कुछ लिखा हुआ इतिहास अवश्य मिलता है। प्राचीन यूनान और रोम में इस कला ने और भी अधिक उन्नति की। अनेक यूनानी और रोमन विद्वानों के तत्कालीन लिखे हुए इतिहास आज भी प्रमाण माने जाते हैं।

इन सबों के बाद अरबों का समय आया और जहाँ तक इस कला को वैज्ञानिक ढंग से उन्नति देने और इतिहास की सत्यता को सुरक्षित रखने का प्रश्न है, कदाचित् किसी भी प्राचीन जाति ने इस विषय में इतना परिश्रम नहीं किया जितना अरबों ने। ईसवी सन् की ग्यारहवीं शताब्दी में प्रसिद्ध मुसलमान इतिहास-लेखक अलबेरुनी ने इतिहास-कला पर बड़ी सुन्दर वैज्ञानिक विवेचना की है और इतिहास के पढ़ने वालों को सावधान किया है कि प्रत्येक इतिहास-लेखक की स्वाभाविक प्रवृत्तियों से कितने प्रकार की भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो सकती हैं जिनसे बच सकना उनके लिए अत्यन्त कठिन है। इसी प्रकार के और भी इतिहास-लेखकों और इतिहास-कला-विशारदों के नाम उस समय के अरबों में मिलते हैं। इतना सब होने पर भी हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि विस्तृत इतिहास लिखने की जो प्रथा आजकल के समय में प्रचलित है, वह प्राचीन देशों में कहीं न थी।

प्राचीन संसार में और प्रधानतया प्राचीन भारत में अपने-अपने देशों अथवा जातियों के इतिहास लिखने का काम उतना आवश्यक न समझा जाता था

भारतीय संस्कृति का विकास क्रम

प्राचीन काल की भारतीय संस्कृति

ऐतिहासिक सिंहावलोकन

१—इतिहास लिखने की कला के सम्बन्ध में

यदि ध्यान-पूर्वक देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि इस समय की इतिहास-कला को जन्म देने वाली आधुनिक यूरोप की सभ्यता ही है। प्राचीन चीन, भारत, ईरान, मिश्र इत्यादि में भी यह कला कुछ अंश तक अपना कार्य कर रही थी। इनमें से प्रत्येक देश में उस देश की पुरानी सभ्यता का कुछ-न-कुछ लिखा हुआ इतिहास अवश्य मिलता है। प्राचीन यूनान और रोम में इस कला ने और भी अधिक उन्नति की। अनेक यूनानी और रोमन विद्वानों के तत्कालीन लिखे हुए इतिहास आज भी प्रमाण माने जाते हैं।

इन सबों के बाद अरबों का समय आया और जहाँ तक इस कला को वैज्ञानिक ढंग से उन्नति देने और इतिहास की सत्यता को सुरक्षित रखने का प्रश्न है, कदाचित् किसी भी प्राचीन जाति ने इस विषय में इतना परिश्रम नहीं किया जितना अरबों ने। ईसवी सन् की ग्यारहवीं शताब्दी में प्रसिद्ध मुसलमान इतिहास-लेखक अलबेरुनी ने इतिहास-कला पर बड़ी सुन्दर वैज्ञानिक विवेचना की है और इतिहास के पढ़ने वालों को सावधान किया है कि प्रत्येक इतिहास-लेखक की स्वाभाविक प्रवृत्तियों से कितने प्रकार की भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो सकती हैं जिनसे बच सकना उनके लिए अत्यन्त कठिन है। इसी प्रकार के और भी इतिहास-लेखकों और इतिहास-कला-विशारदों के नाम उस समय के अरबों में मिलते हैं। इतना सब होने पर भी हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि विस्तृत इतिहास लिखने की जो प्रथा आजकल के समय में प्रचलित है, वह प्राचीन देशों में कहीं न थी।

प्राचीन संसार में और प्रधानतया प्राचीन भारत में अपने-अपने देशों अथवा जातियों के इतिहास लिखने का काम उतना आवश्यक न समझा जाता था

और न उसे उतना महत्त्व किया जाता था जितना कि आजकल दिया जाता है। यही कारण है कि प्राचीन भारत का कोई क्रमवार इतिहास नहीं मिलता और अधिकाँश प्राचीन सभ्यताओं के इतिहास का पता लगाने के लिए हमें पौराणिक कथाओं, भिन्न-भिन्न प्रकार के साहित्य तथा उस समय के शिला-लेखों, खुदे हुए अवशेषों एवं सिक्कों आदि की सहायता लेनी पड़ती है।

इतिहास लिखने की कला को जो इतना अधिक महत्त्व आजकल दिया जाता है, उसका मुख्य कारण यह है कि भिन्न-भिन्न जातियों की मानसिक स्थिति अपनी उन्नति की दृष्टि से इसे अधिक महत्त्व देने लगी है। वास्तविक बात तो यह है कि मानव-जाति को इस कला से विशेष कुछ लाभ नहीं है। आजकल किसी समय के इतिहास का अधिकतर सम्बन्ध उस समय की राजनैतिक अवस्था से होता है। यह मानी हुई बात है कि कोई भी मनुष्य अपने समय की राजनैतिक अवस्था की ओर से पूर्णतया निष्पक्ष नहीं हो सकता। प्रत्येक लेखक के विचार किसी न किसी ओर झुकते ही हैं।

कोई दो लेखक ऐसे भी नहीं मिल सकते जो अपने समय की किसी एक घटना को अथवा किसी विशेष प्रकार की घटना को एकसा महत्त्व देते हों। व्यक्तिगत पक्षपात अथवा व्यक्तिगत प्रवृत्तियों के अतिरिक्त प्रत्येक मनुष्य के हृदय में सामाजिक, जातीय, अथवा साम्प्रदायिक प्रवृत्तियाँ भी अपना स्थान रखती ही हैं और उस लेखक की लेखनी पर अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकतीं। इसलिए साधारणतया निष्पक्ष इतिहास का मिल सकना एक प्रकार असम्भव-सा ही है। इस प्रकार के पक्षपात से पूर्ण इतिहास पाठकों में भी उसी प्रकार के पक्षपात को बनाये रखने का एक कारण बने रहते हैं।

इन सबके अतिरिक्त मनुष्य की सीमित मानसिक शक्तियों पर असंख्य तिथियों और व्यक्तियों के वर्णनों अथवा चरित्रों का भार डालने की भी कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। अपने अथवा दूसरों के दोषों को याद रखने की अपेक्षा मनुष्य-जाति के संचित पुण्य विचारों पर दृष्टि रखना ही मनुष्य के लिए अधिक कल्याणप्रद है। विशेषतया राजनीति में जहाँ कि मनुष्य प्रेम और आत्मोत्सर्ग के स्थान में द्वेष और स्वार्थ ही हमारे कार्यों को अधिक प्रभावित करते हों।

यही कारण है कि प्राचीन काल के विद्वान अपनी अपनी जातियों के विस्तृत और पूर्ण इतिहास लिखने के स्थान में कल्पित अथवा अर्द्ध-ऐतिहासिक कथाओं के द्वारा अपने समय के सर्वश्रेष्ठ नैतिक, सामाजिक और धार्मिक आदर्शों को चित्रित कर देना अधिक अच्छा समझते थे। इसीलिए अनेक उच्च-से-उच्च कोटि के प्राचीन ग्रंथों में लेखक का नाम तक नहीं मिलता और न भारत के प्राचीन साहित्य से तिथियों का ही ठीक-ठीक पता चलता है। ऐसे ही प्रसंगों में साधारण इतिहास के ऊपर रामायण और महाभारत-जैसे ग्रन्थों की श्रेष्ठता और सर्वापेक्षा अधिक उपयोगिता है।

२—अब तक इतिहास में क्या मिलता रहा ?

जितनी कठिनाई मनुष्य को अपने समय का इतिहास लिखने में होती है उससे कहीं अधिक कठिनाई पुराने समय के इतिहास के लिखने में होती है। अतीत काल का इतिहास लिखने वालों को भी पूर्व में कहे हुए पक्षपात से पूर्ण उल्लेखों के आधार पर अपनी रचना करनी पड़ती है। समय और वास्तविक स्थिति से अनेक दूर रहने के कारण उन्हें और भी अधिक अंधेरे में टटोलना पड़ता है।

भारत का और विशेषतया अर्वाचीन काल के भारत का इतिहास लिखने वाले के लिए यह कठिनाई कई गुनी अधिक बढ़ जाती है। अङ्गरेजी-काल के भारत का इतिहास लिखने वालों को प्रायः अधिक स्थानों में अङ्गरेज़ों के लिखे ग्रन्थों का सहारा लेना पड़ता है। भारतवासियों के हाथ का लिखा कोई क्रमवार इतिहास इस समय का नहीं मिलता। जो अधूरे वृत्तान्त किसी-किसी भारतवासी के लिखे मिलते हैं, उनमें से भी अनेक वृत्तान्तों के लेखक अङ्गरेज़ों के धन-क्रीत (धन के द्वारा मोल लिए गए) थे और यह बात उन समस्त लेखकों के लेखों से ही प्रमाणित है।

संसार के इतिहास में जब-जब और जहाँ-जहाँ एक एक जाति दूसरी जाति के शासन में आई है, वहाँ-वहाँ स्वभाव से ही शासक-जाति के लेखकों का स्वार्थ अपनी रचनाओं के द्वारा यही रहा है कि अपनी जाति के लोगों में देश-भक्ति, आत्म-विश्वास, स्वाभिमान और साहस को जाग्रत किया जाय और शासित जाति के लोगों में इन्हीं सद्गुणों को कम किया जाय या उत्पन्न न होने दया जाय। अङ्गरेज़ों के लिखे हुए भारतीय इतिहास लगभग आरम्भ से ही अन्त तक इसी दोष से पूर्ण रहे हैं।

संसार के किसी भी देश का इतिहास इस स्वाभाविक दोष के द्वारा इतना अधिक विकृत नहीं किया गया जितना कि भारतवर्ष का भारतवर्ष और इङ्गलिस्तान का सम्बन्ध ही ऐसा रहा है जिसके कारण निष्पक्ष भारतीय इतिहास का लिखा जाना प्रायः असम्भव सा हो गया। एक ओर अङ्गरेज लेखकों की साम्राज्य-लोलुप दृष्टि और दूसरी ओर अङ्गरेजी काल के अधिकतर भारतीय लेखकों की विदेशी शिक्षा, मानसिकदासता और आजीविका की विकट परिस्थिति !

इसीलिए भारतीय इतिहास की जो पुस्तकें आजकल हमें मिल रही हैं, उनमें से अधिकांश में निरर्थक तुच्छ बातों पर ज़ोर दिया गया है और इतिहास के महत्त्व-पूर्ण अङ्गों की अवहेलना की गई है, उन्हें आवश्यकता से अधिक दबाया गया है। ऐतिहासिक घटनाओं की शृङ्खला की शृङ्खला ही विचित्र प्रकार से वर्णन की गई है और अनेक व्यक्तियों के चरित्र को सफ़ेद के स्थान में काला और काले के स्थान में सफ़ेद रङ्ग कर हमारे सामने रखा गया है। अनेक सत्य घटनाओं का इतिहास में पता तक नहीं चलता और अनेक कल्पित घटनाएँ सत्य के नाम पर वर्णन की गई हैं। इसीलिए इक्का-दुक्का बिरले अपवादों को छोड़कर भारतवासियों और विशेषतया अङ्गरेजी काल के सरकारी विश्वविद्यालयों के भारतीय प्रोफ़ेसरों के लिखे इतिहास इस विषय में और भी अधिक दूषित और लज्जा के पात्र दृष्टि,गोचर होते हैं।

ऊपर लिखे गये विचारो के समर्थन में हम केवल थोड़े-से यूरोपीय विद्वानों की सम्मति नकल करते हैं। प्रसिद्ध फ्रान्सीसी विद्वान हर्वे लिखता है—"सब तरह के साहित्य में अभी तक इतिहास ही मनुष्य को सब से अधिक दुराचार की ओर ले जाने वाला और उसके चरित्र को सर्वापेक्षा अधिक भ्रष्ट करने वाला साहित्य रहा है। जब कभी जातियों के नाम पर धन-लोलुपता और रक्त-पिपासा को शान्त किया जाता है, तब इतिहास तुरन्त इस तरह की लोलुपता और सार्वजनिक हत्या को प्रशंसनीय कार्य कहने लगता है। इतिहास के पृष्ठों में छल और कपट को कुशल राजनैतिकता का प्रमाण माना जाता है। जो वस्तु साधारण मनुष्यों में पाप के नाम से प्रसिद्ध है वही राज-दर्बारों में और सिंहासनों पर प्रशंसनीय कही जाती है।"

प्रसिद्ध इतिहास लेखक लैकी लिखता है—"राजनीतिज्ञों का उद्देश्य सर्वदा अपना काम निकालना रहता है। * * *

सत्य से निस्वार्थ प्रेम और प्रबल राजनैतिक भावना—ये दोनों साथ-साथ नहीं

चल सकतीं। उन समस्त देशों में, जहाँ कि मनुष्यों के विचार और उनके सोचने के ढंग अधिकतर राजनैतिक जीवन के आधार पर बने हों, हमें ऐसा दिखाई देता है कि मनुष्य अपनी स्वार्थ-सिद्धि को ही सत्य की कसौटी बना बैठते हैं।"

प्रसिद्ध अंग्रेज तत्व-वेत्ता हरबर्ट स्पेन्सर ने एक स्थान पर लिखा है कि फ्रान्स का एक बादशाह यदि इतिहास की कोई पुस्तक पढ़ना चाहता था तो अपने पुस्तकाध्यक्ष (लायब्रेरियन) से कहता था—"मेरे झूठ बोलने वाले को ले आओ।" स्पेन्सर लिखता है कि फ्रान्सीसी बादशाह का यह कथन अनुचित न था। इसके बाद आधुनिक इतिहासों की चर्चा करते हुए स्पेन्सर लिखता है—"राजाओं के शासन-कालों, लड़ाइयों और इस प्रकार की साधारण घटनाओं के अतिरिक्त जो आजकल की समस्त जातियों के इतिहास में मिलती हैं, हमें केवल उन सन्धियों के जो तोड़ने के ही उद्देश्य से की जाती हैं, उन सरकारी पत्रों के जो बेईमान और झूठे अफ़सरों के हाथ के लिखे होते हैं, उन गप्पों से भरे हुए पत्रों के जो दर्बारियों के द्वारा भेजे जाते हैं और इसी प्रकार की और सामग्रियों के, कोई ऐसी बात नहीं मिलती जिस पर हम इस प्रकार की सामग्री से कोई भी सत्य का खोजी किस प्रकार सत्य का पता लगा सकता है ? * * *"

अंग्रेजी शासन-काल का भारतीय इतिहास अधिकतर ईस्टइण्डिया कम्पनी की रिपोर्टों और काग़ज़ों से ही संग्रह किया गया है किन्तु कम्पनी के समस्त प्रकाशित पत्रों के विषय में अंग्रेज़ इतिहास लेखक जेम्समिल जो इङ्गलिस्तान में कम्पनी के 'पत्र व्यवहार विभाग' का प्रधान रह चुका था और जिसका लिखा हुआ ब्रिटिश भारत का इतिहास सब से अधिक प्रमाण माना जाता है, लिखता है—"कम्पनी के डायरेक्टरों ने इस प्रकार की बातों और समाचारों को दबा देने में, जिन्हें वे प्रकाशित करना न चाहते थे, आरम्भ से लेकर अन्त तक बड़ी चतुरता दिखाई है।"

कप्तान कनिङ्घम की प्रसिद्ध पुस्तक "सिखों का इतिहास" सन् १८५३ ई० वाले संस्करण के विज्ञापन में पीटर कनिङ्घम लिखता है—"इस समय के भारतीय इतिहास के लिए जो छपी हुई सामग्री मिलती है वह ऐसी नहीं है जिस पर कोई इतिहास-लेखक विश्वास कर सके। पार्लियामेण्ट के दोनों हिस्सों, हाउस आफ़ कामन्स और हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स से जो सरकारी काग़ज़-पत्र जनता के सामने रखे जाते हैं, उनमें भी उस समय की राजनैतिक दल-बन्दी के हितों की दृष्टि से परिवर्तन

कर दिये गये हैं, या इस भ्रम-पूर्ण विचार से कि सत्य घटना के प्रकाशित हो जाने से लोगों के भावों में आघात न पहुँचे, काट-छाँट कर दी गई है।"

इतिहास-लेखक सर जॉन के, जो इङ्गलिस्तान के इण्डिया आफ़िस के "राजनैतिक और गुप्तविभाग" का सेक्रेटरी रह चुका था, अफ़ग़ान-युद्ध की चर्चा करते हुए एक स्थान पर लिखता है—"पार्लियामेण्ट के सरकारी काग़ज़ों के संग्रह में अलेक्ज़ेण्डर बर्न्स के चरित्र और उसकी जीवनी दोनों को ही बनावटी ढंग से बयान किया गया है। लोग समझते हैं कि ये पार्लिमेण्ट के काग़ज़ इतिहास के लिए सबसे अच्छी सामग्री हैं। किन्तु सत्य तो यह है कि साधारणतया ये सरकारी काग़ज़-पत्र केवल काट-छाँट की हुई दस्तावेज़ों और जाली काग़ज़ों का एक ऐसा पक्षपातपूर्ण संग्रह होते हैं जिसे राजमंत्रियों की मोहर सच्चा कहकर चलता कर देती है, जिससे वर्तमान पीढ़ी के लोग धोखे में आ जाते हैं और भविष्य की पीढ़ियों को भयानक झूठों की एक क्रमवार शृंखला वसीयत में मिलती है।"

इतिहास-लेखक फ्रीमैन यह स्वीकार करता है कि सरकारी घोषणाओं, पत्रों और राजनैतिक दस्तावेज़ों का सारा क्षेत्र "झूठ का मनोवांछित क्षेत्र है।" वह लिखता है—"फिर भी ये झूठ शिक्षाप्रद झूठ हैं। ये उन लोगों के कहे हुए झूठ हैं, जो सच्चाई के महत्त्व को भी जानते थे। कई प्रकार के उपायों से झूठ के भीतर से भी सच्चाई का पता लगाया जा सकता है, किन्तु किसी झूठ पर विश्वास कर लेना उससे सच्चाई का पता लगाने का नियम नहीं है। वास्तव में वह मनुष्य बालक के ही समान ही भोला है जो प्रत्येक शाही ऐलान (घोषणा) पर अथवा पार्लियामेण्ट के प्रत्येक एक्ट की भूमिका पर विश्वास कर ले और उनसे यह अनुमान लगाने लगे कि अमुक-अमुक बड़े लोगों ने क्या क्या किया और उसके करने में उनका क्या उद्देश्य था।"

सिन्ध के अंग्रेज़ विजेता सर चार्ल्स नेपियर के भाई मेजर जनरल विलियम नेपियर की पुस्तक की गणना सिन्ध के ऊपर सबसे अधिक प्रामाणिक अंग्रेज़ी पुस्तकों में की जाती है। अंग्रेज़ों की सिन्ध-विजय को मनुष्य-जाति के ऊपर एक बहुत बड़ा उपकार सिद्ध करने के लिए विलियम नेपियर ने सिन्ध-निवासियों और उनके मुसलमान शासकों के चरित्र पर जो अनेक कलङ्क लगाये हैं, उनमें से एक कलङ्क शिशु-हत्या भी है। नेपियर लिखता है—"और ये राक्षस स्वयं अपने बच्चों की किस प्रकार हत्या

करते थे ? पहिले तो ये भ्रूण-हत्या के लिए दवाइयाँ पिलाते थे। यदि इससे काम न चलता था तो कभी-कभी ये बच्चों के पैदा होते ही अपने हाथों से काटकर उनके टुकड़े-टुकड़े कर डालते थे, किन्तु अधिकतर ये यह करते थे कि इन बच्चों को गद्दों केनीचे डालकर उन पर स्वयं बैठ जाते थे और जब कि इनके बच्चों का इनके नीचे घुटकर दम निकलता था, ये उनके ऊपर बैठे हुए तम्बाकू पीते रहते थे शराब पीते रहते थे और अपने इस नारकीय कृत्य पर एक दूसरे से हँसी करते रहते थे।"

कप्तान ईस्टविक इस लज्जाजनक भूठ की आलोचना करते हुए एक दूसरे यूरोपियन विद्वान् ग्रैटन का नीचे लिखा वाक्य उद्धृत करता है—"इतिहास में अनेक बातें इस प्रकार की लिखी मिलती हैं जिनको सत्य प्रमाणित करने अथवा जिनका खण्डन करने का कोई विशेष मूल नहीं है। सदाचार की इस प्रकार की ऊँची मिसालें इतिहास में मिलती हैं, जिन्हें यदि एक बार लोगों ने सत्य मान लिया है तो उनसे संसार का भला ही हुआ है। किन्तु जब किसी व्यक्ति का या जाति के चरित्र पर कलंक लगाये जाते हैं और जब हम यह देखते हैं कि कितनी सरलता से उन भूठे कलंकों का प्रचार किया जाता है, कितने चाव के साथ लोग उन्हें पढ़ते और सुनते हैं, और जिन बातों को गढ़ लेने अथवा फैलाने में कुछ भी व्यय नहीं होता, किन्तु जिनका पूर्ण रूप से खण्डन करने में जीवन भर परिश्रम और इस प्रकार के वातावरण की आवश्यकता होती है, जिसका मिलना एक प्रकार असम्भव ही हो जाता है, उन बातों पर लोग सहज ही में और असावधानी के साथ विश्वास कर लेते हैं। जब हम यह सब देखते हैं तो प्रत्येक सच्चे लेखक अथवा पाठक का इस प्रकार के 'इतिहास की सत्यता पर सन्देह, करना स्वाभाविक है।"

जिस समय सिन्ध पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अधिकार हुआ उस समय सिन्ध के अमीरों और सिन्ध की प्रजा, दोनों का ही सार्वजनिक और व्यक्तिगत चरित्र नेपियर और उनके देश-वासियों के चरित्र की अपेक्षा कहीं अधिक पवित्र और ऊँचा था नेपियर ने अपनी पुस्तक में जिस प्रकार सिन्ध-निवासियों के चरित्र पर निराधार भूठे कलंक लगाये है उसी प्रकार सिन्ध के अमीरों को भी बदनाम करने का अथक परिश्रम किया है। जिन अमीरों ने कभी जीवन भर किसी मादक द्रव्य को अपने समीप नहीं आने दिया, जो तम्बाकू के धूएँ तक से बचते थे और

जो स्त्री-जाति के सतीत्व की रक्षा का बड़ा ध्यान रखते थे, उनको नेपियर ने शराबी और कुचरित्र कहा है। स्वयं अङ्गरेज़ गवाहों के अनुसार ही नेपियर का यह वर्णन सर्वथा कल्पित, झूठा और निराधार है।

ठीक इसी प्रकार बङ्गाल के नवाब सिराजुद्दौला को भी बदनाम करने के लिए प्रयत्न किया गया है। जिस सिराजुद्दौला ने अपने नाना अलीवर्दीखां की अन्तिम आज्ञा के अनुसार तख़्त पर बैठने के दिन से मरने की अन्तिम घड़ी तक कभी मदिरा को स्पर्श तक न किया था और जिसके व्यक्तिगत चरित्र में कोई ऐसा दोष न था, जो उस समय के निन्यानवे प्रतिशत भारतीय नरेशों अथवा अङ्गरेज़ शासकों में न पाया जाता हो, उसे अङ्गरेज़ी पुस्तकों में प्रथम श्रेणी का दुराचारी लिखा गया है। यही अन्याय मीरक़ासिम, हैदरअली, टीपू सुलतान, नन्दकुमार, लक्ष्मीबाई इत्यादि अन्य भारतीय वीरों और वीरांगनाओं के चरित्र के साथ किया गया है।

इतिहास-लेखक सरजॉन के स्पष्ट लिखता है—"* * * हम लोगों में यह एक नियम है कि पहले किसी देशी नरेश का राज्य उससे छीन लेते हैं और फिर पद च्युत नरेश पर अथवा उस मनुष्य पर, जो उसका उत्तराधिकारी बनने वाला था, झूठे कलंक लगाकर उन्हें बदनाम करते हैं।"

जिस प्रकार व्यक्तियों के चरित्र के साथ अन्याय किया गया है। उसी प्रकार घटनाओं के साथ, यहाँ तक कि अनेक पुस्तकों में भारतीय नरेशों के चित्रों के साथ किया गया है। जिस हैदरअली ने होश सँभालने के बाद से कभी डाढ़ी या मूँछ नहीं रखी उसका डाढ़ी और मूँछों वाला चित्र अनेक अङ्गरेज़ी इतिहासों में मिलता है। केसल की 'हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' में, जो अधिक प्रामाणित मानी जाती है, उसमें सम्राट् बहादुरशाह का एक चित्र है, जिसके पैरों में राजपूती जूता डाढ़ी चढ़ी हुई और धोती मारवाड़ के ढंग पर बँधी हुई है।

सत्य बात तो यह है कि जो पुस्तकें भारत के इतिहास पर स्कूलों और कॉलिजों में पढ़ाई गई हैं उनमें तारीख़ों, राजाओं के नामों अथवा अत्यन्त प्रसिद्ध घटनाओं को छोड़कर शेष बातों में कम-से-कम नब्बे प्रतिशत का मूल्य एक साधारण उपन्यास से अधिक नहीं है और वह भी अत्यन्त भयानक उपन्यास जिसका प्रभाव राष्ट्र के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए मस्तिष्क पर अत्यन्त विषैला पड़ता है।

इसीलिए स्वाधीन भारत के निवासियों को सावधान होकर इतिहास का अध्ययन करना चाहिए।

इसमें सन्देह नहीं कि कुछ भारतीय विद्वानों के लिखे हुए अङ्गरेज़ी समय के ऐतिहासिक वृत्तान्त एक अंश तक अधिक सच्चे और विस्वास के योग्य हैं किन्तु बड़े खेद के साथ लिखना पड़ रहा है कि इस प्रकार के वृत्तान्त हैं ही बहुत कम और फुटकर पड़े हुए हैं, पुनः इनके सम्बन्ध में हमें एक और गहरी कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

"सीअरुल मुताखरीन,, फ़ारसी का एक ग्रन्थ है। यह भारतीय मुग़ल साम्राज्य के अन्तिम दिनों का उत्तम और विश्वासनीय इतिहास माना जाता है, फिर भी इस ग्रन्थ का विद्वान् लेखक सैयद गुलाम हुसेन अपने ग्रन्थ में स्पष्ट स्वीकार करता है कि सम्राट् शाहआलम और अङ्गरेजों के संग्रामों के दिनों में उसे लोभ देकर अङ्गरेजों ने अपनी ओर मिला लिया था। इसलिए कहना पड़ता है कि उस समय का उसका समस्त वृत्तान्त अङ्गरेजों के एक धन-क्रीत लेखक का लिखा वृत्तान्त है।

इसी प्रकार और भी अनेक भारतीय तथा अन्य लेखकों को फ़ारसी अथवा दूसरी भाषाओं में झूठे ऐतिहासिक वृत्तान्त लिखने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से समय-समय धन मिलता रहाहै। लॉर्ड विलियम बेंटिक ने ऐवे दुबॉय का प्रसिद्ध फ्रान्सीसी ग्रन्थ, जिसमें हिन्दुओं के उस समय के रहन-सहन इत्यादि का वर्णन है, आठ हजार रुपये देकर दुबॉय से ख़रीदा और कम्पनी की ओर से उसे अङ्गरेज़ी में प्रकाशित कराया तथा अन्त में कम्पनी ने उ के लिए दुबॉय को जीवन भर पेन्शन दी।

हैदरअली की एक फ़ारसी जीवनी लिखने के लिए मिर्जा इक़बाल को कम्पनी की ओर से रुपये दिये गये। हैदरअली की यह जीवनी आरम्भ से लेकर अन्त तक झूठे कलंकों और पक्षपात से पूर्ण है। कर्नल माइल्स ने हैदरअली की एक जीवनी अङ्गरेज़ी में लिखी है, जिसके सम्बन्ध में कर्नल माइल्स का कथन है कि वह पुस्तक मीर हुसेनअलीखाँ किरमानी की फ़ारसी पुस्तक 'निशानेहैदरी, का अनुवाद है और 'निशानेहैदरी, का मूल फारसी मसविदा मलका विक्टोरिया की निजी पुस्तकालय में मौजूद था। इस स्थल पर कहना पड़ता है कि उसका वह कथन भी सर्वथा असत्य था।

इस प्रकार के झूठे और कल्पित इतिहास का परिणाम हमारे राष्ट्रीय जीवन के लिए और विशेतया हमारे शिक्षित देश वासियों की मानसिक उन्नति के लिए बाधक सिद्ध हो रहा है। इसके अतिरिक्त अनेक भयानक ऐतिहासिक भ्रान्तियों और झूठों का स्कूली पाठ्य पुस्तकों और अन्य उपायों द्वारा इतना अधिक प्रचार किया गया है कि आज हमारे असंख्य विचारवान् देशवासी इन ऐतिहासिक भूल-भुलइयों में पड़कर अपनी सुरक्षा के उपायों को सोच सकने में असमर्थ हो रहे हैं।

कहा गया है कि अनादिकाल से भारत पर पश्चिमोत्तर सीमा की ओर से विदेशियों के आक्रमण होते रहे हैं और भारत कभी इन आक्रमणों से अपनी रक्षा नहीं कर सका और एक दूसरे के बाद लगातार भिन्न-भिन्न विदेशी शासनों का शिकार होता रहा है। साथ-ही-साथ यह भी विशेष रूप से कहा गया है कि इस प्रकार के विदेशी आक्रमणों में भारत के ऊपर सबसे अधिक भयानक आक्रमण मुसलमानों का था। भारत पर आक्रमण करने वाले मुसलमान असभ्य, धर्मान्ध और अन्यायी थे, जिन्होंने अङ्गरेजों के आने से पहले लगभग एक हजार वर्ष तक भारतवर्ष को अपने अत्याचारों से कुचले रखा। प्राचीन हिन्दू धम और हिन्दू संस्कृति का सत्यानाश कर डाला तथा हमारे करोड़ों देशवासियों को तलवार के बल से धर्म-भ्रष्ट कर मुसलमान बना लिया।

हमसे यह भी कहा गया है कि भारत के इन मुसलमान शासकों में भोग-विलास, लूट-मार और धर्मान्धता को छोड़कर और कोई विशेषता न थी। यहाँ तक कि बड़े-से-बड़े या अच्छे-से-अच्छे मुग़ल बादशाहों को हिन्दुओं और भारत के लिए अधिक-से-अधिक 'मीठी छुरी, कहकर उनका वर्णन किया गया है। हमें विश्वास दिलाया गया कि मुसलमानों ने कोई भी उपकार भारत पर नहीं किया, उनके शासन में कोई भी बात प्रशंसनीय नहीं थी, उन्होंने भारत के राष्ट्रीय जीवन को प्रत्येक प्रकार से हानि पहुँचाई।

जो इतिहास स्कूलों में पढ़ाये गये हैं, उनमें दिखाया गया है कि अंग्रेजों के आने से पहले भारत में चारों ओर कुशासन और अराजकता फैली हुई थी और आये दिन परस्पर लड़ाइयाँ होती रहती थीं। उस समय अंग्रेज़ भारतवासियों से कहीं अधिक सभ्य थे, इसीलिए उन्होंने भारत में आकर शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित की तथा देश को सभ्यता की ओर ले जाना आरम्भ किया। इन्हीं समस्त

बातों के आधार पर और उस समय की अंग्रेजी सत्ता के सच्चे रूप को हमसे छिपा कर हमें यह विश्वास दिलाया गया—"अंग्रेजों का भारतीय शासन भारतवासियों के लिए एक बहुत बड़े सौभाग्य का विषय है और हमारी समस्त भावी उन्नति तथा देश की शान्ति अंग्रेजी-शासन के इस देश में बने रहने पर निर्भर है।"

३—भारतीय संस्कृति से इङ्गलिस्तान का संघर्ष

यह नित्य स्मरण रखना होगा कि भारत और इङ्गलिस्तान का सम्पर्क दो भिन्न-भिन्न सभ्यताओं तथा भिन्न-भिन्न आदर्शों का एक दूसरे से टकराना था। इसीलिए अन्य बातों से पहिले हम उस समय के इङ्गलिस्तान की दशा का, जिस समय कि भारत और इङ्गलिस्तान का सर्वप्रथम सम्पर्क हुआ, संक्षेप में वर्णन कर देना चहते हैं। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के इगलिस्तान का वर्णन करते हुए प्रसिद्ध इतिहासज्ञ ड्रेपर लिखता है—

"किसानों की झोंपड़ियाँ नरसलों और छड़ियों की बनी हुई होती थीं जिनके ऊपर गारा फेर दिया जाता था। घर में आग घास जलाकर तैयार की जाती थी और धुएँ के निकलने के लिए कोई जगह न होती थी। जिस प्रकार का सामान उस समय के एक अंग्रेज किसान के घर में होता था और जिस ढंग से वह जीवन-निर्वाह करता था, उससे ज्ञात होता था कि गाँव के समीप नदी के किनारे जो ऊदबिलाव परिश्रम करके माँद बनाकर रहता था, उस ऊदबिलाव की दशा में और उस किसान की दशा में अधिक अन्तर न था। सड़कों पर डाकू घूमते-फिरते थे। नदियों पर समुद्री लुटेरे और लोगों के कपड़ों तथा बिछौनों में जुएँ रहा करते थे। साधारणतया मटर, उड़द, जड़ें और वृक्षों की छालें ही लोगों की खुराक होती थीं। कोई ऐसा धन्धा न था, न कोई व्यापार ही था जिससे वृष्टि न होने पर किसान दुष्काल से बच सकें। ऋतुओं की कठिनाई से बचने का मनुष्यों के पास कोई साधन न था। जन-संख्या बहुत कम थी और महामारी तथा अन्न के अभाव से दिन-प्रतिदिन घटती रहती थी। शहर के निवासियों की दशा भी गाँव के लोगों से कुछ भी अच्छी न थी। शहर के निवासियों का बिछौना भुस का एक थैला होता था और तकिये के स्थान पर लकड़ी का एक गोला टुकड़ा रहता था। शहर के निवासियों में से जो पैसे वाले होते थे वे चमड़े के कपड़े पहनते थे और जो गरीब होते थे वे अपने हाथों और पैरों पर पवाल की पूलियां लपेटकर अपने को ठंडक

से बचाते थे। * * * जिन शहरों में शीशे की अथवा तैल-पत्र की कोई खिड़की तक न होती थी, वहाँ किसी प्रकार के कारीगर के लिए कहाँ स्थान था ? कहीं कोई कारखाना न था, जिसमें कोई कारीगर आराम से बैठ सके। गरीबी के लिए कोई वैद्य न था। सफ़ाई का कहीं कोई प्रबन्ध था ही नहीं।"

आगे चलकर उस समय के यूरोप का सदाचार का वर्णन करते हुये ड्रेपर लिखता है—"जिस तेज़ी के साथ गर्मी की बीमारी उस सनय समस्त यूरोप में फैली उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लोगों में दुराचार कितने भयंकर रूप में फैला हुआ था। यदि हम उस समय के लेखकों पर विश्वास करें तो विवाहित अथवा अविवाहित, ईसाई पादरी अथवा साधारण गृहस्थ, पोपालियों दसवें से लेकर गली के भिखमंगे तक—कोई भी वर्ग ऐसा न था जो इस बीमारी से बचा रहा हो। * * * इंगलिस्तान की जन-संख्या पचास लाख से भी कम न थी। * * * किसान अपनी ज़मीन का मालिक न होता था। ज़मीन ज़मींदार की होती थी और किसान केवल उसका मज़दूर तथा चौकीदार होता था। ऐसी दशा में दूसरे देशों के व्यापार ने समाज में हलचल मचानी आरम्भ की। लोग इधर से उधर आने जाने लगे। दूसरे देशों से व्यापार करने के लिए कम्पनियाँ बनाई गईं। ये उड़ती-बातें अथवा खबरें सुनकर कि दूसरे देशो में जाकर बात की बात में अधिक धन कमाया जा सकता है, लोगों के विचार फिरने लगे। ** * समस्त अंग्रेज जाति इतनी अपढ़ थी कि पार्लिमेराट के अनेक हाउस ऑफ़ लार्ड्स के मेम्बर तक न लिख सकते थे और न पढ़ सकते थे। * * * ईसाई पादरियों में भयानक दुराचार फैला हुआ था। खुले तौर पर कहा जाता था कि इङ्गलिस्तान में एक लाख औरतें ऐसी हैं, जिन्हें पादरियों ने नष्ट कर डाला है। * * * कोई पादरी यदि बुरे से बुरा भी अपराध करता था तो उसे केवल थोड़ा,सा जुर्माना देना पड़ता था। नर-हत्या के लिए पादरियों को केवल छः शिलिंग आठ पेन्स (लगभग पाँच रुपये) जुर्माना देना पड़ता था। * * * सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में लन्दन का शहर गन्दा था, मकान भद्दे बने हुए थे और सफ़ाई का कोई प्रबन्ध न था। * * * जंगली ज.नवर सभी स्थानों में घूमते रहते थे। * * * वर्षा-काल में सड़कें इतनी भ्रष्ट हो जाती थीं कि उन पर से चलना कठिन था। * * * देहात में प्रायः जब लोग रास्ता भूल जाते थे तब उन्हें रात-भर बाहर ठण्डी हवा में रहना पड़ता था। मुख्य-मुख्य नगरों के बीच में कहीं-

कहीं सड़कों का पता न होता था, जिसके कारण पहिए वाली गाड़ियों का चल सकना इतना कठिन था कि लोग अधिकतर लद्दू टट्टुओं के पालनों में दाएँ और बाएँ असबाव के साथ-साथ और असबाब के ही समान लदकर एक स्थान से दूसरे स्थान को आते-जाते थे। * * * सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में जाकर तेज़ से तेज़ गाड़ी दिन भर में तीस मील से पचास मील तक चल सकती थी और वह 'उड़ने वाली गाड़ी' कहलाती थी। * * टाइन नदी के स्रोत पर जो लोग रहते थे वे अमरीका के आदिम निवासियों से कम जंगली न थे। उनकी स्त्रियाँ आधी नंगी जंगली गाने गाती फिरती थीं और पुरुष अपनी कटार घुमाते हुए लड़ाइयों के नाच नाचते थे। * * * जब कि पुरुषों की ही यह दशा थी कि उनमें से बहुत थोड़े ठीक-ठीक लिखना जानते थे तब यह सोचा जा सकता है कि स्त्रियाँ कितनी अपढ़ रही होंगी। समाज की व्यवस्था में जिसे हम सदाचार कहते हैं, उसका कहीं पता तक न था। * * * पति अपनी पत्नी को कोड़ों से पीटता था। * * * अपराधियों को टिकटिकी से बाँधकर पत्थर मार मारकर मार डाला जाता था। स्त्रियों की टाँगों को बीच बाज़ार में शिकंजों में कसकर छोड़ दिया जाता था। * * * लोगों का हृदय अत्यन्त कठोर हो गया था। * * * गाँव के लोगों के मकान झोंपड़े होते थे जिन पर फूस छाया होता था। * * * लन्दन में मकान अधिकतर लकड़ी और प्लास्टर के होते थे। गलियाँ इतनी गन्दी होती थीं कि वर्णन नहीं किया जा सकता। सन्ध्या होते ही डर के मारे कोई अपने घर से नहीं निकलता था, क्योंकि जो चाहे अपने ऊपर के कमरे से खिड़की खोलकर बेखटके गन्दा पानी नीचे फेंक देता था। * * * लन्दन की गलियों में लालटेनों का कहीं निशान था। उच्च श्रेणी के लोगों में सदाचार की प्रायः यह दशा थी कि उनमें यदि कोई भी मनुष्य मरता था तो लोग यही समझते थे कि किसी ने विष देकर मार डाला। * * * समस्त देश पर दुराचार की एक बाढ़ आई हुई थी।"

विचार-स्वातंत्र्य के विषय में ड्रेपर लिखता है—"ऑक्सफ़ोर्ड की विद्या-पीठ ने यह आदेश दे दिया था कि बकेनन, मिल्टन और बेक्सटर की राजनैतिक पुस्तकें स्कूलों के आँगनों में खुले जला दी जाँय। * * * राजनैतिक अथवा धार्मिक अपराधों के बदले में जिस प्रकार की कठोर सजाएँ दी जाती थीं उन पर विश्वास होना कठिन है। लन्दन में टेम्स नदी के पुराने पुल पर इस प्रकार के अपरा-

धियों के भयावने मस्तक काटकर लटका दिए जाते थे, इसलिये कि उस भयानक दृश्य को देखकर जन साधारण क़ानून के विरुद्ध होजाने से रुके रहें। उस समय की उदारता का अनुमान उस एक क़ानून से ही किया जा सकता है, जो ८ मई सन् १६८५ को स्कॉटलैण्ड की पार्लिमेण्ट ने पास किया। कानून यह था कि जो कोई मनुष्य सिवाय बादशाह की सम्प्रदाय के दूसरे किसी ईसाई सम्प्रदाय के गिरजे में जाकर उपदेश देगा अथवा उपदेश सुनेगा, उसे मृत्यु का दण्ड दिया जायगा और उसका माल असबाब ज़ब्त कर लिया जायगा। आवश्यकता से अधिक प्रमाण हमारे पास हैं कि इस प्रकार के निन्दनीय भाव केवल क़ानूनों के अक्षरों में ही बन्द न रह जाते थे। * * * स्काटलैण्ड में कवेनेण्टर (एक ईसाई सम्प्रदाय) लोगों के घुटनों को शिकंजों के अन्दर कुचल कर तोड़ दिया जाता था और वे कष्ट से पड़े चिल्लाते रहते थे। स्त्रियों को लकड़ियों से बाँधकर समुद्र के किनारे बालू पर छोड़ दिया जाता था और धीरे-धीरे बढ़ती हुई लहरें उन्हें बहा ले जाती थीं, केवल इस अपराध में कि वे सरकार के बताये हुए गिरजे में जाना अस्वीकार करती थीं अथवा उनके गालों को दागकर उन्हें जहाजों में बन्द करके बलपूर्वक गुलाम बनाकर अमरीका भेज दिया जाता था। * * * राजवंश की स्त्रियाँ यहाँ तक कि स्वयं इंगलिस्तान की मलका तक स्त्रियोचित दया-भाव और साधारण मनुष्यत्व तक को भूलकर गुलामों के इस क्रय-विक्रय के नारकीय व्यापार में भाग लेती थीं। * * *।"

इस प्रसंग में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यह वह समय था, जब कि भारतवर्ष में कबीर और दादू के उदार धार्मिक विचार, अकबर का विश्वप्रेम, जहाँगीर का न्याय-शासन, शाहजहाँ के समय की सम्पत्ति और आश्चर्य उत्पन्न करने वाले कला-कौशल संसार भर के यात्रियों को चकाचौंध कर रहे थे, जब कि भारत में अनेक नगर सुन्दर-से-सुन्दर भवनों से सुसज्जित और अत्यन्त घने बसे हुए थे, जब कि दिल्ली और आगरे के क़िले और ताजमहल जैसी इमारतें बन चुकी थीं और जब कि औरङ्गजेब तक के शासन-समय में देश के पूर्व से पश्चिम और दक्षिण से उत्तर तक प्रजा में चारों ओर अलौकिक सुख-समृद्धि और सुव्य-वस्था दिखाई देती थी। धर्म के नाम पर इंगलिस्तान के अन्दर जिन भयानक अत्याचारों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है उनके सामने औरङ्गजेब की धार्मिक

संकीर्णता भी उदारता ही थी। यही दशा उस समय शेष अधिकाँश यूरोप की थी। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इंगलिस्तान की यह दशा १८वीं शताब्दी के आरम्भ तक नही रही। प्रसंगवश हम यह भी बता चुके हैं! कि किस प्रकर भारतवर्ष जैसे देशों के धन की चर्चा भूखे और अर्धसभ्य अङ्गरेजों को यहाँ तक खींचकर ले आई और किस प्रकार ईस्ट इण्डिया कम्पनी जैसी कम्पनियाँ बनीं। सच बात तो यह है कि इङ्गलिस्तान के पिछले इतिहास में कभी कोई इस प्रकार की सभ्यता का समय नहीं बीता था जिस प्रकार की सभ्यता भारत में हजारों वर्ष पहले से चली आती थी।

४--ब्रिटिश शासनकालीन भारत की दुरवस्था

ऐतिहासिक काल में सबसे पहले हज़रत ईसा के जन्म के आस-पास ईरान के प्रसिद्ध मित्री सम्प्रदाय के प्रचारकों ने इंगलिस्तान में पहुंच कर वहाँ के अर्द्ध सभ्य निवासियों क सभ्य बनाने और उसमें पाप-पुण्य अथवा धर्म-अधर्म के विचाराँ उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। एकबार मित्री सम्प्रदाय का जिसने रोमन लोगों में सबसे पहले पाप-पुण्य के विचार उत्पन्न किये इंगलिस्तान भर में बड़ा प्रभाव रहा। इंगलिस्तान के अनेक भागों में वैदिक देवता मित्र के मन्दिर स्थापित किये गये, जिनके टूटे हुए अवशेष अभी तक अजायबघरों में रखे हुए हैं। किन्तु आने-जाने की असुविधाओं और इंगलिस्तान की बहुत अधिक असभ्य अवस्था के कारण यह प्रभाव विलम्ब तक स्थिर न रह सका।

मित्री-सम्प्रदाय वालों के बाद से रोमन लोगों ने इंगलिस्तान के निवासियों को सभ्य बनाने का प्रयत्न किया। चार सौ वर्ष तक इंगलिस्तान पर रोम वालों का शासन रहा किन्तु इंगलिस्तान रोमन-साम्राज्य के बिल्कुल एक दूसरे के किनारे पर पड़ता था और इन चारसौ वर्ष के भीतर सबसे बड़ा उपयोग जो रोम के शासकों ने इंगलिस्तान का किया अथवा जो वे कर सके, वह यही था कि इंगलिस्तान से असंख्य युवक-युवतियों को प्रत्येक वर्ष पकड़-पकड़ कर अपने साम्राज्य के दूसरे भागों में ले जाकर ग़ुलाम बनाकर बेचते रहे। एक समय था जब कि रोमन-साम्राज्य भर में किसी देश के ग़ुलामों की इतनी माँग न थी जितनी ब्रिटिश ग़ुलामों की।

संस्कृति अथवा सभ्यता की तीसरी लहर जो ऐतिहासिक समय के भीतर

इंगलिस्तान के किनारों से जाकर टकराई वह ईसवी सन् की शताब्दी में इंगलिस्तान के निवासियों का ईसाई धर्म स्वीकार करना था। किन्तु ईसाई धर्म से भी अपनी गिरी हुई दशा के कारण इंगलिस्तान ने भद्दे-भद्दे अन्ध विश्वासों, प्रतिमा-पूजन, साम्प्रदायिक पक्षपत और कलह को छोड़कर उस समय और कुछ भी नहीं सीखा।

कुछ दिन बीत जाने पर यूरोप में अरबों का समय आया। आधे यूरोप के ऊपर अरबों का साम्राज्य स्थापित हो गया। सभ्यता, विज्ञान, शिक्षा, कला-कौशल और समृद्धि की दृष्टि से यूरोप ने कभी उससे पहले इतने अच्छे दिन नहीं देखे थे। इंगलिस्तान कई कारणों से इस अरब-साम्रज्य से बाहर रहा किन्तु यूरोप के बड़े-से-बड़े विद्यालय अरब प्रोफ़ेसरों से भरे हुए थे और अरबी ही समस्त यूरोप की सर्वोच्च शिक्षा का माध्यम थी। ईसवी सन् दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी में इंगलिस्स्तान का कोई मनुष्य उस समय तक शिक्षित न माना जा सकता था जब तक कि वह अरबी भाषा से भली भाँति परिचित न हो। किन्तु थोड़े ही समय के भीतर यूरोप की संकीर्ण धार्मिक प्रवृत्तियों ने अरबों के इस प्रभाव का भी अन्त कर दिया। इसके बाद जो लगभग एक हज़ार वर्ष का समस्त यूरोप में अंधकार-युग के नाम से प्रसिद्धि है उसमें कम-से-कम पाँच सौ वर्ष तक इंगलिस्तान दूसरे देशों से भी अधिक गहरे अंधकार में डूबा रहा। तात्पर्य यह है कि पाप-पुण्य अथवा धर्म-अधर्म के इस प्रकार के नैतिक आदर्श जो प्राचीन वैदिक मत, बौद्ध मत, जैन मत इत्यादि के कारण भारत में हज़ारों वर्ष से स्थिर हो चुके थे और जो प्रत्येक भारतवासी की पैतृक मानसिक सम्पत्ति थे, उस समय तक कभी भी इंगलिस्तान में स्थिर होने न पाये थे।

इतना ही नहीं, ईसवी सन् की अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक इङ्गलिस्तान के अधिकाँश निवासी भयानक दरिद्रता में ही डूबे हुए थे। थोड़े से रईसों और जमीदारों को छोड़ कर नब्बे प्रतिशत इङ्गलिस्तान के निवासियों की दशा अनेक बातों में ज़रूर खरीद गुलामों की दशा से अच्छी न थी। जिस पार्लिमेण्टरी शासन-पद्धति की इतनी अधिक प्रशंसा की गई है उसका जन्म भी इस पारस्परिक कलह और द्वेष में ही हुआ था, जिसके लिए सुसभ्य, सुसंगठित और सम्पत्तिशाली भारत में कभी कोई स्थान ही न था। सुसंगठित ग्राम-पंचायतों के

रूप में ग्राम-निवासियों के सच्चे स्वराज्य अथवा ग्राम-तंत्र का इङ्गलिस्तान के निवासियों को कभी अनुमान तक न हो सकता था। न राजा और प्रजा के बीच वह सुन्दर धार्मिक सम्बन्ध वहाँ कभी स्थिर हो पाया था जो हिन्दुओं और मुसलमानों के शासन-काल में भारत में कम-से-कम दो हजार वर्ष से ऊपर तक स्थिर रहा। सत्य बात तो यह है कि इस प्रकार के नैतिक आदर्श केवल शताब्दियों के ससभ्य जीवन द्वारा ही उत्पन्न हो सकते हैं और इंगलिस्तान निवासियों को इस प्रकार के सुसभ्य जीवन का कभी भी सौभाग्य प्राप्त न हुआ था।

सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में इस प्रकार की एक जाति के साथ भारत-जैसे प्राचीन देश का पहिली बार सम्पर्क हुआ। औरङ्गजेब के समय तक भारत के अन्दर अंग्रेज व्यापारियों की दशा लगभग वैसी ही थी जैसी भारत में हींग बेचने वाले काबुलियों अथवा कागज के खिलौने बेचनेवाले चीनियों की थी। औरंगजेब की अनुदार और अदूरदर्शी नीति ने थोड़े ही समय में चारों ओर छोटी-छोटी और एक दूसरे के प्रति स्पर्धा करने वाली रियासतें पैदा कर दीं। साम्राज्य की केन्द्रीय शक्ति को निर्बल कर दिया और देश के अन्दर हिन्दू और मुसलमानों के परस्पर प्रेम और एकता की उन अलौकिक राष्ट्रीय लहरों को एक समय के लिए पीछे हटा दिया जो कबीर के समय से लेकर लगभग तीन सौ वर्ष के निरन्तर प्रयत्नों से देश को चिरस्थायी सुख और समृद्धि की ओर ले जाती हुई दिखाई दे रही थीं इसीलिए देश के शत्रुओं को अपने प्रयत्नों के लिए खुला मैदान मिल गया। सौ वर्ष के अन्दर अंग्रेज-व्यापारियों की लालसा और आकाँक्षा आवश्यकता से अधिक बढ़ चुकी थी। न्याय-अन्याय अथवा ईमानदारी-बेईमानी का कोई भी प्रश्न उस समय उनकी आँकाक्षाओं और उनकी पूर्ति के उपायों में बाधा डालनेवाला न था। तिजारती कोठियों के बहाने इन लोगों ने किलेबन्दी आरंभ की। उदार भारतीय नरेशों ने इसकी तनिक भी पर्वाह न की। देश में व्यापार करने की उन्हें खुली आज्ञा और अनेक सुविधाएँ दी ही जा चुकी थीं। इससे इन सबों की शक्ति बढ़ती ही गई।

भारतीय व्यापार से उचित और अनुचित उपायों द्वारा उन सबों ने अधिक से अधिक धन कमाना आरंभ कर दिया। धन से सेना रखी गई। सेना की सहायता से उन्होंने मद्रास और बंगाल में भारतीय नरेशों के आपसी झगड़ों में कभी

एक का और कभी दूसरे का पत्र लेना आरंभ किया। इस कूटनीति और इन षड़यंत्रों द्वारा अंग्रेज व्यापारियों का बल और बढ़ता चला गया। दिल्ली-साम्राज्य की निर्बलता के कारण कोई केन्द्रीय शक्ति इस समस्त स्थिति को समझने और उसका उपाय कर सकने वाली शेष न रह गई थी। भारतीय नरेशों को एक दूसरे से लड़ाकर प्रान्त का प्रान्त अंग्रेजों के शासन में कर लिया गया। फिर धीरे-धीरे अंग्रेजों ने भारत में एक इतना बड़ा साम्राज्य स्थापित कर लिया जिससे कि इस देश के समृद्ध और लहलहाते हुए जीवन का अन्त हो गया। इस सम्बन्ध में एक यूरोपियन विद्वान् लिखता है--

"किसी भारतीय सन्त ने अपने देश के अन्दर यूरोप-निवासियों की तुलना दीमकों के साथ की है। आरम्भ में दीमकों की क्रियाएँ या तो अन्धकार में धरती के नीचे से आरम्भ होती हैं या कम से कम दिखाई नहीं देतीं। किन्तु इन दीमकों का लक्ष्य निश्चित होता है और चुपचाप तथा अज्ञात उस लक्ष्य को पूरा करने में लगी रहती हैं। जंगल के हरे-भरे वृक्षों को नष्ट कर डालती हैं और उन्हें भीतर ही भीतर जाकर उनके खोखले तनों में अपने घर बना लेती हैं और उन घरों तक पास की और दूर की कड़ी मिट्टी की बामियों से आने जाने के लिए वे अनेक गुप्त-मार्ग बना लेती हैं। जिस भूमि पर पहिले दूर तक फैले हुए देवदारु के वृक्ष लहलहाते थे उसी भूमि पर बामियाँ ही बामियाँ दिखाई देने लगती हैं। ये दीमकें प्रत्येक वस्तु पर आक्रमण करती हैं, प्रत्येक वस्तु को खा जाती हैं, भीतर ही भीतर जड़ों को खोद डालती हैं, खोखली कर देती हैं और सब वीरान कर डालती हैं। इस उपमा पर हम अधिक गर्व नहीं कर सकते यद्यपि उपमा एक दर्जे तक फबती हुई है। * * * किन्तु कुछ भी हो, इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि भारतवर्ष के साथ हमारे आरम्भ के सम्बन्ध में बहुत सी ऐसी बातें हुई हैं जिनको याद करके कोई भी सदाचार को समझनेवाला मनुष्य काँप उठेगा और कोई भी सच्चा ईसाई जिनका घृणा के साथ निषेध किये बिना नहीं रह सकता।"

एक दूसरा अंग्रेज विद्वान् लिखता है--"कम्पनी ने बंगाल का राज अथवा अर्काट का राज या दूसरे किसी भी प्रान्त का राज और किन उपायों से प्रप्त किया सिवाय झूठी कसमें खाने और जालसाजियाँ करने के?'

विलियम हॉविट नामक एक अंग्रेज लिखता है--"जिस ढंग से ईस्ट इण्डिया

कम्पनी ने भारतवर्ष पर अधिकार किया उससे अधिक वीभत्स और ईसाई सिद्धान्तों के विरुद्ध किसी दूसरे ढंग की कल्पना तक नहीं की जा सकती। * * * यदि कोई कुटिल उपाय हो सकता था–जिसमें नीच-से-नीच अन्याय की चेष्टाओं पर न्याय का उत्तम मुलम्मा फेरने की चेष्टा की गई हो–यदि कोई उपाय अधिक से अधिक निष्ठुर, क्रूर, गर्वयुक्त और दयाशून्य हो सकता था तो वह उपाय है जिसके द्वारा भारतवर्ष की अनेक देशी रियासतों का शासन देशी नरेशों के हाथों-छीन कर ब्रिटिश-सत्ता के चंगुल में इकट्ठा कर दिया गया है। * * * जब कभी हम दूसरी जातियों के सामने अंग्रेज जाति की सच्चाई और ईमानदारी की बात करते हैं तो वे भारत की ओर संकेत करके बड़ी घृणा के साथ हमारा उपहास कर सकती हैं। * * * जिस नीति पर चल कर निरन्तर सौ वर्ष से ऊपर तक, देशी नरेशों से उनके राज्य छीने जाते रहे और वह भी न्याय तथा औचित्य की पवित्रतम आड़ में उस नीति से बढ़कर दूसरों को यंत्रणा पहुंचाने का ढंग राजनैतिक अथवा धार्मिक किसी क्षेत्र में किसी भी अत्याचारी सत्ता ने कभी पहिले आविष्कार न किया था, संसार में उसकी तुलना में कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिल सकता।"

प्रसिद्ध अंग्रेज तत्ववेत्ता हरबर्ट स्पेन्सर लिखता है–"पिछली शताब्दी में (अठारहवीं शताब्दी में) भारत में रहने वाले अंग्रेज जिन्हें बर्क ने 'भारत में शिकार की इच्छा से जाने वाले मौसमी पक्षी' बतलाया है अपने समकक्ष के पेरू और मेक्सिको निवासी यूरोपियनों से कुछ ही कम अत्याचारी प्रमाणित हुए। कल्पना कीजए कि उनके कृत्य कितने कलुषित रहे होंगे, जब कि कम्पनी के डाइरेक्टरों तक ने यह स्वीकार किया कि 'भारत के आन्तरिक व्यापार में जो बड़ी-बड़ी पूँजियाँ कमाई गई हैं वे इतने प्रबल अन्यायों और अत्याचारों द्वारा प्राप्त की गई हैं, जिनसे बढ़कर अन्याय और अत्याचार कभी किसी देश अथवा किसी युग में भी सुनने में नहीं आये।' अनुमान कीजए कि वन्सीटॉर्ट ने समाज की जिस दशा का वर्णन किया है वह कितनी वीभत्स रही होगी, जब कि वन्सीटॉर्ट हमें बतलाता है कि अंग्रेज भारतवासियों को विवश करके जिस भाव से चाहते थे, उनसे माल ख़रीदते थे और जिस भाव से चाहते थे उनके हाथ बेचते थे और जो कोई तैयार न होता था उसे बेंत अथवा क़ैदख़ाने की सजा देते थे। विचार कीजिए कि उस समय देश की क्या दशा रही होगी जबकि अपनी किसी यात्रा का वर्णन करते

हुए वारन हेस्टिंग्स लिखता है कि, हमारे पहुंचते ही लोग अधिकांश छोटे कस्बों और सरायों को छोड़कर भाग जाते थे।' इन अंग्रेज अधिकारियों की निश्चित नीति ही उस समय यह थी कि बिना किसी कारण के देश-वासियों के साथ विश्वासघात किया जावे। देशी नरेशों को धोखा देकर उन्हें एक दूसरे से लड़ा दिया गया, पहिले उनमें से किसी एक को उसके विपक्षी के विरुद्ध सहायता दी गई और फिर किसी न किसी दुर्व्यवहार का बहाना लेकर उसीको तख्त से उतार दिया गया। इन सरकारी भेड़ियों को किसी न किसी गन्दे नाले का बहाना सर्वदा मिल जाता था। जिन अधीनस्थ सरदारों के पास इस प्रकार की रियासतें होती थीं, जिन पर इन लोगों के दाँत होते थे, उनसे बड़ी-बड़ी अनुचित रकमें बतौर खिराज के लेकर उन्हें निर्धन कर दिया जाता था और अन्त में जब वे इन मानों को पूरा करने के योग्य न रह जाते थे तब इसी बड़े अपराध के दण्ड रूप उन्हें गद्दी से उतार दिया जाता था। यहाँ तक कि हमारे समय (१८५१ ई०) में भी उसी प्रकार के अत्याचार किये जा रहे हैं। आज दिन तक नमक का कष्ट प्रद ठेका और लगान की वही निर्दय प्रथा प्रचलित है जो कि गरीब प्रजा से जमीन की लगभग आधी पैदावार चूस लेती है। आज दिन तक भी वह धूर्तता पूर्ण स्वेच्छाशासन प्रचलित है, जो देश को पराधीन बनाये रखने और उस पराधीनता को बढ़ाने के लिए देशी सिपाहियों का ही साधनों के रूप में उपयोग करता है। इसी स्वेच्छाशासन के नीचे अभी अनेक वर्ष नहीं बीते हैं कि भारतीय सिपाहियों की एक पूरी रेजिमेण्ट को इसलिए जान-बूझकर कत्ल कर डाला गया कि उस रेजिमेण्ट के सिपाहियों ने पहिनने के कपड़ों के बिना कूच करना स्वीकार नहीं किया था। आज दिन तक पुलिस के कर्मचारी धनवान् लफंगों के साथ मिल कर गरीबों से बल-पूर्वक धन ऐंठने के लिए समस्त कानूनी मशीन को काम में लाते हैं। आज के दिन तक साहब लोग हाथियों पर बैठ कर निर्धन किसानों की खड़ी फसलों में से जाते हैं और गाँव के लोगो से बिना मूल्य दिये रसद वसूल करते हैं। आज के दिन तक यह एक साधारण बात है कि दूर के ग्रामों में रहने वाले लोग किसी यूरोपियन की शकल देखते ही जंगल में भाग जाते हैं।"

एक दूसरा अङ्गरेज लेखक डॉक्टर रसल लिखता है—"ईस्टइण्डिया कम्पनी के भारतीय शासन को आरम्भ से ही बड़े-बड़े पापों ने कलुषित कर रखा

था, * * * निरन्तर अनेक पीढ़ियों तक बड़े-से-बड़े सिविल और फ़ौजी अफ़सरों से लेकर छोटे-से-छोटे कर्मचारियों तक, कम्पनी के नौकरों का एक मात्र महान् लक्ष्य और उद्देश्य यह रहता था कि जितनी जल्दी हो सके और जितनी बड़ी-से-बड़ी पूँजी हो सके, इस देश से निचोड़ ली जाय और फिर अपना स्वार्थ पूरा करते ही सर्वदा के लिए इस देश को छोड़ दिया जाय। * * * यह बात एकदम सचाई के साथ कही गई है कि * * * पराजित प्रजा को अपने बुरे-से-बुरे और विलासी से विलासी देशी नरेशों के बड़े-से-बड़े अत्याचार इतने घातक मालूम न होते थे जितने कि कम्पनी के छोटे-से-छोटे अत्याचार।"

सन् १७५७ से १८५७ तक सौ वर्ष के कम्पनी के शासन में भारतीय सिपाहियों का अपने देश और देश-वासियों के विरुद्ध प्राण-पण से विदेशी अफ़सरों की आज्ञाओं का पालन करना, भारतीय नरेशों का अङ्गरेज़ों के साथ सन्धियों की शर्तों को ईमानदारी के साथ निबाहना, अङ्गरेज़ों का बार-बार जान-बूझकर अपनी सन्धियों और प्रतिज्ञाओं को तोड़ना, देशी रियासतों के यूरोपियन नौकरों का पद-पद पर अपने मालिकों के साथ विश्वासघात करना, अङ्गरेज़ रेज़िडेण्टों का देशी दर्बारों में रहकर वहाँ फूट उत्पन्न करना, रिश्वतें देना, गुप्त षड्यंत्र करना, हत्याएँ कराना और जालसाज़ियाँ करना, देशी नरेशों का कम्पनी के साथ 'सन्धि, और 'मित्रता, के जाल में एक बार फँसकर उससे बिना अपना मान और सर्वस्व दिये बाहर न निकल सकना, ईस्टइण्डिया कम्पनी का अपनी निर्धारित नीति के अनुसार भारत की प्राचीन ग्राम-पञ्चायतों, शिक्षा-प्रणाली, हज़ारों और लाखों पाठशालाओं और हज़ारों वर्ष के उन्नति उद्योग-धन्धों का नाश कर डालना. और इन सबके फल स्वरूप भारत का सौ-सवा सौ वर्षों के अन्दर संसार के सबसे अधिक प्रबल, उन्नत तथा सम्पत्तिशाली देशों की पंक्ति से निकल कर सबसे अधिक निर्बल, अवनत और दरिद्र देशों की पंक्ति तक पहुँचा दिया जाना, तथा इन सबकी अत्यन्त दुःखकर गाथा ही ब्रिटिश शासनकालीन भारत का इतिहास है।

५—अङ्गरेज़ों के चंगुल में भारतीय कैसे फँसे ?

अब एक गम्भीर प्रश्न हमारे सामने यह पैदा होता है कि वे कौन से कारण थे जिनसे अधिक सभ्य, अधिक बलवान् और अधिक उन्नत भारतवासी अपने से

कम सभ्य, कम बलवान् और कम उन्नत इंगलिस्तान के निवासियों की चालों में निरन्तर इस सरलता से आते चले गये, यहाँ तक कि अपना सर्वस्व खो बैठे ?

सबसे पहले कुशाग्र बुद्धि वाले फ्रान्सीसी सेनापति ने समझ लिया कि यूरोपिय अर्थों में 'राष्ट्रीयता, अथवा 'देश-भक्ति' का उस समय भारत में अभाव था। दूप्ले के अनुसार यूरोप-निवासियों के लिए भारतवासियों को एक दूसरे से लड़ा देना बड़ा ही सरल कार्य था और इसीलिए भारत अपनी स्वाधीनता खो बैठा। इसमें सन्देह नहीं कि दूप्ले की बात एक दर्जे तक सत्य अवश्य है, किन्तु हमें इस पर और अधिक गम्भीरता के साथ विचार करना होगा। अङ्गरेज विद्वान् कर्नल मालेसन लिखता है कि अपने जातीय चरित्र की जिन दुर्बलताओं के कारण भारतवासी पराधीन किये जा सके उनमें एक यह भी थी कि उन्हें "स्वभाव से ही दूसरों पर विश्वास कर लेने और उनके साथ ईमानदारी का व्यवहार करने की आदत" थी। हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कर्नल मालेशन का कथन दूप्ले के कथन से कहीं अधिक सचाई के पास है।

इस प्रसंग के सम्बन्ध में हमें सबसे पहले यह बात समझनी होगी कि किसी एक कम सभ्य जाति का अपने से अधिक सभ्य जाति पर विजय प्राप्त कर लेना अथवा उसे पराजित कर लेना कोई नई घटना नहीं है। संसार के इतिहास में अनेक बार अधिक सभ्य जातियाँ अपने से कम सभ्य जातियों का इसी प्रकार शिकार होती रही है। यूरोप में गॉल और वेण्डाल जातियों के जिन लोगों ने उत्तर और पूर्व से जाकर विशाल रोमन-साम्राज्य पर आक्रमण किया और सर्वदा के लिए उस साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े कर डाले, वे रोमन लोगों की अपेक्षा कहीं कम सभ्य थे।

जिन तातारियों और मुग़लों ने आज से लगभग हज़ार-डेढ़ हज़ार वर्ष पहिले पूर्व और मध्य एशिया से निकलकर बग़दाद और ईरान के गौरवशाली साम्राज्यों का अन्त कर दिया, वे उस समय के अरबों और ईरानियों की तुलना में सर्वथा असभ्य थे। मध्य एशिया की असभ्य जातियों ने ही समृद्ध यूनानी साम्राज्य का अन्त कर डाला। भारतवासियों का भी अपने से किसी कम सभ्य जाति के इस प्रकार अधीन हो जाना इसी प्रकार की एक घटना थी। इस आश्चर्यजनक ऐतिहासिक घटना के साधारण रूप से दो कारण हो सकते हैं--

एक तो अधिक उच्च सभ्यता लोगों में थोड़ी-बहुत आराम-तलबी की आदत

पैदा कर देती है और असभ्य जातियों के समान उद्दण्ड पराक्रमशीलता उनमें नहीं रह जाती। दूसरे यह कि असभ्य अथवा कम सभ्य लोग जिस संकोच-हीनता के साथ अपनी पाशविक प्रवृत्तियों और शक्तियों का उपयोग कर सकते हैं, अधिक सभ्य लोग अपने यहाँ के नैतिक आदर्शों के अधिक स्थिर हो जाने के कारण उस प्रकार नहीं कर सकते। कुछ भी हो, भारत की इस दुर्घटना के तीन मुख्य कारण हमें स्पष्ट दिखाई देते हैं--

१--अपने और पराये का भाव जिसे आजकल 'राष्ट्रीयता' का भाव कहा जाता है, उदार स्वभाव वाले भारतवासियों के चित्तों में कभी भी अधिक स्थान न कर पाया था। यह कहा जा चुका है कि अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत के अन्दर कोई प्रबल केन्द्रीय शक्ति नहीं रह गई थी। अनेक छोटी-बड़ी शक्तियाँ उस समय देश के अन्दर प्रधानता प्राप्त करने के लिए उत्सुक और प्रयत्नशील थीं। मुसलमानों और हिन्दुओं में भी इन्हीं समस्त कारणों से स्थान-स्थान पर एक प्रकार की भिन्नता उत्पन्न होगई थी। ऐसी दशा में एक तीसरी बाहर की शक्ति अनेक लोगों को निष्पक्ष मध्यस्थ के समान दिखाई पड़ी।

इससे पूर्व जितने लोगों ने बाहर से आकर भारत में प्रवेश किया उनमें से, उन थोड़े लोगों को छोड़कर, जो महमूद गज़नवी अथवा नादिरशाह के समान लूटमार कर चार दिन के अन्दर लौट गये और किसी से भारतवासियों को किसी भाँति का कटु अनुभव नहीं हुआ था। बात यह थी कि शेष सबों ने भारत में बस कर भारत में अपना घर बना लिया था और समस्त भारतवासियों की उन्नति और विकास में पूरा-पूरा भाग लिया था। ऐसी दशा में अपने और पराये का भेद भारतवासियों के लिए कोई विशेष अर्थ ही न रखता था। भारतवासियों के धार्मिक और नैतिक आदर्श भी उनके अन्दर इस प्रकार के विचार उत्पन्न होने न दे सकते थे।

इसीलिए स्वभाव से ही भारतवासियों ने सात समुद्र पार के यूरोप-निवासियों के साथ उसी प्रकार के प्रेम और सत्कार का व्यवहार किया जिस प्रकार का वे परस्पर एक दूसरे के साथ करने के अभ्यासी थे। ऐसी दशा में अङ्गरेज़ों का विविध भारतीय नरेशों के परस्पर संग्रामों में कभी एक और कभी दूसरे का साथ देना अथवा अपने षड्यंत्रों द्वारा इस प्रकार के संग्राम खड़े करके उनसे पूरा लाभ

उठाना अत्यन्त सरल हो गया था ।

२--भारत का व्यापार उस समय इङ्गलिस्तान के व्यापार से हज़ारों गुना बढ़ा हुआ था किन्तु फिर भी व्यापार अथवा वाणिज्य को स्थान यूरोपियन जातियों और विशेषकर अंग्रेज़ जाति के जीवन में दिया जाता था, वह भारत में कभी नहीं दिया गया था । अंग्रेज़ जाति एक व्यापारी जाति थी । इङ्गलिस्तान के बड़े-से-बड़े लार्ड्स के व्यापारी कम्पनियों में हिस्से होते थे, यहाँ तक कि जैसा हम पहिले कह चुके हैं–इङ्गलिस्तान की मलका तक गुलामों के क्रय-विक्रय जैसे निकृष्ट व्यापार में हिस्सा लेना अथवा उससे हज़ार दो हज़ार गिन्नी कमा लेना एिश्र ने पल निन्दनीय कार्य नहीं समझती थी ।

इसके विपरीत भारत में कोई भी राजा, नवाब अथवा जमींदार व्यापार में कभी किसी प्रकार का हिस्सा न लेता था, न राजदर्बार से सम्बन्ध रखने वाले किसी मनुष्य की किसी कम्पनी में पत्ती होती थी । व्यापार से धन कमाने का काम इस देश में एक गौण अथवा छोटा काम समझा जाता था और अनादि काल से एक श्रेणी विशेष के लिए छोड़ दिया गया था । यहाँ तक कि खेती का पेशा भी व्यापार से उच्चतर समझा जाता था । इसीलिए किसी भारतीय नरेश का यह सोच सकना कि इस देश के साथ अंग्रेज़ों के व्यापार के भावी राजनैतिक अथवा राष्ट्रीय परिणाम क्या हो सकते हैं, उस समय सर्वथा असम्भव था ।

इन समस्त बातों के साथ ही साथ व्यापारी मात्र की रक्षा करना और अपने राज्य में व्यापार को यथाशक्ति उत्तेजना और सहायता देना प्रत्येक भारतीय नरेश सर्वदा अपना धर्म समझता था । बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे भारतीय नरेशों के इतिहास में एक विशेष बात यह देखने को मिलती है कि उन्हें इस बात की चिन्ता नित्य रहती थी कि किसी व्यापारी को हमारे राज्य की सीमा में हानि न होने पाये । यही कारण था कि मुग़ल सम्राट् शाहजहाँ ने एशियाई नरेशों की मर्यादा के अनुसार उदारतापूर्ण भावों में आकर अंग्रेज जाति के व्यापारियों को भारत में रहने और व्यापार करने के लिए इस प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करदीं जिनकी आजकल का कोई नरेश किसी दूसरी जाति के लोगों को अपने देश में देने की कल्पना तक नहीं करेगा । भारतीय सम्राट् को यह स्वप्न में भी विश्वास नहीं हो सकता था कि उसकी यह राजाओं के योग्य उदारता एक दिन बढ़ते-

बढ़ते भारतीय व्यापार, भारतीय उद्योग-धन्धों और भारत की राजनैतिक स्वतंत्रता, इन तीनों के सर्वनाश का बीज प्रमाणित होगी।

व्यापार के नाम पर राजनैतिक कुचक्र एक ऐसा घातक प्रयोग था जिसका भारतवासियों को उस समय तक अपने हजारों वर्ष के इतिहास में कभी अनुभव न हुआ था और जो किसी भी भारतीय नरेश के मस्तिष्क में न आ सकता था सम्राट् औरङ्गजेब भारत के सबसे अधिक निष्ठुर सम्राटों में गिना जाता है। उसी औरंगजेब ने ही अंग्रेज कम्पनी की प्रार्थना पर कालीकाता, सूतानटी और गोविन्दपुर नामक तीन गाँव अपने व्यापार के लिए एक कोठी बनाने को बतौर जागीर कम्पनी को प्रदान किए थे। थोड़े ही दिनों में अंग्रेजों ने वहाँ पर क़िलेबन्दी आरम्भ करदी। औरंजेब के कर्मचारियों ने उससे शिकायत की।

यदि औरंगजेब चाहता तो केवल एक शब्द द्वारा उसी समय क़िलेबन्दी को रोक सकता था, अथवा विदेशी व्यापारियों को भारत से निकालकर बाहर कर सकता था। किन्तु इस क़िलेबन्दी की शिकायत पहुँचते ही उस भारतीय सम्राट् ने क़िलेबन्दी को बन्द न कराकर उलटा अपने ही कर्मचारियों को बुरा-भला कहा, और इस प्रकार उन्हें समझाया—"मुमकिन है, मेरी आस पास की देशी रिआया ने जलन के मारे फ़िरंगियों से कुछ झगड़ा किया। क्यों न फ़िरंगी जिस तरह हो सके, अपनी हिफ़ाज़त का इन्तज़ाम करें? ये बेचारे परदेशी बहुत दूर से आये हैं और बहुत मेहनती हैं। मैं हर्गिज़ दख़ल न दूँगा।"

भारत के व्यापारियों को भी उस समय तक कभी दूसरे देश के व्यापारियों से कटु अनुभव न हुआ था। व्यापारी आक्रमण करने वाले अंग्रेज़ों से पहिले के किसी भी विदेशी के द्वारा भारतीय व्यापारियों को किसो प्रकार की हानि न पहुँची थी। इसके विपरीत भिन्न-भिन्न देशों के व्यापारियों के सहयोग से सर्वदा एक दूसरे को लाभ ही पहुंचता था। इसलिए यह भी सर्वथा असम्भव था कि भारतीय व्यापारी, जिनको अन्त ईस्टइण्डिया कम्पनी के कारण सबसे अधिक हानि पहुंची, कम्पनी के कुचक्रों का सामना करने अथवा उसे देश से बाहर निकालने का मिल कर कोई प्रयत्न करने का उपाय सोचते। इसके विपरीत उस समय के अंग्रेज़ व्यापारी आयरलैण्ड और स्कॉटलैण्ड के व्यापारों का हाल में ही नाश करके इन परस्पर नाशकारी उपायों का पूर्ण रूप से अनुभव प्राप्त कर चुके थे। यहाँ तक कि

स्कॉटलैण्ड तक को 'बिल ऑफ़ सिक्यूरिटी' पास करके इङ्गलिस्तान के इन नाशकर प्रयत्नों से अपने व्यापार की रक्षा करनी पड़ी थी।

३—भारतवासियों को इससे पहले किसी विदेशी के बचनों पर अविश्वास करने का कोई कारण न था। भारत में सन्धि-पत्रों और राजकीय घोषणाओं को चिरकाल से पवित्र माना जाता था और यूरोपियनों के आने से पहले एशियाई नरेशों के सन्धि-पत्र और घोषणाएँ अधिकतर सच्ची होती भी थीं। वास्तव में इस विषय में अङ्गरेजों और भारतवासियों के चरित्र में आकाश-पाताल का अन्तर है। इस देश में मराठे सबसे अधिक चतुर राजनीतिज्ञ माने जाते थे। मराठों ने कभी भी अपनी संधियों का उल्लंघन नहीं किया। अङ्गरेजों और भारतीय नरेशों के लगभग सौ वर्ष के सम्बन्ध में ऐसा एक भी अवसर नहीं आया जिसमें किसी भी भारतीय नरेश ने अङ्गरेजों के साथ सन्धि का उल्लंघन किया हो।

सच बात तो यह है कि अनेक भारतीय नरेशों की आपत्तियों का मुख्य कारण यही हुआ कि उन सबों ने ऐसे-ऐसे अवसरों पर कम्पनी के साथ अपनी संधियों का ईमानदारी के साथ पालन किया, जब कि उन समस्त संधियों का पालन उनके और उनके देश के लिए स्पष्ट रूप से अहितकर दिखाई दे रहा था। इसके विपरीत अङ्गरेजों के अपनी संधियाँ पालना करने अथवा न करने के सम्बन्ध में प्रसिद्ध अङ्गरेज इतिहास-लेखक सर जॉन के जो इंगलिस्तान के इण्डिया ऑफ़िस के 'राजनैतिक और गुप्त विभाग, का सेक्रेटरी रह चुका था, लिखता है—"मालूम होता है कि अङ्गरेज सरकार ने संधियों के तोड़ने का ठेका ले रखा था यदि वर्तमान संधि-पत्रों के तोड़ने का दण्ड किसी से उसका राज्य छीना जा सकता है, तो इस समय ब्रह्मपुत्र से लेकर सिन्ध नदी तक एक इंच जमीन भी भारत में अङ्गरेजों के पास नहीं बच सकती।

एडमण्ड बर्क ने इंगलिस्तान की पार्लिमेण्ट के सामने वारन हेस्टिंग्स के मुक़दमे के सम्बन्ध में कहा था कि एक भी ऐसी सन्धि नहीं जिसे अंग्रेजों ने भारतवर्ष में किसी के साथ की हो और उसे उन्होंने बाद में उल्लंघन न किया हो।

६—भारतीयों के साथ अङ्गरेजों का बिश्वासघात

भारतवासियों और अंग्रेजों के सम्बन्ध की असंख्य छोटी-मोटी घटनाएँ ऐसी मिलती हैं जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि दोनों जातियों के चरित्र में कितना बड़ा

अन्तर था। यदि इस सम्बन्ध की एक दो घटनाएँ यहाँ पर बतला दी जायँ तो अनुचित न होगा। हैदरअली और अंग्रेजों के संग्रामों में अनेक बार ऐसा हुआ कि हैदरअली ने पराजित अंग्रेज सैनिकों और सेनापतियों को उनसे यह प्रतिज्ञा कराकर छोड़ दिया था कि हम इसके बाद कम-से-कम एक साल तक आपके विरुद्ध कहीं भी युद्ध नहीं करेंगे। किन्तु थोड़े ही दिनों के बाद वे अङ्गरेज सैनिक और सेनापति किसी दूसरे स्थान के युद्ध में हैदरअली के विरुद्ध लड़ते हुए दिखाई पड़े। इसके विपरीत हैदरअली ने एकबार जबकि वह अङ्गरेजी इलाक़े में विजय प्राप्त करता हुआ बढ़ा चला जा रहा था, कम्पनी के अङ्गरेज दूत से यह वादा किया कि मद्रास के फाटक पर पहुंच कर मैं आपकी ओर से संधि की बातचीत सुन लूँगा। विजयी हैदर मद्रास के फाटक तक पहुंच गया। यदि वह चाहता तो बात की बात में मद्रास के क़िले पर अधिकार कर लेता और कम-से-कम दक्षिण भारत से उसी समय अंग्रेजों को निकाल कर बाहर कर देता। किन्तु मद्रास पहुंचते ही उस सच्चे विजयी वीर ने अपने बचन का पूर्ण रूप से पालन किया। संधि की बातचीत आरम्भ होगई। ध्यान-पूर्वक सुन लेने के बाद विजयी हैदरअली ने पराजित अङ्गरेजों के साथ संधि स्वीकार करली।

सन् १८५७ ईसवी के विप्लव में अवध के अन्दर असंख्य उदाहरण इस बात के मिलते हैं, जिनमें कि अवध के उन ज़मींदारों और ताल्लुक़ेदारों ने, जो अपने-अपने इलाक़े में विप्लव के प्रसिद्ध नेता थे, संकट में पड़े हुए अंग्रेज़ पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों को अपने क़िलों के अन्दर आश्रय दिया तथा उनकी प्रार्थना पर उन्हें अपनी-अपनी नौकाओं में बैठाकर इलाहाबाद और बनारस भेज दिया। किन्तु कुछ ही महीनों के बाद ये सब अंग्रेज़ अवध वापस जाकर उन्हीं ताल्लुक़ेदारों के विरुद्ध लड़ते हुए दिखाई पड़े। इस प्रकार के अनेक उदाहरण देना केवल इस विषय को विस्तार देना होगा।

जिन भारतवासियों ने अंग्रेजों का पक्ष लेकर भारत के सम्बन्ध में समय-समय पर देश-घातकता का परिचय दिया उनमें भी ऐसा ही कोई होगा जिसने अंग्रेजों के साथ अपने वचनों का पालन न किया हो। सच बात तो यह है कि यदि मध्य काल के और आधुनिक यूरोप के इतिहास को ध्यान से देखा जाय तो विदित होगा कि देशीयता अथवा राष्ट्रीयता के संकीर्ण भाव यूरोप की विशेष

सामाजिक परिस्थिति की उपज छोड़कर और कुछ नहीं हैं। मध्य कालीन यूरोप में जमींदारों और किसानों, रईसों और गरीबों के बीच वह प्रबल संग्राम लगभग एक हजार वर्ष तक चलता रहा, जिसके कारण वहाँ की जनता में अपने और पराये का भेद बद्धमूल हो जाना स्वाभाविक था।

धार्मिक पक्षपात का भी साम्राज्य यूरोप में कई शताब्दियों तक रहा, जिससे इस प्रकार की संकीर्णता के बढ़ने को और अधिक अवसर मिल गया। इसके अतिरिक्त यूरोप भर में अनेक छोटे-छोटे देश, लगभग प्रत्येक देश में भोजन और वस्त्र की कमी और इस पर वर्ग-वर्ग के बीच निरन्तर आर्थिक कलह और प्रतिस्पर्धा, इन समस्त कारणों से भी यूरोप के अन्दर मेरे और तेरे देश के भाव प्रबल होते गये। किन्तु भारत के दो हजार वर्ष के इतिहास में इस प्रकार के कोई भी कारण नहीं उत्पन्न हुए थे। यदि प्रान्तीय नरेशों में कहीं भी युद्ध होते थे अथवा बाहर से थोड़े दिनों के लिए कोई आक्रमण भी होता था तो करोड़ों जनता के रहन-सहन, उनके जीवन धन्धों और उनकी प्रसन्नता पर इन युद्धों का कोई किसी प्रकार का भी प्रभाव नहीं पड़ता था।

इसमें सन्देह नहीं कि अंग्रेजों के समय की राष्ट्रीयता यूरोपीय राष्ट्रों के स्वार्थमय जीवन-संघर्ष का फल छोड़कर और कुछ नहीं थी। हम यह मान सकते हैं कि ऐसी राष्ट्रीयता का भाव मनुष्य को किसी अंश तक व्यक्तिगत स्वार्थ के भाव से ऊपर उठाकर राष्ट्र के नाम पर अपने जीवन की आहुति देने के लिए तैयार कर देता है। इस सीमा तक यह भाव निस्सन्देह मनुष्य को ऊँचा उठाने वाला भी है। किन्तु यदि ऊच्च आदर्श पूर्ण मानव-प्रेम और मानव-जाति के हित की दृष्टि से देखा जाय तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऊपर कही गई राष्ट्रीयता का भाव अधिक एक अनिवार्य आपत्ति है और इसी के कारण इस समय भी समस्त मानस समाज के विकास में एक बहुत बड़ी बाधा का सामना करना पड़ रहा है। कुछ भी हो भारत में इस भाव के उत्पन्न होने के लिए अंग्रेजों के आने से पूर्व कोई कारण ही न था। यही कारण है कि जिस समय धूर्त अंग्रेज़ व्यापारी अपने कुचक्रों का जाल फैलाने लगे थे उस समय भारतवासियों में अपने और पराये का भेदभाव भी न था।

अतएव यदि निस्पक्ष होकर देखा जाय तो ईष्टइण्डिया कम्पनी के सौ वर्ष

के इतिहास में जिन भारतवासियों ने अंग्रेजों के साथ मिलकर अपने देशवासियों को हानि पहुँचाई, उनमें से कुछ लोगों को छोड़कर सबों का पाप केवल इतना ही था जितना किसी भी दो राजाओं के संग्राम में एक मनुष्य का एक पक्ष से दूसरे पक्ष की ओर चला जाना। यही कारण था कि इनमें से अधिकांश देशघातकों ने अंग्रेजों के साथ अपनी प्रतिज्ञाओं का सर्वदा सचाई के साथ पालन किया।

इस प्रसंग में यह लज्जा के साथ स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उन सौ वर्ष के इतिहास में हमें अपनी ओर कोई अक्षम्य देशघातकता और विश्वासघातकता के उदाहरण भी मिलते हैं। किन्तु इस प्रकार के उदाहरण किसी भी देश के इतिहास में ऐसी परिस्थिति में यदि मिलते भी हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इतिहास से स्पष्ट है कि अन्य अनेक दोषों के होते हुए भी भारतवासियों में अपने वचन का पालन करना एक साधारण नियम था, दूसरी ओर कम्पनी से अंग्रेज प्रतिनिधियों में अपने वचनों का निःसंकोच उल्लंघन एक साधारण-सी बात थी। इसीलिए सन् १७५७ से लेकर १८५७ तक निरन्तर प्रतिकूल अनुभवों के होते हुए भी भारतवासियों ने नित्य अंग्रेजों की प्रतिज्ञाओं पर विश्वास कर लिया।

इन सौ वर्ष के इतिहास से यह भी स्पष्ट है कि वीरता, साहस अथवा युद्ध-कौशल में भारतवासी कहीं भी अंग्रेजों से पीछे नहीं रहे। अंग्रेज़ों के भारतीय संग्राम अंग्रेज़ों ने नहीं जीते, बल्कि भारतवासियों ने अंग्रज़ों के लिए जीत कर अपनी विजय का फल अंग्रेज़ों को अर्पण कर दिया। कर्नल मालेसन ने अपनी पुस्तक 'दि डिसाइसिव बैटेल्स ऑफ़ इण्डिया' में स्वीकार किया है कि सन् १७५७ से १८५७ तक जो अनेक युद्ध अंग्रेज़ों और भारतवासियों के बीच लड़े गए उनमें एक भी ऐसा नहीं हुआ जिसमें अंग्रेज़ी सेना एक ओर रही हो और भारतीय सेना दूसरी ओर और फिर अंग्रेज़ों ने विजय प्राप्त की हो।

इस प्रकार के युद्ध, जिनमें अंग्रेज एक ओर थे और भारतवासी दूसरी ओर अनेक बार हुए किन्तु उनमें सर्वदा अंग्रेजों की ही हार हुई। जहाँ कहीं किसी संग्राम में अंग्रेजों ने विजय प्राप्त की है वहाँ भारतवासियों के सर्वदा दो दल रहे हैं। एक देश के पक्ष में और दूसरा अंग्रेजों के पक्ष में। यह एक असत्य और लज्जा-जनक सत्य है कि अंग्रेज़ों ने भारतवर्ष को तलवार से नहीं जीता, बल्कि भारत-वासियों ने अपनी तलवार से अपने देश को जीतकर अंग्रेज़ों के अधीन कर दिया।

भारतवासियों की निरन्तर भूलों और दुर्बलताओं का परिणाम यह हुआ कि केवल दो सौ वर्ष पहिले जो भारतवर्ष संसार का सबसे अधिक सम्पत्तिशाली और सबसे अधिक बलवान् देश समझा जाता था वह अङ्गरेजों के शासन-काल में संसार का सबसे अधिक दरिद्र और सबसे अधिक निर्बल तथा असहाय देश माना जाने लगा। केवल डेढ़ सौ वर्ष पूर्व जिस भारतवर्ष में एक भी पुरुष अथवा स्त्री किसी गाँव के अन्दर ऐसी न मिल सकती थी जो लिखना-पढ़ना न जानती हो, वहीं साक्षरता-प्रसार का प्रश्न उठने लगा क्योंकि अंग्रेजों ने भारतवासियों को निरक्षर भट्टाचार्य बनाकर ही छोड़ा है। आज इस देश की तिरानबे प्रतिशत जनता एकदम निरक्षर है। केवल सवासौ वर्ष पूर्व अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक जो भारतवर्ष अपने उद्योग-धंधों की दृष्टि से कदाचित् केवल एक चीन को छोड़कर संसार का सबसे अधिक उन्नत देश स्वीकार किया जाता था और जो उस समय तक आधे से अधिक सभ्य संसार की, जिसमें इङ्गलिस्तान और फ्रान्स भी सम्मिलित थे, कपड़े इत्यादि की आवश्यकता को पूरा करता था, वहाँ भारतवर्ष अपने जीवन की एक-एक आवश्यकता के लिए, यहाँ तक कि अपना तन ढकने के लिए दूसरों का मुँह ताकने लगा।

समाज-विज्ञान का प्रसिद्ध अमरीकन विद्वान् इ० ए० रॉस लिखता है—"किसी भी राष्ट्र के चरित्र के आधःपतन के सबसे प्रबल कारणों में से एक कारण उस राष्ट्र का किसी विदेशी जाति के अधीन हो जाना है।"

अपने समय के भारतवासियों के चरित्र का वर्णन करते हुए यूनानी इतिहास लेखक एरियन लिखता है—"इन लोगों में आश्चर्यजनक वीरता है। युद्ध-विद्या में ये समस्त एशिया-निवासियों से बढ़कर हैं। सरलता और सत्यता के लिए प्रसिद्ध हैं। ये इतने समझदार हैं कि इन्हें कभी मुकदमे बाजी की शरण नहीं लेनी पड़ती और इतने ईमानदार हैं कि न इन्हें अपने दरवाजों में ताले लगाने पड़ते हैं और न लेन देन में इन्हें लिखा-पढ़ी की आवश्यकता होती है। कभी भी किसी भारतवासी को झूठ बोलते हुए नहीं सुना गया।"

किन्तु अंग्रेजों की कपट-नीति ने ऐसा कर दिया कि भारतवासी एकदम पतित होने लगे, इसीलिए ई० ए० रॉस ने लिखा है कि "भारतवासियों के उच्चतर

जीवन के ऊपर विदेसी शासन का प्रभाव ऐसा ही है जैसा किसी वस्तु को पाला मार गया हो।

इसमें सन्देह नहीं कि अंग्रेजों के शासन-काल में यह प्राचीन भारतवर्ष बड़ी शीघ्रता के साथ मानसिक, नैतिक और भौतिक सर्वनाश की ओर बढ़ता चला गया।

७--स्वाधीनता संग्राम की नवीन योजना

सहसा भारतवासियों का देश-भक्त समुदाय सचेत होकर पतन की ओर बढ़ने से रुक गया और उसी समय इस घातक विपत्ति से देश का उद्धार करने के लिए उपाय भी सोचने लगा। सबसे पहिले दो बातों की ओर सावधान रहना उसने अपना कर्तव्य समझा। एक बात यह थी कि घबड़ाहट अथवा किसी प्रकार के आवेश में आकर भारतवासी मानव के उन उच्च नैतिक सिद्धान्तों से न डिगने पायें जिनके बिना मानव-समाज का सुख से रह सकना सर्वथा असंभव है और जो मनुष्य के ऐहिक जीवन के आध्यात्मिक आधार स्तम्भ हैं। दूसरी बात यह थी कि नैराश्य अथवा अकर्मण्यता को भारतवासी एक क्षण के लिए भी अपने पास न आने दें। इन दोनों बातों में से सबसे पहिले उन सबों ने दूसरी बात के सम्बन्ध में अपने देशवासियों को समझाते हुए कहा था —

"सन् १८४२ ईसवी तक अङ्गरेज़ दिल्ली-सम्राट को अपना सम्राट मानते थे, अपने लिये उसकी विनम्र आज्ञाकारी प्रजा कहा करते थे, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सिक्कों में दिल्ली-सम्राट का नाम खुदा होता था, और कम्पनी के भारतीय इलाकों के अङ्गरेज गवर्नर जनरल की मोहर में 'दिल्ली के बादशाह का फ़िदवए खास' ये शब्द खुदे रहते थे। इसमें सन्देह नहीं कि अनभ्यस्त और भोले भारतवासी अङ्गरेजों की इन चालों से धोखे में आते रहे। दिल्ली-दर्बार की निर्बलता ने धीरे-धीरे उन्हें और भी अधिक, अपाहिज कर किया। किन्तु ज्यों ही भारतवासियों ने यह अनुभव करना आरम्भ किया कि इस नये राजनैतिक प्रयोग के परिणाम भिन्न-भिन्न प्रान्तों में देशी रियासतों और देश के जीवन के लिए कितने घातक सिद्ध हो रहे हैं, ज्यों ही सम्राट् शाहआलम की मृत्यु (१८०६) के बाद कम्पनी के प्रतिनिधियों ने सम्राट अकबरशाह और उनके बाद सम्राट बहादुरशाह के पद की अवहेलना आरम्भ की, त्यों ही उनकी आँखें खुल गईं। उन्होंने सन्

१८५७ ईसवी में विदेशी सत्ता से अपने लिये स्वाधीन करने का वह प्रवल प्रयत्न किया जिसके कारण एक बार वास्तव में अङ्गरेजी राज्य की जड़ें हिल गईं और उसका अस्तित्व नष्ट होने की सीमा तक पहुंच गया। फिर भी कतिपय भारतवासियों के नैराश्य अथवा अकर्मण्यता के कारण सन् १८५७ ईसवी का वह स्वाधीनता-संग्राम हमारी पराधीनता के इतिहास की सबसे अधिक महत्वपूर्ण घटना हो गया था।

"सच कहा जाय तो अङ्गरेजी शासन की जड़ भारतवर्ष में पूर्णरूप से सन् १८५७ ईसवी से ही जमी। उसी समय भारतीय साम्राज्य का शासन-सूत्र विधिवत् उस व्यापारी कम्पनी के हाथों से नहीं, जो अन्त समय तक दिल्ली-सम्राट की प्रजा होने का बनावटी दावा करती रही, बल्कि स्वयं भारत के अन्तिम सम्राट बहादुरशाह के हाथों से छीन कर इङ्गलिस्तान की मलका विक्टोरिया के हाथों में दे दिया गया। सन् १८५७ ईसवी के बाद भी भारत के देश-भक्त समुदाय ने अपनी स्वाधीनता के प्रयत्नों को एक क्षण तक के लिए भी शिथिल होने नहीं दिया। सन् १८५७ ईसवी की क्रान्ति और पंजाब के कूका-विद्रोह में केवल पन्द्रह वर्ष का अन्तर था। सन् १८५७ ईसवी के विप्लव और भारत की राष्ट्रीय काँग्रेस के जन्म में अट्ठाइस वर्ष का ही अन्तर है। काँग्रेस के जन्म और वंग-भंग के बाद के आन्दोलन में बीस वर्ष का अन्तर है। वंग-भंग और उस असहयोग आन्दोलन में, जिसने पुनः एक बार सन् १८५७ ईसवी के विप्लव से भी अधिक और उससे उच्चतर उपायों द्वारा अङ्गरेजी-शासन के अस्तित्व को विकट परिस्थिति में डाल दिया, और जिसके सम्बन्ध में उस समय के गवर्नर जनरल लॉर्ड रीडिंग को (१९२१ ई० में) यह स्वीकार करना पड़ा था कि 'उस आन्दोलन की सफलता में केवल एक इंच की कसर बाकी रह गई थी तथा मैं हैरान और परेशान था।' केवल पन्द्रह वर्ष का ही अन्तर था। इन सब की सफलता का कारण भारतवासियों में आशावाद और कर्मशीलता का होना ही था। इसलिए जब तक स्वधीनता न प्राप्त हो और अङ्गरेज भारत को छोड़ कर न चले जायँ तब तक पूर्ण आशा के साथ निरन्तर सफलता के लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए।"

इसके बाद पहिली बात के सम्बन्ध में समझाते हुए यह कहा था—"वास्तव में हम भारतवासियों के लिए सबसे पहिला काम अपने धार्मिक और नैतिक

आदर्शों को स्थिर करना है। उसके बाद हमें अपने कर्तव्य की ओर अग्रसर होना होगा। हमें यह निश्चय ध्यान में रखना होगा कि सदाचार शून्य स्वार्थ पूर्ण नींवों पर यूरोप ने अपनी आजकल की सभ्यता को स्थिर करना चाहा और जिनके आधार पर उसने भारतीय जीवन को इतनी भयानक हानि पहुंचाई, उनका परिणाम अन्त में क्या हुआ। आजकल की समस्त यूरोपियन सभ्यता अपने अद्भुत विज्ञान, विशाल पुतलीघरों, विचित्र साम्राज्यवाद और नवीन भयानक पूँजीवाद को लेकर दो सौ वर्ष भी सुख-शान्ति से न जी सकी। आज यूरोप मनुष्य-मनुष्य के बीच कलह, श्रेणी-श्रेणी के बीच स्पर्धा और देश-देश के बीच संघर्ष का क्षेत्र बना हुआ है। यूरोप के ही प्रत्येक देश की नब्बे प्रतिशत जनता के लिए यह अन्तर्वर्गीय और अन्तर्राष्ट्रीय कलह और प्रतिस्पर्धा, दुःख, विपत्तियों और सार्वजनिक नाश का कारण प्रमाणित हो रही है। इसके विपरीत जिन नैतिक आदर्शों पर प्राचीन भारत और प्राचीन चीन जैसे देशों ने अपने सामाजिक जीवन को स्थिर किया था उन आदर्शों के सहारे ये देश हजारों वर्ष तक सुख-शान्ति से रह सके और कम अथवा अधिक, अपने से सम्बन्ध रखने वाले संसार के अन्य देशों को भी सुख-शान्ति से रख सके। ऐसी दशा में हम भारतवासियों को सबसे अधिक ध्यान इस बात का रखना होगा कि हम अपने अनुभूत और मानव-समाज के लिए कहीं अधिक कल्याण करने वाले आदर्शों को हाथ से न खो बैठें। जो स्थान भटके हुए यूरोप ने आज बिजली और कूटनीति को दे रखा है वह हमें मानव प्रेम और सत्यता को देना होगा और प्रत्येक के व्यक्तिगत 'अधिकारों' पर जोर देने के स्थान पर हमें मनुष्य मात्र के लिए कर्तव्य पालन को अधिक महत्त्व देना होगा।

"इतना सब कर लेने के बाद हमें अपने राष्ट्रीय रोग की जड़ों की ओर दृष्टि डालनी होगी और साहस के साथ उन्हें अपने जीवन क्षेत्र से उखाड़ कर फेंक देना होगा। असत्य को छोड़कर हमें फिर से अपने राष्ट्रीय जीवन को सत्य की नींव पर स्थिर करने का महान् प्रयत्न करना होगा। हमारा मार्ग इस सम्बन्ध में बिलकुल स्पष्ट है। आज से लगभग तीन शताब्दी पूर्व जिस मार्ग से विचलित हो जाने के कारण धीरे-धीरे हमारी राष्ट्रीय विपत्तियों का प्रारम्भ हुआ अपने कल्याण के लिए उसी एकमात्र मार्ग को हमें फिर से ग्रहण करना होगा। हमें यह

स्वीकार करना होगा कि मानव-समाज के टुकड़े करने वाली पृथक पृथक धर्मों और सम्प्रदायों की दीवारे बनावटी और हानिकर हैं। हमें यह भी मानना पड़ेगा कि इस संसार में दो जगदीश्वर नहीं हो सकते (हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि किसी देश, किसी काल, किसी जाति अथवा किसी भाषा विशेष ने, चाहे वह कितनी भी प्राचीन क्यों न हो, ईश्वरीय ज्ञान का ठेका नहीं ले रखा। वास्तव में इस प्रकार के संकीर्ण विचार ही मानव-समाज की आधी से अधिक विपत्तियों के मूल कारण हैं। तात्पर्य यह कि जन साधारण के अपने-अपने ढंग से अपने-अपने इष्टदेव की आराधना करने में स्वाधीन छोड़कर भी हमें समस्त धर्मों की मौलिक एकता का दर्शन करना होगा। उस मौलिक एकता के प्रकाश में हमें हिन्दू मुसलमान, सिख, जैन, पारसी, बौद्ध और ईसाई के भेदों का असत्यता और हानिकरता को भी अनुभव करना होगा और समस्त समाज को एक सच्चे सार्वभौम मानव-धर्म की ओर लाने का सस्नेह और शान्तिपूर्ण प्रयत्न करना होगा जात-पाँत अथवा छूआछूत जैसी रूढ़ियों की व्यर्थता और अन्याय परायणता को अनुभव करना होगा। समस्त भेद-भावों को हमें अपने राष्ट्रीय जीवन-क्षेत्र से समूल उखाड़ कर फेंक देना होगा। इन सब के स्थान पर हमें मानव-समता, मानव-सेवा, स्वार्थ-त्याग, न्याय और सत्यता के उस सार्वभौम धर्म को अपना एक मात्र धर्म स्वीकार करना होगा। इसमें सन्देह नहीं कि यदि दो सौ वर्ष पूर्व ही हम अपने जीवन को इन सच्ची नींवों पर स्थिर कर लिये होते यदि औरङ्गजेब के समय से पृथक-पृथक धर्मों के मिथ्या भेदों ने फिर से देश वासियों के विचारों को पथ-भ्रष्ट न किया होता, तो यह देश कदापि धूर्त अङ्गरेजों के अधीन न हुआ होता।

"इसके साथ-साथ हमें प्रेम और सत्य के पवित्र सिद्धान्तों से न डिगते हुए राजनैतिक क्षेत्र में 'सत्याग्रह' की अजेय शक्ति का अनुभव करना होगा और सत्याग्रह के असीम बल का अपने अन्दर संचार करना होगा। हमें यह समझना होगा कि प्रत्येक अन्याय अन्यायी और अन्याय-पीड़ित सभी की आत्माओं के पतन का कारण एक समान होता है। कोई सच्चा प्रेमी किसी अन्याय को अपनी आँखों के सामने देखते हुए निश्चेष्ट नहीं बैठ सकता। घृणा और द्वेष की अपेक्षा प्रेम, सच्चा और प्रयोगात्मक प्रेम, एक कहीं

अधिक प्रबल शक्ति है। जो मनुष्य किसी भी अन्याय को दूर करने के लिए सच्चे प्रेम के साथ अपने स्वार्थ, अपने सर्वस्व और अपने प्राणों की आहुति देने के लिए प्रस्तुत हो जाता है और हँसते-हँसते कर्तव्य के नाम पर अनन्त कष्टों का सामना करने के लिए मैदान में निकल पड़ता हैं, उसकी शक्ति तोपों और बन्दूकों की शक्ति के सामने सर्वथा अजेय होती है। इस शक्ति का थोड़ा बहुत अनुभव हमें अपने अपने राष्ट्रीय संग्रामों मे हो चुका है। अतएव इसी एक मात्र अव्यर्थ शक्ति का हमें अपने इस कष्ट पीड़ित देश के उद्धार के लिए आश्रय लेना होगा।

"हमें यह भी स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि अपनी पराधीनता के एक-एक विभाग में हमारी ही शक्तियाँ हमारे प्रतिकूल कार्य कर रही हैं। विदेशी-व्यापार के प्रत्येक मद्द में, विदेशी शासन के प्रत्येक मोहकमें हम स्वयं ही अपनी बेड़ियाँ के वास्तविक गढ़नेवाले हैं। बिना भारतवासियों की सहायता के न विदेशी शासन भारत में स्थापित हो सकता था और न एक क्षण के लिए इस समय चल सकता है। जाने, अनजाने हमारा यह स्वार्थ और हमारा यह पाप ही के समस्त संकटों का मूल कारण है और उसी के द्वारा ये कष्ट आज भी अपना भयानक रूप प्रदर्शन करने में समर्थ बनाये जा रहे हैं। किन्तु इलाज भी स्पष्ट है। हमें अपने विनाश के साधनों से सहयोग करने के इस महापाप से अपने को तुरन्त मुक्त करना होगा।

"इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि असहयोग का यह मार्ग सर्वथा निष्कण्टक नहीं है। किन्तु संसार का कोई भी महान् कार्य बिना स्वार्थ-त्याग और कष्ट-सहन के सिद्ध नहीं हो सकता। कोई मनुष्य अथवा राष्ट्र बिना अपने पिछले पापों का प्रायश्चित किये धर्म और कल्याण के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकता। भारत के राजनैतिक उद्धार का इस समय यही एक मात्र मार्ग है। प्रत्येक भारतवासी के लिए सच्चे कर्तव्य पालन का यही एक मात्र पथ है।

"जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य से अपने जीवन में भूलों का होना स्वाभाविक और अनिवार्य है उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र के भी सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए। अपनी इन भूलों के दुष्परिणाम भी प्रत्येक व्यक्ति अथवा राष्ट्र को सहने ही पड़ते हैं किन्तु फिर भी भविष्य के लिए हम भारतीयों का हृदय आशा और विश्वास से

पूर्ण है। एक बार अपने कर्तव्य को समझ लेने पर हमें अपने देशवासियों के साहस और शक्ति में भी पूर्ण विश्वास है। हमें तो यहाँ तक विश्वास है कि आज-कल का आदर्शशून्य संतप्त संसार इन समस्त बातों में भारत से ही सच्चे मार्ग-प्रदर्शन की बाट जोह रहा है। अपने देश के अब तक के इतिहास को ध्यान-पूर्व देखते हुए हमें सन्निकट भविष्य में भारत और फिर स्वतन्त्र भारत के प्रताप-पूर्ण चरण उस भावी अपूर्व दिग्विजय की ओर स्पष्ट बढ़ते हुए दिखाई पड़ रहे हैं।"

८—चरखा अङ्कित तिरङ्गा झण्डा

स्वाधीनता-संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिए महात्मा गांधी ने जिस समय सत्याग्रह की प्रबल आँधी चला दी थी और राष्ट्रीय झण्डे की कल्पना को चरितार्थ करने के उद्देश्य से भिन्न-भिन्न प्रकार के झण्डों में समस्त देश के प्रतिनिधित्व का विचार कर रहे थे, उस समय उन्होंने राष्ट्रीय झण्डे के सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए थे—

"हर एक राष्ट्र के लिए अपनी राष्ट्रीय निशानी का—राष्ट्रीय झण्डे का—होना ज़रूरी है। दुनिया के इतिहास में अपने राष्ट्र के झण्डे को फहराता रखने के लिए, उसकी इज़्ज़त को आँच न आने देने के लिए, लाखों लोगों ने तोपों और तलवारों के सामने अपने प्राण निछावर किए हैं। यह एक ऐसी मूर्ति-पूजा है, जिसे मनुष्य-समाज में मिटा देना पाप होगा। क्योंकि झण्डा राष्ट्र की भावना का प्रतीक होता है। 'यूनियन जैक' के फहराते ही एक अंग्रेज़ के दिल में जो-जो भावनाएँ पैदा होती हैं, उनका अन्दाज़ लगाना कठिन है। 'भगवे झण्डे' पर निगाह पड़ते ही किसी भी मराठे की आँखों के सामने मराठाओं का पूरा महाराष्ट्र-धर्म, मावलाओं का आत्म-त्याग और शिवाजी का आत्म-बलिदान खड़ा हो जाता है। 'चाँद और तारा' इस्लाम के किसी भी मानने वाले को ऊँची-से-ऊँची बहादुरी दिखाने की प्रेरणा देने के लिए काफ़ी है।

"अगर हम इस चीज़ को समझ लें, तो अपने देश के लिए भी एक राष्ट्रीय झण्डे की ज़रूरत हमें आसानी से समझ में आ सकती है। हिन्दुस्तानियों का—हिन्दू, मुसलमान, पारसी ईसाई, यहूदी और जो-जो लोग हिन्दुस्तान को अपना वतन मानते हैं, उन सबका—एक सामान्य राष्ट्रीय झण्डा होना निहायत ज़रूरी

है, जिसे फहराने और फहराता रखने के लिए हम जिएँ और जिसे नीचे न गिरने देने के लिए हम अपने प्राण निछावर करें।"

"हमारे राष्ट्रीय झण्डे की भूमि पर दूसरे धर्म को जगह मिलनी चाहिए। अलबत्ता, हिन्दू-मुसलमानों की एकता में सिर्फ़ इन दो जातियों का ही समावेश नहीं होता। उसका दायरा बहुत बड़ा है। उसमें हिन्दुस्तान के सारे धर्मों की एकता की भावना आजाती है। अगर हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के साथ प्रेम का बर्ताव कर सकें, तो वे दोनों मिलकर हिन्दुस्तान के दूसरे धर्मों के लोगों के साथ ज़रूर प्रेम का वर्ताव करेंगे। यह एकता हिन्दुस्तान या दुनिया के दूसरे धर्मों के लिए कभी दहशत साबित नहीं होगी। इसलिए मेरा सुझाव है कि हमारे राष्ट्रीय झण्डे की भूमि सफ़ेद, हरी और लाल रहे। सफ़ेद रङ्ग दूसरे धर्मों की नुमाइन्दगी करेगा।"

"सबसे कम तादाद वालों का रङ्ग सबसे पहले हो। मुसलमानी रङ्ग दूसरा और हिन्दुओं का रङ्ग सबसे आखीर में रहे। इसका मसलब यह होगा कि जो ज़्यादा ताकतवर हों, वे सबसे कम ताक़तवालों की ढाल बनकर रहें। इसके अलावा सफ़ेद रङ्ग पवित्रता और शान्ति को भी बताता है। हमारे राष्ट्रीय झण्डे में ये दो चीज़ें न हों, तो उसका कोई मतलब ही न रह जाय और हममें से छोटे से छोटे की बड़े से बड़े के साथ समानता दिखाने के लिए इन तीन रङ्गों को हमारे राष्ट्रीय झण्डे में एक-सी जगह दी जायगी।"

"लेकिन राष्ट्र के नाते हिन्दुस्तान सिर्फ चरखे के लिए ही जी सकता है और मर सकता है। इस देश की किसी भी बूढ़ी स्त्री से जाकर आप पूछिए। वह आपको तुरन्त कहेगी कि जिस दिन से हिन्तुस्तान में चरखा खतम हुआ, उसी दिन से यहाँ दुःख और कंगाली ने घर कर लिया, और हमारा सारा सुख और सारी दौलत गायब हो गई। सारे हिन्दुस्तान की स्त्री जाति और आम लोग तो चरखे को फिर से जिन्दा करने के महत्व को आज अच्छी तरह समझ गये हैं। हिन्दुस्तान की प्रजा उसे आज के संकट में जीवन देने वाला अमृत समझती है। गरीब औरतें चरखे को अपनी पवित्रता का रक्षक मानती हैं। मुझे जितनी विधवा बहनें मिलीं, उन सबने इस पुराने साथी का फिर से उद्धार करने के लिए मुझ पर आशीर्वादों की झड़ी लगा दी।। चरखे को फिर जिन्दा करके ही आज

हिन्दुस्तान के करोड़ों भूखों की भूख मिटायी जा सकती है।

"१६०० मील लम्बे और १५०० मील चौड़े विशाल हिन्दुस्तान में मशीनों के जरिये उद्योग धन्धे बढ़ाने की कोई भी योजना आम लोगों की दिन-दिन बढ़नेवाली कंगाली को दूर नहीं कर सकती। हिन्दुस्तान कोई छोटा-सा देश नहीं है। यह एक विशाल महाद्वीप है। इसे इङ्गलैण्ड की तरह कारखानों का जाल कभी नहीं बनाया जा सकता। यह बात हमें कभी न भूलनी चाहिए। और अपनी जरूरतों से हजार गुना ज्यादा माल तैयार करके, उसके जोर पर दुनिया को चूसने की किसी भी योजना का हमें निश्चय के साथ सामना करना चाहिए। आज हमारी एक मात्र आशा यही होनी चाहिए कि हम लोगों के बर्बाद होने वाले समय को गाँवों के हर झोपड़े में कपास से कपड़ा तैयार करने में लगायें और देश की दौलत को बढ़ायें। हिन्दुस्तान के आम लोगों के जीवन में चरखे को उतना ही जरूरी मानता हूँ, जितना कि हवा, पानी और खुराक को।

"इसके सिवा, चरखा जितना हिन्दू के लिए फायदेमन्द है, उतना ही मुसलमान के लिए भी। बल्कि मैं तो हिन्दुओं की बनिस्बत मुसलमानों को ज्यादा उत्साह से चरखे को अपनाते देखता हूँ। इसका कारण है। मुसलमान औरतें परदानशीन होती हैं। चरखा चलाकर वे अपने पति के माली बोझ को थोड़ा हलका कर सकती हैं। इस तरह चरखा ही हिन्दुस्तान के लोगों की जिन्दगी का सबसे ज्यादा कुदरती और महत्व का साधन है। उसके जरिये हम सारी दुनियां को आज यह जाहिर करते हैं कि खाने और कपड़े के बारे में तो हमने पूरी तरह आजाद और स्वावलम्बी बनने का निश्चय ही कर लिया है। मुझे आशा है कि जिस-जिस के गले मेरी यह बात उतरेगी, वह अपने घर में तुरन्त चरखा दाखिल करेगा और मेरे ऊपर बताये हुए नमूने का एक-एक राष्ट्रीय झण्डा भी घर में रखेगा।

"मुझे यह कहने की तो कोई जरूरत नहीं मालूम होती कि यह झण्डा खादी का ही होना चाहिए। क्योंकि खादी जैसे मोटे और सादे कपड़े का सर्वमान्य करके ही हम हिन्दुस्तान को कपड़े के बारे में विदेशी बाजारों के पंजे से छुड़ा सकेंगे। मैं तो हिन्दुस्तान के अलग-अलग धार्मिक पंथों और सम्प्रदायों से भी बिनती करता हूँ कि अगर उन्हें मेरी बात जँचे, तो वे अपने-अपने साम्प्रदायिक

झण्डों में– मिसाल के तौर पर खिलाफ़त पार्टी के झण्डे में-बाईं तरफ़ के ऊपरी कोने में इस राष्ट्रीय झण्डे को छोटे आकार में जरूर जगह दें दूसरे एक से नाप के सारे राष्ट्रीय झण्डों में सामान्य नाप के पूरे चरखे की तसवीर होनी चाहिए।"

इन समस्त बातों से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय झण्डे की कल्पना का आधार जातीय था। इसीलिए लाहौर के अधिवेशन में सिखों ने इस पर आपत्ति उठाई। कराँची के अधिवेशन में इस विरोध को और भी अधिक बल मिल गया। परिणाम यह हुआ कि सन् १९३१ में 'राष्ट्रीय झण्डा समिति' बनाई गई, जिसने काँग्रेस समिति को एक नये झण्डे की कल्पना दी। किन्तु वह कल्पना पसन्द न की गई अन्त में पूर्ण रूप से विचार करने के बाद यह घोषित किया गया कि राष्ट्रीय झण्डा पहिले के समान ही तीन रंग का और उसी आकार का होगा। उसके रंग क्रमशः इस प्रकार होंगे–ऊपर केसरिया, नीचे हरा और बीच में सफ़ेद। सफ़ेद पट्टी के बीच में गहरा नीले रंग का चरखा होगा। रंग गुणों के ही सूचक होंगे। उनसे भिन्न-भिन्न जातियों के प्रतिनिधित्व का अर्थ न लिया जायगा।

साहस और बलिदान का सूचक केसरिया रङ्ग होगा। शान्ति तथा सत्य का सूचक सफ़ेद रंग माना जायगा। श्रद्धा और वीरता का प्रतीक हरा भरा रंग होगा और 'चरखा' जनता की आशाओं का प्रतिनिधित्व करेगा। झण्डे की लम्बाई और चौड़ाई का अनुपात ३:२ का होगा। इस प्रकार के रंगों के अर्थ में परिवर्तन कर 'तिरंगा झण्डा' हमारा 'राष्ट्रीय झण्डा' स्वीकृत हुआ। उसी समय से हमारा 'राष्ट्रीय झण्डा' माना चला आ रहा है। इसके सम्मान की रक्षा के लिए जो बलिदान और त्याग भारतीय जनता ने किया है, वह अपूर्व है और वह भारत के इतिहास में अमर रहेगा।

६—स्वतन्त्र भारत का राष्ट्रीय झण्डा

इसमें सन्देह नही कि राष्ट्रीय झण्डा हमारे स्वाधीनता-संग्राम में सर्वदा प्रेरणा देता रहा है। ब्रिटिश सरकार जैसी शक्तिशालिनी और कपट-नीति वाली सरकार का दृढ़ता के साथ सामना करने का बल हमने इसी से प्राप्त किया है। इसी के अखण्ड पुण्य-प्रताप से पराधीनता की बेड़ियों से भारत छुटकारा पाकर स्वतन्त्र हो गया। भारत का शासन उन दलों और मतों के लोगों के हाथ में आया जो

नागरिक कहे जाते हैं। यही कारण था कि यहाँ के किसी दल विशेष का झण्डा यहाँ की सरकार को मान्य नही हो सकता था। इसीलिए भारतीय संघ-विधान-परिषद् के अध्यक्ष ने स्वतन्त्र भारत के राष्ट्रीय झण्डे का रूप निर्धारित करने के लिए एक समिति नियुक्त की।

पूर्णरूप से विचार कर लेने के बाद इस समिति ने नवीन राष्ट्रीय झण्डे का रूप निश्चित किया और पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने २२ जुलाई सन् १९४७ ईसवीं को विधान परिषद् में उत्साह बढ़ाने वाली जोरदार तालियों और 'गाँधी जी की जय' के नारों के बीच तिरंगा और बीच में अङ्कित अशोक-चक्र या धर्म-चक्र वाला भारत का झण्डा उपस्थित किया। उपस्थित सदस्यों को झण्डा दिखाने के बाद पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अपने प्रभावशाली भाषण में कहा--

"यह बड़े गर्व की बात है कि आज जिस झण्डे को हम आपके बीच प्रस्तुत कर रहे हैं वह किसी साम्राज्य का झण्डा नहीं है। वह साम्राज्यवादी झण्डा नहीं है। वह दूसरे राष्ट्र पर प्रभुत्व स्थापित करने का झण्डा नहीं है, बल्कि वह सब के लिए स्वतन्त्रता का प्रतीक है। जहाँ भी यह झण्डा जायगा-और मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह झण्डा केवल वहीं नहीं जायगा जहाँ भारतीयरहते हैं अथवा हमारे राजदूत रहेंगे, बल्कि दूर, बहुत दूर हमारे जहाजों पर लहराता हुआ यह झण्डा जायगा और इस झण्डे के द्वारा हम यह सन्देश देंगे कि भारत सारे संसार का मित्र होकर रहना चाहता है और जो देश गुलाम हैं उन्हें आज़ाद होने में सहायता पहुंचाना चाहता है। यह झण्डा आज़ादी, दोस्ती, आशा और बन्धुत्व का प्रतीक है। यही झण्डा हमारा राष्ट्रीय गौरव है।"

"इस झण्डे के पीछे एक इतिहास है। यह राष्ट्रीय संघर्ष का सूचक है। यह केवल राष्ट्र के जीवन का सूचक नहीं है, बल्कि इससे ज्ञात होता है कि हम किस लिए जीवित हैं। विगत पच्चीस वर्षों में हम लोगों ने जो कुछ किया, उसका यह जीवित प्रतीक है। इसके साथ हमारी भावनाएँ, इच्छाएँ और मनोकामनाएँ विजड़ित हैं। विगत पच्चीस वर्षों का इतिहास, परम्पराएँ, संघर्ष, आजादी की भावना और पवित्र संस्मरणों का यह परिचायक है। इस झण्डे को देखकर पुरानी बातें याद हो आती हैं। हमने राष्ट्रीय आज़ादी के लिए संघर्ष किया। कभी-कभी ऐसा भी अवसर उपस्थित हो जाता था जब हम हतोत्साह हो उठते थे किन्तु इस झण्डे

की ओर देखकर हमारे मन में पुनः आशा पैदा हो जाती थी। हमारे पैर आगे बढ़ते थे। सब प्रकार की असुविधाओं, कठिनाइयों और परेशानियों को झेलते हुए हम इस परिस्थिति में हैं कि मैं आज यह प्रस्ताव विधान-सभा में पेश कर रहा हूँ। यह झण्डा हमारे सफल संघर्ष का सूचक है।

"मैं अनुभव करता हूँ और आप लोग भी महसूस करते होंगे कि कई प्रकार से इस विजय की खुशी में बाधा पहुँची है। विगत कुछ महीनों के भीतर हमारे देश में ऐसी घटनाएँ हुई हैं जिनसे आप, हम और सभी लोग दुःखी हैं। हमारा प्रिय देश विभक्त हो गया है। बहुत-से लोग आज निराश्रित होकर इधर-उधर भटक रहे हैं। बहुत सी ऐसी बातें भी हुई हैं जिनकी चर्चा मैं इस समय यहाँ नहीं करना चाहता। किन्तु इन घटनाओं को हम कभी नहीं भुला सकते। मञ्जिल के निकट पहुँच कर हमें ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ा जिसने हमें बहुत निराश किया। बड़े-बड़े सवाल पैदा हो गये हैं जिन्हें भविष्य में हमें हल करना है। फिर भी निस्सन्देह यह घड़ी हमारे सफल संघर्ष का सूचक है।"

"एक बहुत ही शक्तिशाली साम्राज्यवादी देश का प्रभुत्व हमारे देश पर स्थापित था। आज उस देश का शासन समाप्त हो रहा है। हम स्वाधीन हो रहे हैं। यह एक बहुत बड़ी विजय है। हमारा महान् उद्देश्य पूरा हो रहा है। इस बात में अब कोई सन्देह नहीं है कि हमारा उद्देश्य पूरा होगा। यह सत्य है कि जो हम चाहते थे वह पूरा अभी हमें नहीं मिला। कुछ बातें ऐसी भी हो गई हैं जो हमें न पसंद हैं। किन्तु इसके साथ-ही-साथ यह भी अनुभव करना चाहिए कि जो हमारी आकाँक्षाएँ थीं उन्हें पूरा करने के लिए अब मौक़ा मिलेगा, स्वप्न पूरे होंगे—यह निश्चत है। किन्तु एक राष्ट्र के जीवन में सारी आकाँक्षाएँ एक साथ ही पूरी नहीं हो जातीं। संसार के इतिहास में इस प्रकार के बहुत-से उदाहरण भरे पड़े हैं।

"पुरातन युग की बात जाने दीजिए। कुछ वर्ष विश्व-युद्ध की ज्वाला संसार में जल रही थी और मानव-समाज नाना प्रकार की कठिनाइयों में फँस गया था। जिन लोगों ने यह घोषणा की थी कि स्वतंत्रता और लोक-तंत्रवाद के लिए वे युद्ध में शामिल हैं, उनकी विजय हुई। किन्तु युद्ध समाप्त होने के बाद तत्काल नये युद्ध की चर्चा शुरू हो गई। तीन दिन पूर्व हमें बर्मा के नेताओं की पाशविक

हत्या के सम्बन्ध से दुःख-जनक ख़बर मिली और आज हम लोगों ने समाचार-पत्रों में पढ़ा कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के एक हमारे साथी देश पर एक साम्राज्यवादी देश ने आक्रमण कर दिया।"

"अभी संसार में स्वतंत्रता का अभाव है और सारे राष्ट्र आज़ादी के लिए संघर्ष कर रहे हैं। फलतः इस परिस्थिति में यदि जो हम चाहते थे, वह नहीं मिला तो दुःखी अथवा निराश होने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसमें कोई आश्चय भी नहीं है। हमें शर्म करने की कोई ज़रूरत नहीं है। हमने जो कुछ प्राप्त किया है, वह नगण्य नहीं है। यह एक बड़ी सफलता है। यह हमारी बड़ी विजय है। सारे देशों के सम्मुख बड़े-बड़े सवाल हैं। हमें भी बहुत-से प्रश्नों को हल करना है। आज जो सफलता हमें मिली है उसके आधार पर हम आगे बढ़ेंगे। जो लोग जनता को निराश कर रहे हैं, वे राष्ट्र का अहित कर रहे हैं।"

"कुछ लोगों ने इस झण्डे को साम्प्रदायिक कह कर भ्रम फैलाने की कोशिश की है। कुछ लोगों ने यह कहा है कि इसके एक भाग से अमुक जाति का बोध होता है और दूसरे भाग में दूसरी जाति का। किन्तु जब यह झण्डा तैयार किया था। हमने अपने प्रिय राष्ट्र के लिये एक खूबसूरत झण्डा बनाने की कोशिश की थी क्योंकि राष्ट्र का प्रतीक खूबसूरत होना चाहिए। इस झण्डे के रंगों से हमारी हज़ारों वर्ष की राष्ट्रीय परम्परा प्रकट होती है। कलात्मक दृष्टि से यह संसार का बहुत ही सुन्दर झण्डा है।"

"इस झण्डे में थोड़ा-सा परिवर्तन किया गया है। अशोक का चक्र पुरातन भारतीय संस्कृति का ही सूचक नहीं है, बल्कि उससे हमें यह भी ज्ञात होता है कि हमारे पुरातन उद्देश्य थे। फलतः हम लोगों ने चरखे के स्थान पर अशोक के चक्र को झण्डे में स्थान दिया है और मुझे व्यक्तिगत रूप से इस बात से बड़ी खुशी है कि हमारे राष्ट्रीय झण्डे के साथ महान् अशोक का नाम भी जुड़ गया है। अशोक का नाम भारत में ही नहीं, बल्कि संसार के इतिहास में विशेष उल्लेखनीय है।"

"भारत का आश्चर्यजनक बल इसी में है कि उसमें ग्रहण करने की शक्ति है और वह समय की गति के अनुसार अपने को बना लेता है। किसी भी राष्ट्र अथवा जाति के लिए यह सोचना मूर्खता है कि संसार के अब अच्छे गुण और

सारा सत्य उसी में है। ऐसा सोचने पर कोई भी व्यक्ति या राष्ट्र आगे नहीं पनपता बल्कि उसकी अवनति होनी शुरू हो जाती है। भारत का सबसे महान् समय वह था जब उसने अपने हाथ बाहर फैलाये थे, जब उसने अपने राजदूतों व्यापारियों आदि को विदेशों में भेजा जाता था और अपने विदेशी राजदूतों को अपने यहाँ बुलाया था। अशोक का समय भारतीय इतिहास के लिए एक अन्तराष्ट्रीय युग था जब कि भारतीय दूत और सन्देश-वाहक सुदूर देशों में साम्राज्यवाद की भावना से नहीं, बल्कि शान्ति, संस्कृति और सद्भावना फैलाने के लिये गये थे।"

इसके कुछ ही दिनों बाद इस राष्ट्रीय झण्डे के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रकार की आलोचनाएँ होने लगीं। उन सब आलोचनाओं का उत्तर देते हुए पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था--"सर्वप्रथम झण्डे का चुनाव बड़े विचार-विमर्श के बाद किया गया था और रंगों का सजाव बड़े कलात्मक ढंग से सुन्दरता-पूर्वक किया गया है। चरखा झण्डे की महत्ता और बढ़ा देता है। अब चूँकि पूर्ण चरखा झंडे में अंकित नहीं है अतएव यह समझना भूल होगी कि हमने चरखे अथवा इसके दृष्य का परित्याग कर दिया है।

"विधान-सम्मेलन के प्रस्ताव में यह बात स्पष्ट रूप से कही गई थीं कि केन्द्र में स्थित चक्र चरखे का ही द्योतक है। चरखे के प्रतीक इस चक्र में चरखे के ही भाव निहित हैं और वास्तव में यह उसी बिचार की एक शृङ्खला-मात्र है जिसको कि झण्डे के अनुरूप बनाने के लिए एक कलात्मक रूप दे दिया गया है। चक्र के इस रूप के सम्बन्ध में एकाएक निर्णय नहीं किया गया, बल्कि इसको अशोक की राजधानी में स्थित चक्र से अपनाया गया है। यह चक्र भी अशोक का कोई आविष्कार नहीं है। यह अशोक से भी पुराना है। किन्तु चूँकि यह अशोक से सम्बन्धित था और उसके स्तम्भों पर अङ्कित था--इस बात ने हमें इसे अपनाने के लिए अलग से प्रेरित किया। आगे जो यह सुझाव पेश किया गया है कि चक्र को काफ़ी बड़ा होना चाहिए था और उसे भगवा तथा हरी पट्टियों तक फैला होना चाहिए था, वह इस बात का द्योतक है कि झण्डे की सम्पूर्ण कलापूर्ण रूपरेखा को भली-भाँति हृदयङ्गम नहीं किया गया है। चक्र को बड़ा रखने से सम्पूर्ण झण्डा नष्ट हो जाता।

"अतएव इस प्रकार अपनाया गया राष्ट्रीय झण्डा हमारी समस्त आवश्य-कताओं की पूर्ति करता है। यह सुन्दर और अत्यन्त कलापूर्ण है। वास्तव में यह

हमारे संग्राम और विजय का झण्डा है। यह भारत की जनता का प्रतिनिधित्व करता है और साथ ही साथ आधुनिक होने के नाते यह हमें प्राचीन भारत की संस्कृति की ओर ले जाता है। इस प्रकार यह झण्डा भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता तथा आधुनिक भारत की उग्र भावनाओं का प्रतीक है।"

राष्ट्रीय झण्डे के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए श्री सम्पूर्णानन्द जी ने कहा था--"यह झण्डा करोड़ों भारतीयों की आशाओं, लाखों भारतीयों के उच्छ्वासों, सहस्रों हुतात्माओं के पवित्र रक्त के छींटों की प्रतिमा है। हमें यह न भूलना चाहिए कि बलिवेदी पर चढ़ने वालों में बहुत सी संख्या हिन्दुओं की थी। इसीलिए यह हमें प्यारा है।"

"चक्र बहुत प्राचीन प्रतीक है। चक्र विष्णु का वह दिव्यास्त्र है जिससे वह दिग् दिगन्त में असुरों का संहार करके धर्म की मर्यादा की रक्षा करते थे, चक्र धर्म का मूर्त विग्रह है। चक्र उन भगवान् भास्कर का द्योतक है जिनके लिए श्रुति कहती है--'सूर्य आत्मा जगतः तस्थुषश्च।' क्या कोई ऐसा भी हिन्दू है जो चक्र की पवित्रता को, उसके ध्वनितार्थ को स्वीकार नहीं करता? भगवान् शंकर ने विष पान करके अपने को नील-कण्ठ बना लिया। चक्र के नीले रंग से हमको लोक-संग्रह की इस अनुत्तर भावना की स्फूर्ति मिलनी चाहिए।

"हमारा झण्डा हमारी संस्कृति के अनुरूप है। भगवान् हमको ऐसा बल दें कि हम उसके योग्य बन सकें। यों तो वह समूचे राष्ट्र के आदर का पात्र है, परन्तु हिन्दुओं पर एतत्सम्बन्धी-दायित्व बहुत बड़ा है। मुख्यतया उनके ही उद्योग का यह फल है कि हम इसी पृथ्वी के दूसरे स्वतन्त्र देशों के झण्डों के बराबर लहराते हैं। अतः इसकी मर्यादा की रक्षा का दायित्व विशेष रूप से उन पर ही है।"

१०—भारतीय संस्कृति की विलक्षणता

यह हम बतला चुके हैं कि अंग्रेजी राज्य की स्थापना होते ही समस्त देश विश्व-व्यापी मानसिक आर्थिक और राजनैतिक शक्तियों के चक्र में पड़ गया। विप्लवकारी राजनैतिक परिवर्तन ने जीवन के सब अंगों को धीरे-धीरे अपने अधिकार में कर लिया। समस्त भारतवर्ष में यूरोपियन संस्कृति का वह प्रभाव प्रारम्भ हुआ जो अब तक दृष्टिगोचर हो रहा है। पूर्वी और पश्चिमी संस्कृतियों का सम्पर्क और संघर्ष एशिया के समस्त देशों में दिखाई दे रहा है। रेल, जहाज,

विमान, तार, बेतार, छापा आदि वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण अब एक संस्कृति किसी दूसरी संस्कृति पर बड़ी शीघ्रता से बड़ा गहरा प्रभाव डाल सकती है। इस समय संसार की समस्त जातियाँ एक दूसरे के निकट आने को उत्सुक हैं और आने भी लगी हैं। कहीं कोई एक दूसरे का अनुकरण कर रही है और कहीं एक दूसरे से घृणा कर रही हैं। ऐसी दशा में भविष्य भारतवर्ष की संस्कृति क्या रूप धारण करेगी-इसे निश्चयपूर्वक कह सकना बड़ा ही कठिन है।

स्वतन्त्र भारत के राष्ट्रीय झण्डा, स्वाधीनता-संग्राम की नवीन योजना, चरखा अङ्कित तिरंगा झण्डा आदि के सम्बन्ध में जो कुछ दिग्दर्शन कराया गया है उससे स्पष्ट है कि भारतवर्ष में अभी तक प्राचीन संस्कृति के लक्षण वर्तमान हैं और उनकी यही स्थिरता आशा दिलाती है कि भविष्य में भी ऐसे ही अथवा किसी परिवर्तित रूप में ये सब वर्तमान रहेंगे। हम यह देख रहे हैं कि इस समय तक भारतवर्ष में प्राचीन धर्म प्रचलित हैं, प्राचीन सामाजिक व्यवस्था को सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त हैं, प्राचीन साहित्य का अध्ययन और अनुशीलन हो रहा है और जीवन का दृष्टि-कोण भी अनेक अंशों में प्राचीन-सा ही है। हाँ, हम यह भी देख रहे हैं कि इनमें कुछ-न-कुछ परिवर्तन अवश्य होने लगे हैं जिनसे प्राचीन संस्कृति को एक प्रकार नवजीवन-सा ही प्राप्त हो रहा है।

भारतीय संस्कृति ने अपने को समय के अनुकूल बनाने की शक्ति पहिले भी दिखाई थी। इसी आश्चर्यजनक शक्ति ने इसको आजतक जीवित रखा और आज भी यही शक्ति इसे आगे बढ़ा रही है। गत सौ वर्ष में इसकी यह अनुकूलन शक्ति अनेक रूपों में प्रकट हुई है। धर्म और समाज के क्षेत्र में ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज और प्रार्थना-समाज आदि के प्रभावशाली आन्दोलन इसी अनुकूलन शक्ति के द्योतक हैं। समस्त समाज में विदेश-यात्रा, खान-पान, जाति-पाँति, विवाह की आयु इत्यादि के सम्बन्ध में जो भाव परिवर्तित हुए हैं वे भी अनुकूलन शक्ति के प्रताप से समझना चाहिए। सभी दिशाओं में राजनैतिक जागृति हो रही है, आचार-व्यवहार में कुछ नवीन-नवोन सुधारों पर ध्यान दिया जाने लगा है। वेदों के अथवा उपनिषदों के कुछ सिद्धान्तों को लेकर नये धार्मिक समाज बनाये जाने की योजनाएँ तैयार की जाने लगी हैं। जीवन को सुख और शान्ति लाभ कराने के लिए गीता आदि के नये अर्थ हो रहे हैं। समाज-सुधारक भी प्रायः किसी न किसी प्राचीन

वाक्य को लेकर ही सुधार के कार्य किया करते हैं। साहित्य के क्षेत्र में कवियों की भावमयी कविताओं में प्राचीन अध्यात्मविद्या और तत्त्व-ज्ञान का प्रभाव सर्वत्र दिखाई पड़ रहा है। प्राचीन भारत के तत्त्व-ज्ञान का प्रभाव तो यूरोप पर भी पड़ चुका है। वहाँ के अनेक प्रसिद्ध तत्त्व-ज्ञानी भारतीय तत्त्व-ज्ञान के सामने अपना मस्तक झुका चुके हैं।

इसीलिए हमें यह कहना पड़ता है कि जो संस्कृति, कम से कम चार हज़ार वर्ष की होने पर भी आज तक जीवित है और इस विशाल देश के समस्त भागों में पूर्णरूप से प्रचलित है तथा जिसके अनेक सिद्धान्त देश-देशान्तर में फैले हुए हैं एवं जिसने स्थिरता, अनुकूलन और परिवर्तन का ज्वलंत संयोग दिखाया है, वह निस्सन्देह संसार की प्रधान सभ्यताओं में गिनी जायगी। सत्य बात तो यह है कि प्राचीन भारतवर्ष की संस्कृति सर्वथा अद्भुत और अनुपम है। मिश्र, बैबिलन ऐसरिया, मीडिया, फ़ारस, ग्रीस और रोम में भी बड़ी-बड़ी संस्कृतियाँ प्राचीन-काल में उत्पन्न हुईं किन्तु वे सब सर्वभक्षी काल के गाल में समा गईं। इस समय जो संस्कृतियाँ यूरोप अथवा अमेरिका या पश्चिमी एशिया में प्रचलित हैं वे अभी कल उत्पन्न हुई हैं। हाँ, यह मान सकते हैं कि चीन की संस्कृति निस्सन्देह प्राचीन है किन्तु उसका प्रभाव प्राचीन भारतवर्ष की संस्कृति के समान नहीं रहा और उस पर बाहिरी प्रभाव भी अधिक पड़ चुका है। संसार के इतिहास में प्राचीन भारतवर्ष की संस्कृति अपना एक विलक्षण स्थान रखती है।

११—मुसलमानों के समय भारतीय संस्कृति

ईसवी सन् बारहवां-तेरहवीं शताब्दी में प्राचीन भारतवर्ष की संस्कृति का सामना पश्चिमी एशिया की ऐसी प्रबल शक्तियों से हुआ कि सर्वदा के लिए उसकी प्रगति में परिवर्तन हो गया, उसके विकास का क्रम अस्तव्यस्त हो गया और उसका क्षेत्र भी अधिक संकुचित हो गया। पैग़म्बर मुहम्मद के समय से ही मुसलमानों में ऐसा धार्मिक आवेश था कि फ़ारस, ग्रीस, स्पेन, भारतवर्ष, चीन आदि किसी भी देश की संस्कृति उनको अपने में न मिला सकी। इस्लाम ने खुदा की एकता, मुहम्मद की पैग़म्बरी, कुरान की सच्चाई, बेहिश्त और दोज़ख़ (स्वर्ग और नरक) आदि के इतने कठोर और स्पष्ट सिद्धान्त रखे थे और लोक-परलोक के लिये ऐसा

निश्चित सुसम्बद्ध तत्त्व-ज्ञान बना लिया था कि वह किसी भी संस्कृति का सामना कर सकता था।

इन सबके अतिरिक्त भारतवर्ष में आकर भी मुसलमानों ने अन्य मुसलमान देशों से राजनैतिक तथा अन्य सम्बन्ध बनाये रखे। यदि इस्लाम विश्व-व्यापी अथवा एशियाई धर्म न रहता और केवल भारतीय धर्म हो जाता तो निसन्देह कई शताब्दियों के धीरे-धीरे भारतीय संस्कृति के धर्म में एकदम लीन हो जाता। किन्तु पश्चिमी एशिया के सम्पर्कों के ही कारण इस्लाम ने, प्राचीन भारतवर्ष की संस्कृति के धर्म का कुछ प्रभाव ग्रहण करने पर भी अपना व्यक्तित्व नहीं छोड़ा। साथ-ही-साथ मुसलमानों की राजनैतिक प्रधानता के कारण भी भारतीय संस्कृति के लिए असम्भव था कि वह इस्लाम को अपने में मिला सके।

भारतवर्ष के इतिहास में प्रथमवार भारतीय संस्कृति के सामने यह कठिनाई उपस्थित हुई कि वह देश के कुछ निवासियों को अपने साँचे में ढाल सकने में असमथ थी। दूसरों को अपने साँचे में ढाल सकना तो दूर रहा, अब तो राजनैतिक प्रभुता हो जाने पर भारतीय संस्कृति को अपनी रक्षा के नवीन-नवीन उपाय खोजने पड़े। अब तक ऐसी विकट समस्या भारतवासियों के सामने उपस्थित नहीं हुई थी। इसके सुलझने के लिए भारतवासियो न कुछ प्राचीन जाति-पाँति और छुआ-छूत के नियम अधिक कठोर कर दिये। पुरोहितों का प्रभाव और भी बढ़ा दिया। मारे भय के भारतीय समाज कुछ प्राचीन सिद्धान्तों से ऐसा चिपट गया मानों वही उसके जीवन के एक मात्र आधार थे।

इसके अतिरिक्त विदेश-यात्रा इत्यादि का निषेध करके अभारतीयों को भारतीय बनाने के अति प्राचीन परपाटी का निराकरण करके, भारतीय संस्कृति ने अपनी रक्षा के लिए अपने को अपने में ही लपेट लिया। यह आग्रह उस अनुकूलन शक्ति का नूतन अनोखा रूप था जिसका उपयोग भारतीय संस्कृति ने नवीन परिस्थितियों के समय किया था। इसका मूल मंत्र आक्रमण करना नही था बल्कि दूसरो के आक्रमण से अपनी रक्षा करना था। नये अनुकूलन में अधिक प्रभाव नहीं था किन्तु हठ बड़ा कठोर था। उस समय दृष्टि भविष्य की ओर नहीं थी, उसका समस्त ध्यान अतीत की ओर था। उस समय समस्त भारतवासी नैराश्य को

अपनाकर केवल भाग्य पर ही विश्वास करने लगे थे।

ऐसे ही समय में भारतवासियों के विदेशी सम्बन्ध प्रायः विच्छिन्न हो चुके थे नये उपनिवेष बसाना उनकी शक्ति के बाहर की बात हो गई थी क्योंकि अपने ही बसाये हुए उपनिवेशों से सम्बन्ध रखना भी असम्भव था। जिस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य, बिन्दुसार, अशोक, हर्षवर्धन और पुलकेशिन् ने विदेशी राजाओं से सम्पर्क स्थापित किये थे, उस प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करने का कोई प्रश्न हीं न था। दूसरे देशों में अपनी संस्कृति फैलाने का उद्योग एकदम बन्द हो गया। विदेशी व्यापार भी भारतवासियों के हाथ से निकल गया और साधारण विदेशी-यात्रा भी बन्द हो गई। कई शताब्दियों तक किसी भारतीय ने भारतवर्ष के बाहर पैर नहीं रखा। जातियों और संस्कृतियों के पारस्परिक सम्पर्क से जो नये-नये विचार और भाव उत्पन्न होते हैं, ज्ञान अथवा संगठन में जो नवीन आविष्कार होते हैं, विद्या और जीवन की जो स्वाभाविक आलोचना होती है, उससे भारतीय संस्कृति वंचित हो गई। जो थोड़े से परिवर्तन हुए वे देश के भीतर की मुसलमान-संस्कृति के सम्पर्क से ही। ऐसी परिस्थिति में भारतीय संस्कृति की गति कूप-मण्डूक के ही समान हो गई। स्वतंत्र विकाश और प्रसार के समस्त मार्ग रुक गये तथा बल और प्रभाव भी कम हो गये।

फिर भी यह समझ लेना चाहिए कि मुसलमानों की बिजय के बाद भी प्राचीन भारतवर्ष की संस्कृति मरी नहीं। सच कहा जाय तो इस संस्कृति का अन्त कभी हुआ ही नहीं। इसीलिए वह आज भी स्वस्थ और जीवित है और जब कि स्वतंत्र भारत के राष्ट्रीय झण्डे में धर्मचक्र को स्थान मिल गया है तब से इसमें नवीन स्फूर्ति का संचार भी शीघ्रता से होने लगा है। ईसवी सन् की तेरहवीं शताब्दी से भारतवर्ष के इतिहास का मध्यकाल आरम्भ होता है जो लगभग अठारहवी शताब्दी तक अपना प्रभुता स्थापित किये रहा। उसके आरम्भ काल की राज्य-क्रान्ति, पराजय और संकोच के बाद भी प्राचीन भारतवर्ष की संस्कृति का प्रभाव समस्त देश में व्यापक बना रहा।

१२—मुसलमानों के समय भारतीयशासन

सर्व प्रथम उस समय के राजनैतिक क्षेत्र पर दृष्टि डालनी चाहिए। धुर दक्षिण में मुसलमानों के आक्रमण के बाद चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में शक्ति-

शाली विजयनगर-साम्राज्य स्थापित हुआ जो १५६५ ईसवी तक बना रहा। उसके पतन के बाद भी इधर उधर के प्रान्तों में भिन्न-भिन्न हिन्दू राजा राज्य करते रहे। सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दियों में कुछ हिन्दू नरेशों का सम्पर्क अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों से हुआ। अठारहवीं शताब्दियों की कूटनीतियों की और लड़ाइयों का उल्लेख हम पहिले ही कर चुके हैं। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में मद्रास प्रान्त अंग्रेजों के अधिकार में आया किन्तु उन्होंने प्राचीन भारतवर्ष के शासन और संस्कृति की अनेक बात अङ्गीकार कर लीं। उदाहरण देने के लिए कहना पड़ रहा है कि ज़मीन का जो बन्दोबस्त आज मद्रास में प्रचलित है वह चोल और विजयनगर-साम्राज्यों के सिद्धान्तों पर अवलम्बित है। अनेक प्रकार के हेर-फेर हो जाने पर भी प्रान्तीय शासन में आजतक प्राचीन भारतवर्ष के शासन और संस्कृति के चिह्न वर्तमान हैं। धुर दक्षिण में ट्रावनकोर को छोड़कर मैसूर का एक विशाल हिन्दू-राज्य और कोचीन, पुडूकोटा आदि छोटे-छोटे हिन्दू-राज्य अंग्रेजों के भारत छोड़कर जाने के समय तक वर्तमान थे।

कृष्णा नदी के उत्तर में ईसवी सन् की चौदहवीं शताब्दी में दक्षिणी मुसलमान शासकों ने दिल्ली की अधीनता का निराकरण करते हुए स्वाधीनता का अवलम्बन किया। हसनगंगू के नेतृत्व में बहमनी साम्राज्य स्थापित हुआ जो सन् १५१८ या ऐसा कहना चाहिये कि सन् १५२६ तक स्थिर रहा। जब वह आन्तरिक मतभेदों के कलह के कारण छिन्न-भिन्न होगया तब पाँच मुसलमानी राज्य प्रकट हुए। बिदार, बरार, अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा ये उन्हीं राज्यों के नाम हैं; जो सत्रहवीं के भिन्न सनों तक अर्थात् उत्तर के मुगल साम्राज्य में मिल जाने के समय तक स्थिर रहे। इन सबके अतिरिक्त कुछ उत्तर की ओर नर्मदा नदी के समीप खानदेश का मुसलमानी राज्य था। इन समस्त राज्यों के इतिहास में प्राचीन भारतवष के शासन और संस्कृति का प्रभाव पग-पग पर दृष्टिगोचर होता है। भारतीय शासन के प्राचीन सिद्धान्त यहाँ से कभी नहीं मिटने पाये। ज़मीन का बन्दोबस्त, कर, प्रान्तीय नियम, जिधर दृष्टि डालिए उधर ही कुछ-न-कुछ भारतीय शासन और संस्कृति के लक्षण दिखाई पड़ेंगे। धार्मिक सहनशीलता की नीति जिसकी गणना भारतीय संगठन के प्रधान और सर्वोत्तम सिद्धान्तों में है, यहाँ अधिकतर उपयोग में लाई गई। हिन्दू-राज्यों के समान मुसलमान-

राज्यों से भी साहित्य और कला को अधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ, जिसके प्रमाण और परिणाम आज तक वर्तमान हैं। इस स्थल पर भी यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इन मुसलमान-राज्यों की असंख्य छोटी-छोटी नौकरियों पर और अनेक ऊँचे पदों पर हिन्दू नियुक्त थे। उन सबों ने बहुतेरी प्राचीन राजकीय रीतियाँ प्रचलित रखीं। और साधारणतः भारतीय प्रभाव को भी स्थिर रखा।

दक्षिण में एक ऐसा प्रदेश भी था जहाँ हिन्दू सदैव न्यूनाधिक अंश में स्वाधीन बने रहे और जहाँ से फिर सत्रहवीं शताब्दी में हिन्दू विद्रोह और स्वाधीनता का झण्डा उठाया गया। अरबसागर और पश्चिमी घाटों के बीच में जो लम्बा और संकीर्ण पहाड़ी प्रान्त है वह कोकन कहलाता है। यहाँ के रहने वाले मराठा आधे स्वाधीन और आधे पराधीन थे। उन्हें पूर्णरूप से पराजित करने का उद्योग मुसलमान-शासकों ने नहीं किया था, बल्कि सोलहवीं शताब्दी में उनसे साथ कर लिया था। कुछ मराठों ने दक्षिणी राज्यों में नौकरी की। सेना और शासन में ऊँचे-ऊँचे पदों को सुशोभित किया तथा कभी-कभी (जैसे अहमदनगर की निज़ामशाही राज्य में) सिंहासन तक का बार-बार निपटारा किया। सोलहवीं शताब्दी के अन्त में और सत्रहवीं शताब्दी में आगरा और दिल्ली के मुग़ल बादशाहों ने (अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंज़ेब ने) दक्षिण विजय करने के लिए अपनी पूरी शक्ति से आक्रमण किये और बड़ी-बड़ी सेनाएँ भेजीं तब मराठों ने राज्यों की ओर से युद्ध कर शत्रुओं के दाँत खट्टे कर दिये। स्वयं बादशाह जहाँगीर ने मराठों के बल और युद्ध-कौशल की प्रशंसा की है। चूँकि मुग़ल बादशाहों के पास अपार धन-राशि थी और बड़ी-बड़ी सेनाएँ थीं तथा दक्षिण में आन्तरिक फूट अधिक थी इसलिए अन्त में एक-एक करके दक्षिणी मुसलमान-राज्य जीत लिये गए। मराठों की जो प्राचीन थोड़ी-सी स्वाधीनता थी वह भी उस समय भयानक संकट में पड़ गई। उस भयानक परिस्थिति में मराठों ने अपनी शक्ति को बढ़ाकर संगठित किया और विप्लवों की अव्यवस्था से लाभ उठाकर मुग़ल-साम्राज्य को ललकारना आरम्भ किया।

अनेक पराक्रमों के बाद शिवाजी ने मराठा साम्राज्य की नींव डाली और सन् १६७४ ई० में रायगढ़ में अपना राज्याभिषेक प्राचीन भारतवर्ष की संस्कृति के अनुसार कराया तथा सन् १६८० ईसवीं तक राज्य किया। शिवाजी की

शासन-व्यवस्था में कुछ बातें दक्षिणी राज्यों से और उनके द्वारा मुग़ल-साम्राज्य तक से ली गई थीं। फिर भी अनेक बातें प्राचीन भारतवर्ष की संस्कृति से ही ली गई थीं। शिवाजी का अष्टप्रधान रामायण और महाभारत की ओर ध्यान दिलाता है। अमात्य, मंत्री, सचिव, सेनापति इत्यादि उपाधियाँ जो प्राचीन भारतवर्ष की संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थों, शिलालेखों और ताम्रपत्रों में मिलती हैं, एक बार फिर प्रचलित हुईं। मराठा सभासद में अठारह कार्यस्थानों का वर्णन पढ़ते समय कौटिल्य के अर्थशास्त्र का स्मरण हो आता है। प्रादेशिक शासन में भी गाँव का पाटिल प्राचीन अक्षपटलक अथवा महाक्षपटलिक का रूपान्तर हैं। और कुलकर्णि करणिक का रूपान्तर है शासन के सिद्धान्त भी प्राचीन भारतवर्ष के शासन-सिद्धान्तों से मिलते-जुलते हैं।

गुरू रामदास ने शिवाजी के पुत्र सम्भाजी को उपदेश दिया था कि महाराष्ट्र के धर्म का प्रतिपादन करो। धर्म की वृद्धि का ही उपदेश प्राचीन आचार्य भारतीय नरेशों को दिया करते थे। मराठा-शासकों ने मन्दिर, धर्मशाला, पाठशाला, तालाब, बाँध आदि तैयार कराने में और कविता, गायन, कला, शिक्षा आदि को प्रोत्साहन देने में भी प्राचीन भारतीय नरेशों का अनुकरण किया। प्राचीन शासन-प्रणाली की निर्बलता भी मराठा-संगठन में दिखाई पड़ती हैं। शिवाजी के बाद मराठों ने दक्षिण के अतिरिक्त मध्य भारत में, उत्तर भारत में और धुर दक्षिण में भी कई प्रान्त जीते और एक विशाल साम्राज्य की सृष्टि की। इस साम्राज्य का आधार प्राचीन ढंग का संघ-सिद्धान्त ही था। बड़ौदा में गायकवाड़, ग्वालियर में सिंधिया, इन्दौर में होल्कर, नागपुर में भोंसला और पूना में पेशवा अनेक अंशों में स्वाधीन थे किन्तु फिर भी एक साम्राज्य में सयुक्त थे। वे परस्पर लड़ते-भिड़ते थे और मेल भी तुरन्त कर लेते थे।

इसमें सन्देह नहीं कि इस संघ प्रथा से अठारहवीं शताब्दी में कुछ लाभ अवश्य हुए किन्तु साथ-ही-साथ राजनैतिक और सैनिक नेतृत्व तथा शक्ति बिखर जाने से उनका बल भी कम हो गया। सन् १७६१ ईसवी में पानीपत के युद्ध में मराठों की विशाल सेना अफ़गानिस्तान के अहमदशाह अब्दाली से हार गई और मराठों की आधिपत्य स्थापित करने की समस्त आशाएँ चिरकाल के लिए कुम्हला गईं। यही एक कारण है जिससे कि अठारहवीं शताब्दी के अन्त में और

उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ में मराठा-राज्य एक-एक करके अंग्रेजों के अधिकार में आ गये, या उनसे हार गये अथवा आप-ही-आप नष्ट हो गये। फिर भी मराठों का इतिहास यह प्रमाणित करता है कि प्राचीन भारतवर्ष के शासन और संस्कृति का अंश बारहवीं शताब्दी के बाद अनेक शताब्दियों तक स्थिर रहा। यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि गायकवाड़, होलकर और सिन्धिया की रियासतें अंग्रेजी शासन-काल में भी अपना अस्तित्व स्थिर किये रहीं।

मध्य-भारत में भी अनेक भारतीय नरेश बराबर राज्य करते रहे और उनके वंशज अब तक वर्तमान हैं। बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड को दिल्ली अथवा आगरे का एक भी मुसलमान सम्राट् पूर्ण रूप से न जीत सका। यहाँ के राज्य-शासन में परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन अवश्य हुए किन्तु भारतीय संगठन के अनेक सिद्धान्त स्थिर रहे। सोलहवीं शताब्दी के अन्त में और सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में ओरछा-नरेश वीरसिंह बुन्देला ने पण्डितों से वीर मित्रोदय जैसे अनेक संस्कृत ग्रन्थ तैयार कराए। इस समय के राजाओं के बनवाये हुए मन्दिर, तालाब, झील, पुल आदि आज भी वर्तमान हैं। वैसे न सही तो कम-से-कम खण्डहर अवश्य दिखाई पड़ते हैं।

उत्तर में भी कई छोटे-छोटे हिन्दू-राज्य बहुत दिनों तक स्वाधीन रहे। उड़ीसा प्रान्त में इस प्रकार के अनेक राज्य थे। गोलकुण्डा और उड़ीसा की सीमा पर खुर्दा नाम का एक राज्य सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक स्वाधीन रहा और प्राचीन प्रणाली की सी सेना से सन्तोष करता रहा। काश्मीर के दक्षिण में पंजाब की सीमा के पास किश्टवाड़ भी सोलहवीं शताब्दी तक स्वाधीन रहा। उत्तर-पश्चिम में काँगड़ा बावन घेरों के बाद सन् १६२० ईसवी में मुसलमानों के अधिकार में आया। उत्तर-पूर्व में बंगाल के एक छोटे-से भाग में थोड़े-से हिन्दू ज़मींदारों ने अपना प्रभाव स्थापित किया और सत्रहवीं शताब्दी तक झगड़े करते रहे। ये बारह भुइया कहलाते थे और इनका संगठन प्राचीन भारतीय संघ का ही रूपान्तर था बल्कि कुछ अंशों में उससे भी अधिक शिथिल था। इनके नेता का नाम प्रतापादित्य था जिसका उल्लेख बंगला-साहित्य में अनेक स्थानों पर मिलता है और कूचबिहार में हिन्दू राजाओं का शासन मुग़ल सम्राट् शाहजहाँ और औरंगज़ेब के समय तक रहा। नैपाल तो सर्वदा ही स्वाधीन रहा। उसकी शासन-पद्धति में

अनेक प्राचीन भारतीय रीतियाँ प्रचलित रहीं। ईसवी सन् की उन्नीसवीं शताब्दी में जो नियम-पद्धति और दण्ड विधान नैपाल में प्रचलित थे, वे प्राचीन भारतीय परम्परा के ही थे। राज्य ने जो अनेक प्रकार के भार अपने ऊपर ले रखे थे वे भी प्राचीन भारतीय परम्परा के प्रमाण हैं।

भारतीय इतिहास के मध्य काल में उत्तर में राजपूताना भारतीय स्वाधीनता अथवा अर्ध स्वाधीनता के केन्द्रीय स्थान को गौरवान्वित कर रहा था। बारहवीं शताब्दी में मुसलमान आक्रमण कारियों से पराजित होने पर अनेक राजपूत उस प्रान्त में चले आये, जिनका नाम उनके कारण राजपूताना हो गया। यहाँ उन्होंने आमेर, मारवाड़, मेवाड़, बूँदी इत्यादि अनेक राज्य स्थापित किये जो किसी-न-किसी रूप में आजतक वर्तमान हैं। इनके इतिहास में प्राचीन भारतीय राजनैतिक प्रथा के अनेक लक्षण पाये जाते हैं। यहाँ छोटे-बड़े अनेक राज्य थे संघ और जमींदारी के सिद्धान्तों पर राजनैतिक संघठन अवलम्बित था। परस्पर नित्य युद्ध किया करते थे। धर्म में सहनशीलता थी। विद्वानों का अधिक सन्मान होता था। राज्य की ओर से मन्दिर, धर्मशाला, पाठशाला, तालाब आदि बड़े उत्साह के साथ तैयार कराये जाते थे। साहित्य, कला, गायन आदि को अधिक प्रोत्साहन मिला करता था। यहाँ भी सैन्य-संचालन में प्राचीन भारतीय नीति का अवलम्बन करने से कभी-कभी बड़ी हानि उठानी पड़ती थी फिर भी वे कदापि हताश नहीं होते थे।

उन राजपूत-राज्यों में से कुछ ने शीघ्र ही दिल्ली अथवा आगरे के मुसलमान शासकों की प्रधानता स्वीकार कर ली किन्तु मेवाड़ ने अनुपम वीरता से अपनी स्वाधीनता की रक्षा की। ईसवी सन् की पन्द्रहवीं शताब्दी में और फिर सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मेवाड़ के रानाओं ने राजपूताने के बाहर भी अनेक प्रान्तों पर अपना अधिकार स्थापित किया। रानासाँगा ने तो सीकरी के युद्ध में पहिले मुगल सम्राट बाबर का सन् १५२७ ईसवी में वीरता पूर्वक सामना किया और फिर सम्राट् अकबर के समय में राना प्रताप ने जो साहस और बल-पराक्रम प्रदर्शित किया वह संसार के इतिहास में अद्वितीय है। मेवाड़ का पतन सन् १६१४ ईसवी के पहिले नहीं हुआ और उसके बाद भी आन्तरिक विषयों में वह दूसरे राजपूत राज्यों से अधिक स्वाधीन रहा।

स्वाधीन अथवा अर्धस्वाधीन राजपूत राज्यों के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय

राजनैतिक प्रभाव उत्तर के मुसलमान राज्यों पर भी मध्य काल में दिखाई पड़ता है। एक तो मुसलमानों ने प्राचीन भारतीय शासन की अनेक बातों को अपना लिया। उन्होंने भी प्राचीन भारतीय शासकों के ही समान प्रान्त और ज़िले बनाये तथा कुछ उसी प्रकार के अधिकारी भी नियुक्त किये। गाँवों को उसी प्रकार के प्रबन्ध सम्बन्धी अधिकार दिये और जमीन पर तथा आने जाने वाले माल पर उसी प्रकार के कर लगाये। सोलहवीं शताब्दी में उन्होंने धार्मिक सहन शीलता को भी अपना लिया यद्यपि औरङ्गजेब आदि कुछ बादशाहों ने आगे चलकर इस नीति को छोड़ दिया। ज़मींदारी संघ-शासन की प्रथा भी मध्य काल में कुछ-कुछ वर्तमान रही अनेक हिन्दू राजा अथवा मुसलमान शासक आन्तरिक विषयों में स्वाधीन रहे।

१३—मुसलमानों के समय भारतीय साहित्य

निस्सन्देह प्राचीन भारतीय शासन में और मध्य कालीन मुसलमान बादशाहों के शासन में बड़ा अन्तर था किन्तु यह भी सत्य है कि प्राचीन भारतवर्ष की संस्कृति के राजनैतिक अंशों का लोप राजनैतिक स्वाधीनता के साथ नहीं हुआ सम्राट अकबर के समय की पुस्तक 'आइन अकबरी' के मुग़ल शासन के वर्णन की तुलना यदि प्राचीन भारतवर्ष के शासन से की जाय तो कहीं-कहीं आश्चर्य जनक सामंजस्य दिखाई पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि ईसवी सन् की सोलहवीं शताब्दी में शेरशाह के समय में और विशेष रूप से अकबर जहाँगीर तथा शाहजाँह के समय में अनेक भारतीय राजा और अनेक दूसरे योग्य भारतीय मुग़ल शासन में अनेक ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त हुए। उनसे भी प्राचीन भारतीय राजनैतिक सिद्धान्तों की स्थिरता में अधिक सहायता प्राप्त हुई। मुग़ल साम्राज्य के द्वारा भारतीय संगठन के कुछ तत्त्व अंग्रेज़ी ईस्टइण्डिया कम्पनी को भी अठारहवीं शताब्दी के अन्त में और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मानने पड़े।

स्वाधीन और अर्ध स्वाधीन भारतीय राज्यों में संस्कृति-साहित्य का पठन-पाठन पहिले के ही समान होता रहा और काव्य, अलंकार, ध्वनि, व्याकरण, तत्त्व-ज्ञान गणित, ज्योतिष आदि पर अनेक नवीन ग्रंथ लिखे गये। मुसलमान राज्यों में भी भारतीयों ने संस्कृति का लिखना-पढ़ना बन्द नहीं किया। इसलिए मध्यकालीन

भारत का संस्कृति-साहित्य अधिक विशाल है। इसके कुछ ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं और अनेक पाण्डु-लिपियों के रूप में देश के प्रायः प्रत्येक प्रान्त के पुस्तकालयों में देखे जा सकते हैं। यद्यपि इस साहित्य में मौलिकता अधिक नहीं है और प्रतिभा भी नाम मात्र की ही है तथापि टीका, टिप्पणी, संक्षेप और संकलन में इसने अधिक विद्वत्ता और चतुरता का प्रदर्शन किया है।

नाटकों में वामन भट्टबाण का 'पार्वती-परिणय' जो सन् १४०० इसवी के लगभग लिखा गया था और गंगाधर का 'गंगादास-प्रताप-विलास' जो पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य भाग में लिखा गया था, विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मिथिला में पद्मभट्ट ने एक नया व्याकरण रचा और भावदत्त मिश्र ने नैषध की टीका के अतिरिक्त अलंकार तथा रस पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ रचा। स्मृतियों पर अनेक प्रकार की टीकाएँ लिखी गईं जिनमें समय के अनुसार थोड़े-से परिवर्तन भी सम्मिलित हैं। इतना सब होने पर भी कहना पड़ता है कि राज्य का सहारा अनेक अंशों में उठ जाने के कारण अनेक पण्डितों और कवियों को निराश्रय हो जाना पड़ा तथा अनेक ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन-मठों अथवा पाठशालाओं का गौरव भी नष्ट हो गया। इन सबके हतश्री हो जाने का परिणाम यह हुआ कि संस्कृति का प्रचार कम होने लगा।

इसीलिए चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में देशी भाषाएँ साहित्य का माध्यम होने लगीं। पन्द्रहवीं-सोलहवी शताब्दी में बंगला, हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि प्रौढ़ साहित्यिक भाषाएँ हो गईं और अनेक प्रतिभाशाली कवियों ने उनमें रचना की। अनेक मुसलमान-शासकों से इन भाषाओं को आश्रय मिला तथा भारतीय राजाओं तथा जनता ने भी प्रोत्साहन दिया प्रसिद्ध है कि अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ ने अनेक हिन्दी कवियों को दर्बार में बुलाया और बड़े आदर, सम्मान तथा सत्कार-पूर्वक द्रव्य दिया। नवीन सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति में देशी भाषाओं की उन्नति अवश्य भावी थी। एक तो संस्कृति का प्रचार घटने पर भारतीयों को ही देशी भाषा के साहित्य की आवश्यकता थी। दूसरे हिन्दू-मुसलमानों के तत्त्व-ज्ञान और साहित्य का सम्पर्क अनिवार्य था किन्तु यह सब संस्कृत के द्वारा नहीं हो सकता था।

संस्कृति बोल-चाल की भाषा न थी। उसका व्याकरण भी अधिक क्लिष्ट है।

भारतीय विद्यार्थी वर्षों के निरन्तर परिश्रम के बाद ही कहीं संस्कृति के विद्वान् हो सकते थे। मुसलमानों के लिए संस्कृति का अभ्यास कर सकना बड़ा कठिन कार्य था। ग्यारहवीं सताब्दी में अलबेरूनी और सोलहवीं शताब्दी में फ़ैज़ी तथा अब्दुलक़ादिर बदायूनी को छोड़कर दूसरे कोई मुसलमान संस्कृति के पण्डित नहीं हुए। इसके प्रतिकूल देश-भाषाएँ सरल थीं। मुसलमान स्वभावतः उन्हें सीख लेते थे। अमीर खुशरू मलिक मुहम्मद जायसी, अब्दुर्रहीम खानखाना, ताज आदि अनेक मुसलमानों ने हिन्दी में उत्तम कविता की। स्वयं कबीर जिसकी बाणी और बीजक हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में है और कुछ अंशों में तो अनुपम हैं ही, कहा जाता है कि मुसलमान जुलाहा था। इसी से स्पष्ट है कि उस समय के मुसलमान-शासक, अमीर और विद्वान् देशी भाषा की रचनाओं का आनन्द लाभ कर सकते थे। अतएव कहना पड़ता है कि भारतीयों के साथ मुसलमानों के सम्पर्क का एक यह आवश्यक परिणाम हुआ कि साहित्य के क्षेत्र में संस्कृति का स्थान देशी भाषाओं ने अधिकता से ग्रहण कर लिया। सूरदास, तुलसीदास, चैतन्य, नानक, दादू, मीराबाई, तुकाराम, रामदास आदि की प्रतिभा देशी भाषा के द्वारा ही प्रकाश में आई। किन्तु इससे यह कदापि न समझना चाहिए कि प्राचीन भारतवर्ष के संस्कृति साहित्य, दर्शन और धर्म का प्रभाव रहा ही नहीं।

देशी भाषाओं की कविता प्राचीन भारतवर्ष के विचारों और भावों से परिपूर्ण है। कृत्तिवास की बंगला रामायण प्राचीन कथाओं का रूपान्तर है। तुलसीदास का रामचरितमानस, केशव की रामचन्द्रिका आदि ग्रन्थ बाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण के आधार पर लिखे गये हैं। सूरसागर का आधार श्रीमद्भागवत है। नन्ददास आदि की कविता भी प्राचीन भक्ति-काव्य का स्मरण दिलाती है। कबीर ने प्रचलित भारतीय धर्म की तीव्र आलोचना की है और प्रोहितों को बहुत जली कटी सुनाई किन्तु उनकी रचनाओं में उपनिषदों कुछ सिद्धान्त ज्यों-के-त्यों रखे हैं। सम्भव है कि उसने स्वयं उपनिषद न पढ़े हों किन्तु उनके सिद्धान्त कहीं-न-कहीं से उसके पास आ गये हों।

रैदास, नानक, पीपा, सेन आदि में भी प्राचीन भारतवर्ष के तत्त्व-ज्ञान और भक्तिसिद्धान्त की मात्रा पर्याप्त है। इसी प्रकार बंगला साहित्य ने भी प्राचीन भारतवर्ष के साहित्य के क्रम को उल्लंघन नहीं किया है। गुजराती,

मराठी, उड़िया आदि के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। इन समस्त भाषाओं में पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर आजतक संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद भी अधिकता से होते रहे हैं। प्राकृत अपभ्रंश और देशी भाषाओं में जैनों ने असंख्य ग्रन्थ रचे जिनमें से कुछ तो प्रकाशित हो चुके हैं और अधिकाँश मंदिरों और भण्डारों में पाण्डु-लिपि के रूप में ही रखे हैं। इनमें से अधिकाँश तो प्राचीन पाली और संस्कृत जैन ग्रन्थों के भावानुवाद अथवा छायानुवाद हैं और शेष ग्रन्थों पर भी प्राचीन जैन साहित्य की छाप लगी हुई है। इन समस्त लक्षणों से स्पष्ट है कि भाषा की शृंखला टूट जाने पर भी प्राचीन भारतवर्ष के मानसिक जीवन की शृंखला मध्य काल में नहीं टूटी।

इतना ही नहीं भारतीय भाषा साहित्य और दर्शन ने अपनी रक्षा का सामर्थ्य दिखाने के अतिरिक्त मुसलमानों पर भी आश्चर्यजनक प्रभाव डाला यह कहा जा चुका है कि भारतीयों के सम्पर्क में आने की इच्छा से मुसलमान स्वभावतः लोक भाषाएँ सीख रहे थे। हिन्दी में कुछ फारसी और कुछ अरबी शब्दों की मिलावट से उर्दू भाषा की उत्पत्ति हुई अथवा यों समझ लेना चाहिए कि हिन्दी ने ही वह रूप धारण किया जिसे उर्दू कहते हैं। सत्य तो यह है कि अनेक दिनों तक नाम का भेद हुआ ही नहीं। जिस बोली को लोग उर्दू कहते हैं वह प्रारम्भ में हिन्दी के नाम से ही प्रसिद्ध थी। उर्दू का ऐतिहासिक अनुसंधान हाल में ही प्रारम्भ हुआ है किन्तु यह सभी स्वीकार करते हैं कि इसके पहिले कवि हिन्दी नाम से ही कविता रचते थे। वे यही समझते थे कि हम हिन्दी में काव्य लिख रहे हैं। उत्तरी भारत में ही नहीं किन्तु दक्षिणी भारत में भी यह दशा थी। हिंन्दी और उर्दू का भेद जो इस समय दिखाई पड़ रहा है, बहुत पीछे प्रारम्भ हुआ। मुसलमानों की इस हिन्दी अथवा उर्दू कविता में भारतीय संस्कृति के विचार और भाव तथा पौराणिक और ऐतिहासिक उल्लेख भी पर्याप्त हैं। यदि कवि का नाम न मालूम किया जाय तो सहसा कोई नहीं कह सकता कि रचयिता भारतीय था अथवा मुसलमान! कुछ भी हो, हिन्दी और उर्दू का पार्थक्य हो जाने पर भी दोनों का व्याकरण एक ही रहा है और साधारण शब्द भी समान रहे हैं, इसीलिए उर्दू के रूप में हिन्दी समस्त देश के मुसलमानों में फैल गई।

१४--मुसलमानों के समय भारतीय धर्म, दर्शन, कला और समाज

ज्यों-ज्यों मुसलमान लोक भाषाओं को सीखते हुए भारतीयों के सम्पर्क में आने लगे त्यों-त्यों उन सब के जीवन पर भारतीय धर्म और दर्शन का भी प्रभाव पड़ता गया। भारत के बाहर उपनिषद्, गीता और वेदान्त के मूल सिद्धान्त बहुत पहिले ही पहुँच चुके थे। ब्रह्म की सर्वव्यापकता, परमेश्वर की अनन्य भक्ति ब्रह्म में तल्लीनता, 'तत्त्वमसि,' त्याग और तप आदि के कुछ सिद्धान्त मुसलमानों के सिद्धान्तों से जा मिले। वहाँ उन अन्य सिद्धान्तों का भी संघर्ष हुआ जो उस समय पारसी और ईसाई धर्मों के तथा ग्रीक तत्व-ज्ञान की कुछ अद्भुत् शाखाओं के प्रभाव से पश्चिम एशिया में इधर-उधर प्रचलित थे। इस घनिष्ट सम्पर्क से मुसलमान-संसार में सूफ़ी मत की उत्पत्ति हुई, जिसने समस्त मुसलमान तत्त्व-ज्ञान और साहित्य में अपनी छाप लगा दी। सूफ़ी कवियों के उद्गार भारतीय भक्तों के ही समान हैं। वही ईश्वर-प्रेम है, वही अनन्यभाव है, वही आत्म-समर्पण है, वही समस्त विचार है और वही उपमाएँ भी हैं आगे चलकर भारतवर्ष में भी सूफ़ी मत ने अधिक प्रसिद्धि लाभ की।

इसके अतिरिक्त साधारण मुसलमान-विचार भी भारतीय तत्त्व-ज्ञान से अछूता न बचा। भारतवर्ष में जो फारसी और अरबी साहित्य तैयार किया गया और जिसकी वैज्ञानिक आलोचना भी होने लगी है, वह भी भारतीय प्रभाव का साक्षी है। अनेक मुसलमानों ने भारतीय सिद्धान्तों को पसंद किया। सम्राट अकबर आदि कुछ मुसलमान-शासक उन सिद्धान्तों के पक्षपाती थे। शेख मुबारक, अबुल फ़ैज़ी अबुल फ़ज़ल आदि अनेक विद्वान् मुक्त-कण्ठ से भारतीय धर्म और वेदान्त की प्रसंशा करते थे और उन्हीं के अनुसार अपने जीवन को चलाते भी थे सम्राट् शाहजहाँ कट्टर मुसलमान था किन्तु उसका ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह वेदान्ती था। उसने अल्लोपनिषद् की रचना कराई जिसमें इस्लाम और भारतीय तत्त्व-ज्ञान का संमिश्रण है।* इस प्रसंग में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि मुसलमान विजय

---

* अल्लोपनिषद्--आस्माल्लां इल्ले मित्रावरुणा दिव्यानि धत्ते। इल्लल्लेवरुणो राजा पुनर्द्दुः ॥ हया मित्रो इल्लांइल्लल्ले इल्लांवरुणा मित्रस्तेजस्कामः ॥१॥ होतारमिन्द्रो होतारमिन्द्र महासुरन्द्रः॥ अल्लो ज्येष्ठंश्रेष्ठं परमं पूर्णं ब्रह्माणं अल्लाम् ॥२॥ अल्लोरसूल महामदरकबरस्य अल्लो अल्लाम् ॥३॥ आदल्लावकककम् ! अल्लाबूक

के बाद जिन भारतीयों ने इस्लाम को अपनाया था वे अपनी विचार-पद्धति और अपने पैतृक विश्वासों को एकदम नहीं छोड़ सके थे। अतएव उनके द्वारा भी मुसलमान-समाज में भारतीय संस्कृति के विचार फैलते रहे।

ऊपर किये गये वर्णन से यह भी स्पष्ट है कि अनेक अंशों में भारतीय और इस्लामी सभ्यताएँ एक हो गईं अथवा कम-से-कम एक दूसरे के अधिक समीप आ गईं। मध्यकालीन भारतीय कला के इतिहास से भी यही ध्वनि निकलती है। इसमें सन्देह नहीं कि मध्यकाल में भारतीय कला का ह्रास अवश्य हुआ। इस्लाम में मूर्ति-पूजा का विरोध मूर्ति का ही विरोध हो गया था। मुसलमानों ने अनेक मूर्तियों को तोड़ डाला, ऐसी दशा में स्वयं उनके मूर्ति बनाने की तो कोई बात थी ही नहीं। जब सहनशीलता का समय आया तब भारतीय पुनः स्वतंत्रता-पूर्वक मूर्ति बनाने लगे किन्तु विजयनगर साम्राज्य को छोड़कर और कहीं उन्होंने इस कला में कोई उन्नति नहीं की। कहना तो यों चाहिए कि क्रमशः इस कला के आदर्श गिरते ही गये। अतएव मध्यकाल में भारतीय मूर्ति-कला में कोई विशेष बात उल्लेख करने योग्य नहीं है।

भारतीयों ने तुरन्त दूसरी ओर अपने को लगा दिया अर्थात् भवन-निर्माण, चित्रण और संगीत को अपनाकर भारतीय प्रतिभा और सिद्धान्त के नये-नये मार्गों पर अपना पैर बढ़ाया। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में चित्रकला के क्षेत्र में भारतीय और फ़ारसी तत्त्वों के सम्मिश्रण से नये चमत्कार उत्पन्न हुए। मुग़ल सम्राट अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ चित्रकला के प्रेमी थे। ये चित्रकारों को आश्रय देते थे और प्रतिभा-सम्पन्न चित्रों पर बड़ी उदारता के साथ पारितोषिक देते थे उनके समय के अनेक चित्र आज तक मिलते हैं और अपने कौशल पर

निखातकम् ॥४॥ अल्लोयज्ञेन हुतहुत्वा ॥ अल्ला-सूर्य-चन्द्र सर्व नक्षत्राः ॥५॥ अल्ला ऋषीणां सर्वदिव्यां इन्द्राय पूर्व माया परमन्तरिक्षाः ॥६॥ अल्लः पृथिव्या अन्तरिक्षं विश्वरूपम् ॥७॥ इल्लां कबर इल्लां कबर इल्लां इल्लल्लेति इल्लल्लाः ॥८॥ ओम् अल्ला इल्लल्ला अनादि स्वरूपाय अथर्वणश्यामा हुं ह्रीं जनान्पशून् सिद्धान् जलचरान् अदृष्टं कुरु-कुरु फट ॥९॥ असुर संहारिणी हुं ह्रीं अल्लोरसूल महमदरकबरस्य अल्लो अल्लाम् इल्लल्लेति इल्लल्लाः ॥१०॥

[सत्यार्थ प्रकाश—चतुर्दशसमुल्लास]

आश्चर्य उत्पन्न कराते हैं। मध्यकाल में राजपूत-चित्र-कला ने विशेष उन्नति की और आमेर, जोधपुर आदि राज्यों में अनेक हृदयग्राही चित्र अंकित किये गये।

यदि ध्यान-पूर्वक देखा जाय तो स्पष्ट कहना पड़ेगा कि मध्यकाल में रचनात्मक प्रतिभा का सबसे अधिक विकास भवन-निर्माण के क्षेत्र में हुआ। मुसलमान-शासकों को भवन बनाने की रुचि सर्वदा से थी। भारतवर्ष में मुसलमानों के आने के थोड़े ही दिन बाद भारतीय और इस्लामी निर्माण-सिद्धान्तों का सम्पर्क और संमिश्रण प्रारंभ हुआ तथा नवीन-नवीन पद्धतियों का आविष्कार हुआ। मध्यकाल के भारतीय भवन आज भी दर्शकों को आश्चर्य में डाल देते हैं और आशा की जाती है कि सदा संसार के सर्वश्रेष्ठ भवनों में गिने जायँगे। प्राचीन भारतीय भवनों से और भरतीय निर्माण-सिद्धान्तों से इनकी तुलना करने पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट प्रकट हो जाता है। आगरे के समीप सिकन्दरे में अकबर को क़ब्र का भवन भारतीय निर्माण-सिद्धान्तों को सामने लाकर खड़ा कर देता है। दिल्ली और आगरे के क़िले, फ़तहपुरसीकरी के महल, लाहौर के मक़बरे और आगरे का ताजमहल--इनमें से एक भी प्राचीन भारतवर्ष की संस्कृति के सिद्धान्तों से छूटा हुआ नहीं है। राजपूताना में आमेर आदि के महल भी अनेक अंशों में उसी पद्धति का अनुकरण करते हैं जो उत्तर भारत के दूसरे प्रान्तों में प्रचलित थी। इसी से कहना पड़ता है कि मध्यकाल में यद्यपि भारतीय कला का विकाश का मार्ग नहीं मिला तथापि उसका विनाश भी नहीं हुआ। उसके तत्त्व सूक्ष्म रूप से नित्य वर्तमान रहे और फिर दूसरे तत्त्वों से मिलकर नवीन,नवीन आकर्षक रूपों में प्रकट हुए।

इतना सब वर्णन करने के बाद अब हम पाठकों का ध्यान उस समय के सामाजिक जीवन की ओर ले जाना चाहते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि मध्यकाल में प्राचीन भारतीय संगठन कई अंशों में अवश्य बदल गया था। यह हम पहिले ही कह चुके हैं कि दूसरे धर्मों और जातियों से अपनी विलक्षण संस्कृति की रक्षा करने के लिए भारतीयों ने जाति-पाँति के और खाने-पीने के, बंधन और भी अधिक कड़े कर लिये तथा पुरोहित ब्राह्मणों की महिमा और भी कई गुनी अधिक बढ़ा दी। जिस समय भारतीय स्वाधीन थे उस समय समाज का नेतृत्व राजा और पुरोहित दोनों के हाथ में था किन्तु मुसलमान-विजय के

बाद वह नेतृत्व केवल पुरोहित ब्राह्मणों के हाथ में आ गया।

निस्सन्देह पुरोहित ब्राह्मणों के नेतृत्व में भारतीय सामाजिक जीवन को संकुचित करने वाली शक्तियां अधिक प्रबल होगई विदेशों से सम्पर्क बहुत कम हो गया था। जिन भारतीयों ने ऐशिया, यूरोप और अफ्रीक़ा में अपने धर्म, तत्त्व-ज्ञान, साहित्य और कला का प्रचार किया था वही अब विदेश-यात्रा को ही पाप समझने लगे। छुआछूत का भेद तो कुछ-न-कुछ अंश में पहले भी था किन्तु अब वह अधिक बढ़ गया। अन्तर्जातीय अनमेल विवाह पहिले ही कम हो गया था, अब वह एक प्रकार से एकदम ही मिट गया। स्त्रियों का पद प्राचीन भारतीय स्वाधीनता के अन्तिम काल तक अधिक गिर चुका था। पर्दा-प्रथा प्रचलित हो चुकी थी।

ईसवी सन् की बारहवीं शताब्दी से जो राजनैतिक उथल-पुथल आरम्भ हुई उसमें स्त्रियों के लिए घोर आपत्ति-काल आ गया इसलिए पर्दा की प्रथा और कड़ी करदी गई। इसके अतिरिक्त स्वयं मुसलमानों में पर्दा अधिक होता था, इसलिए उनके अनुकरण से भी उत्तर भारत में यह प्रथा अधिक बलवती हो गई। यह स्पष्ट है कि इस पर्दा-प्रथा के कारण स्त्री-शिक्षा को गहरा धक्का लगा। भारतीयों के अनेक समुदायों में बाल-विवाह पहिले से ही प्रचलित था। तेरहवीं शताब्दी के बाद स्त्रियों के पद के ह्रास, वर्ण-व्यवस्था की कठोरता और राजनैतिक उथल-पुथल से बाल-विवाह और भी बढ़ गया; यहाँ तक कि नन्हें-नन्हें बच्चों के विवाह होने लगे। इस प्रकार भारतीय समाज की दुर्बलताएँ बढ़ गईं किन्तु संगठन के मूल सिद्धान्त प्राचीन काल के समान ही रहे।

मध्यकाल में वर्ण-व्यवस्था को एक धक्का अवश्य लगा। अब तक भारतीय न्याय में वर्ण भेद का थोड़ा-बहुत विचार अवश्य किया जाता था। स्मृतियों में एक ही अपराध के लिए भिन्न-भिन्न वर्गों के निमित्त भिन्न-भिन्न दण्डों का विधान है। किन्तु मुसलमान न्यायाधीश इस भेद को नहीं मानते थे। उनकी दृष्टि में समस्त भारतीय समान थे। अतएव जहाँ वर्ण-व्यवस्था के और नियम कड़े हो गये वहाँ न्याय-सम्बन्धी नियम एकदम मिट गये।

१५—मुसलमानों के समय भरतीय जीवन का दृष्टि-कोण

मध्यकाल में भारतीयों के जीवन का साधारण भाव किस सीमा तक परिवर्तित

हुआ, इसे निश्चयता के साथ बता सकना बड़ा कठिन है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि प्राचीन काल से भी भारतीयों के जीवन का भाव नित्य एक-सा नहीं रहा। वैदिक काल में जीवन का भाव जैसा रहा वैसा मौर्य काल में नहीं रहा। जैसा मौर्यकाल में रहा वैसा कुशन काल में नहीं रहा। जैसा कुशन काल में रहा वैसा उत्तर हर्ष काल में नहीं रहा। जैसा उत्तर हर्ष काल में रहा वैसा राजपूत काल में नहीं रहा और जैसा राजपूत काल में रहा वैसा मुस्लिम-संक्रमण काल में नहीं रहा। कहना तो यों चाहिए कि बाहर से आनेवाली जातियों की उथल-पुथल ने भारतीय आशावाद को निबल कर दिया।

मध्यकाल में राजनैतिक स्वतंत्रता नष्ट हो जाने से, राजनैतिक अव्यवस्था से, सामाजिक कुरीतियों के दृढ़ हो जाने से और विदेशी सम्पर्क टूट जाने पर साधारण संकुचन से तथा ब्राह्मण-पुरोहितों की प्रधानता से भारतीय जीवन में भाग्यवाद की मात्रा अधिक बढ़ गई और आन्तरिक सामाजिक नैराश्य प्रबल हो उठा। भारतीयों ने कर्म और संसार का जो सिद्धान्त निकाला था और जो उपनिषदों के बाद सर्वमान्य हुआ वह मानों दुधारी तलवार के समान ही था। जिस समाज में आत्म विश्वास की मात्रा अधिक हो उसी के लिए आशावाद और स्वावलम्बन के सिद्धान्त उपयोगी होते हैं। साहसी व्यक्तियों के चित्त में कर्म का सिद्धान्त यह भाव उत्पन्न करता है कि हम स्वयं अपने भाग्य के विधाता हैं। हम अपने कर्मों की शक्ति से सब कुछ कर दिखायँगे। हमारे जितने अधिकार हैं, वे सब हमें अवश्य मिलेंगे। हमारा पुरुषार्थ कदापि निष्फल नहीं हो सकता। किन्तु यदि आत्मविश्वास की मात्रा नहीं है, साहस का पूर्ण अभाव है तो कर्म-सिद्धान्त के विपरीत भाव उत्पन्न होने लगते हैं।

उस समय यह धारणा प्रबल होने लगती है कि भाग्य के अंक अमिट होते हैं। विधाता ने जो कुछ लिख दिया है। उसे भोगना ही पड़ेगा। भवितव्यता को कौन रोक सका है। दैव पर निर्भर रहने का यह भाव मध्यकाल में अधिक प्रबल हो गया था। रामचरितमानस के रचियता गोस्वामी तुलसीदास जी ने इसी भाग्यवाद के समर्थन में लिखा है—

तुलसी जस भवितव्यता, तब तस मिलै सहाय।
आपु न जावे ताहि पहँ, ताहि तहाँ लै जाय॥

हानि लाभ जीवन मरण, यश अपयश विधि हाथ ।
सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेउ मुनिनाथ ॥

इसी प्रकार सूरदास भी कहते हैं कि कर्म की गति टाले नहीं टलती । इसी प्रकार के भाव-पूर्ण वाक्यों से मध्यकाल का हिन्दी और बंगला साहित्य भरा पड़ा है । निस्सन्देह कहीं-कहीं विपरीत भाव भी हैं । स्वयं गोस्वामी तुलसीदासजी ने ही "दैव-दैव आलसी पुकारा" ऐसा लिखा हैं ।

यदि कोई यह कहे कि संस्कृति-साहित्य से भी भाग्यवाद के अनेक वाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं तो कहना पड़ता है कि एक ओर समस्त मध्यकालीन साहित्य को रखिए और दूसरी ओर समस्त प्राचीन साहित्य को और वह भी ईसवी सन् की शताब्दी तक के संस्कृति-साहित्य को रखिए तो स्पष्ट हो जायगा कि मध्यकाल में भाग्यवाद और नैराश्य की मात्रा कहीं अधिक है । मध्यकाल में श्रीमद्भगवद्गीता की जो दशा हुई उससे भी स्पष्ट है कि भारतीय जाती का महत्त्व-पूर्ण तात्त्विक प्रयोजन को भूल गये । उस समय के साहित्य में गीता की चर्चा अधिक है और अनेक टीकाएँ तैयार की गई किन्तु मध्यकाल में गीता के आधार पर कर्म-योग की दुंदुभी नहीं बजाई गई । सर्वसाधारण को यह समझा दिया कि गीता योग ध्यान और तत्त्व-ज्ञान की पुस्तक छोड़कर और कुछ नहीं है । सच तो यह है कि जिस समय की जैसी भावना होती है उस समय शास्त्रीय सिद्धान्तों के रूप भी वैसे ही दिखाई पड़ते हैं ।

मध्यकाल में साधारण रूप से भारतीयों की भावना कैसी थी उसका दिग्यदर्शन कराया जा चुका है, किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि वह समस्त युग एक-सा ही नहीं रहा । तेरहवीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक जो दशा थी वह सोलहवीं शताब्दी में कुछ बदल गई । जब मुसलमानों ने धार्मिक सहनशीलता की नीति को अपना लिया, जब उन्होंने भारतीयों के लिए शासन के द्वार खोल दिये और उसके बाद जब भारतीयों ने विप्लव करके नवीन-नवीन स्वाधीन राज्य स्थापित कर लिये तब जीवन के भाव भी बदलने लगे फिर भी साधारणतः प्राचीन भारतीय युग में और मध्यकाल में ऊपर बताया गया अन्तर नष्ट नहीं हो सका था ।

इससे यह न समझ लेना चाहिए कि मध्यकाल में भारतवर्ष ने किसी प्रकार

की उन्नति नहीं की और मुसलमानों के सम्पर्क से भारतीयों को किसी प्रकार का लाभ नहीं हुआ। सत्य तो यह है कि लोक भाषाओं का मध्यकालीन साहित्य उत्पत्ति के लिए ही नहीं किन्तु विषय के लिए भी मुसलमानों का ऋणी है। मुसलमान धर्म का प्रधान सिद्धान्त परमेश्वर की एकता है। भारतीय तत्त्व-ज्ञान इस सिद्धान्त तक अति प्राचीन काल में ही पहुंच गया था कि ब्राह्मण धर्म ने इस पर उतना ध्यान नहीं दिया था जितना कि इस्लाम ने। मुसलमान विद्वानों और तत्त्व-ज्ञानियों के सम्पर्क से भारतीयों ने भी परमेश्वर की एकता पर अधिक ध्यान दिया। इस परिवर्तन की छाया मध्यकालीन साहित्य में है।

एक परमेश्वर की भावना दृढ़ हो जाने से और वेदान्त तथा सूफ़ी मत के संघर्षण से भारतीयों को भक्ति मार्ग के प्रचार में अधिक सहायता मिली। हिन्दी, बंगला, मराठी आदि के मध्यकालीन साहित्य में सबसे अच्छे ग्रन्थ भक्ति के ही हैं। भारतीय और मुसलमान धर्मों के ही कारण कुछ नये धार्मिक आन्दोलन भी उत्पन्न हुए। प्रमाण के लिए कहना पड़ता है कि पन्द्रहवीं सोलहवीं शताब्दी में गुरु नानक ने जो सिक्ख धर्म चलाया उसमें दोनों धर्मों के तत्त्वों का संमिश्रण है। इसी प्रकार अन्य धार्मिक कवियों और उपदेशकों में भी मुसलमान प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

राजनैतिक क्षेत्र में भी मुसलमानों ने एक ऐसा परिवर्तन किया जिससे देश को बड़ा लाभ हुआ। प्रसंग वश कहना पड़ रहा है कि प्राचीन भारतवर्ष का राजनैतिक इतिहास संयोजक और विभाजक शक्तियों के संग्राम का चक्र छोड़ कर और कुछ नहीं है। जब संयोजक शक्तियाँ अधिक प्रबल हुईं तब मौर्य, गुप्त, वर्धन आदि साम्राज्यों का अभ्युदय हुआ। इसी प्रकार जब विभाजक शक्तियों की प्रधानता हुई तब देश छोटे-छोटे स्वाधीन राज्यों में विभक्त हो गया। प्राचीन भारतवर्ष के सम्पूर्ण राजनैतिक इतिहास को देखने पर यही स्पष्ट होता है कि इसमें विभाजक शक्तियों की ही प्रबलता अधिक है। उसी प्रकार मध्यकाल में भी संयोग और विभाग का प्राचीन सनातन चक्र चलता रहा। दिल्ली अथवा आगरे के सुलतानों और बादशाहों का झण्डा कभी-कभी तो सम्पूर्ण देश पर फहराया और कभी-कभी एक दो प्रान्तों पर ही किसी-न-किसी प्रकार हिलता रहा।

निस्सन्देह मध्यकाल में पहिले की अपेक्षा संयोजक शक्तियाँ अधिक प्रबल हैं। साम्राज्यों का जीवन अधिक है और उसमें बल भी पर्याप्त हैं। इस समय

साम्राज्य का होना एक प्रकार स्वाभाविक-सी हो गई है। राजनैतिक एकता की प्राचीन रुकावटें निर्बल होने लगी हैं। इसीलिए स्वीकार करना पड़ता है कि मुसलमानों की राजनैतिक आकांक्षाओं ने और सामरिक शक्ति ने देश की एकता बढ़ाने में बड़ा काम किया और राष्ट्रीयता के उस भाव के लिए पृष्ठ-भूमि तैयार करदी जिसका जन्म आगे चलकर उन्नीसवीं शताब्दी में बड़ी प्रबलता के साथ होता है।

राजनैतिक एकता को दृढ़ करने के साथ-साथ मुसलमानों ने भारतीयता के भाव को भी बढ़ाया। जब तक देश में केवल भारतीय ही रहते थे तब तक उनको कभी अपनी एकता का ध्यान न आया। भारतीय यही जानते थे कि हम दूसरे देशों के निवासियों से भिन्न हैं और उनसे श्रेष्ठ भी हैं। किन्तु जब मुसलमान आकर बस गये तब तारतम्य के द्वारा भारतीयता के भाव की वृद्धि हुई और भारतीयों ने समझा कि हमारी भी कोई एकता हो सकती है। स्वयं हिन्दू शब्द जो सिन्धु नदी के नाम से निकला है और जो अपने मौलिक अर्थ में सिन्धु के समीप रहने वालों का बोधक है, मध्यकाल में ही प्रचलित हुआ।

प्राचीन काल में भारतवर्ष में विचार ही वर्ण और धर्म के भेदों के अनुसार चलता था। प्राचीन स्मृतिकारों की कल्पना ने चीन और यूनान आदि देशों के निवासियों की उत्पत्ति वर्णसंकरता के आधार पर लिखा था। वर्ण के अनुसार सब कुछ सोचने और लिखने की इस शैली को उस समय विशेष धक्का लगा जब देश में अनेक ऐसे लोग आकर बस गये जिनके लिए वर्ण का कोई महत्व ही न था। उनसे अपना बड़ा भेद देख कर भारतीयों ने हिन्दुत्व अथवा भारतीयता का भाव अपना लिया।

मुसलमानों के आने पर भारतवर्ष का सम्पर्क पश्चिमी देशों से भी अधिक हो गया। मध्य काल में बराबर लोग आते-जाते रहे और व्यापारिक सम्बन्ध भी स्थापित हो गया। भारतवर्ष में नवीन-नवीन फलों का भी प्रचलन हो गया। नवीन-नवीन ढंग से मिठाइयाँ भी बनने लगीं और पक्वान्न भी तैयार किये जाने लगे। इन सबके विदेशी नाम आज तक प्रचलित हैं और इतने साधारण हो गये हैं कि इनको कोई विदेशी नहीं समझता। कई प्रकार के नवीन वस्त्र और उनके पहनावे भी प्रचलित हुए जो आज सम्पूर्ण देश में और विशेष कर उत्तरी भाग में

बहुत ही साधारण से हो गये हैं। उद्यान बनाने की कला और विज्ञान में भी पहिले की अपेक्षा अधिक उन्नति हुई।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे प्रमाणित है कि मुसलमानों के शासन काल अर्थात् भारतीय इतिहास के मध्यकाल में भारतीय जनता ने अपने जीवन को नवीन परिस्थिति के अनुकूल बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया तथापि उनकी संस्कृति के प्राचीन सिद्धान्त प्राचीन रूप में अथवा परिवर्तित रूप में नित्य प्रचलित रहे। प्राचीन संस्कृति की शृंखला कदापि नहीं टूटी।

१६—संस्कृति कहते हैं ?

ज्ञान के द्वारा प्रकृति पर विजय; तत्त्व-ज्ञान के द्वारा विश्व, आत्मा, परमात्मा, जीवन, मरण, सुख और दुःख की उलझी हुई समस्याओं को सुलझाने का युक्तिपूर्ण प्रयत्न; मानवी प्रकृति पर विजय अर्थात् चित्त की वृत्तियों का संयम और नियमन; सामाजिक हित और सेवा का व्यापक भाव; व्यक्तिगत और सामाजिक सामंजस्य-आदि के आदर्शों की व्यावहारिक उपयोगिता का ही नाम संस्कृति है।

१--ज्ञान के द्वारा प्रकृति पर विजय—संसार में जितने पशु, पक्षी आदि चेतन प्राणी हैं, सभी चिरकाल से प्रकृति के आधीन हैं। आँधी, पानी, गर्मी, सर्दी- दूभिक्ष, महामारी आदि से वे अपनी रक्षा कर सकने में सर्वथा असमर्थ हैं। हाँ, यह कहा जा सकता है कि जंगली मनुष्य पशुओं से अच्छे हैं किन्तु उन पर भी प्रकृति बड़ी प्रबलता के साथ प्रहार किया करती है और वे पूर्ण रूप से अपनी रक्षा नहीं कर पाते। ज्यों ही नदियों में बाढ़ आई त्यों ही वे बह गये। अकाल पड़ने और शिकार न मिलने पर वे सब मृत्यु के आहार बन जाते हैं। जंगली जानवरों से भी उनको नित्य भय बना रहता है। जिन भूत-प्रेतों की वे कल्पना करते हैं वे भी उन्हें सभी दिशाओं में तंग करते रहते हैं।

वे सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, मेघ, आँधी, बिजली पृथिवी पर्वत, नदी और समुद्र आदि को देवता के रूप में पूजकर उन्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं किन्तु उनके सम्बन्ध में उचित ज्ञान प्राप्त कर उन्हें जीतने का प्रयत्न नहीं करते। तात्पर्य यह कि उनके प्रकोप से रक्षा का उचित प्रबन्ध करने और उनकी शक्ति के द्वारा लाभ उठाने की चेष्टा नहीं करते। किन्तु ज्यों-ज्यों उनका ज्ञान बढ़ता जाता

हैं त्यों-त्यों वे प्रकृति पर विजयी होते रहते हैं। संस्कृति का एक स्तम्भ यह भी है और इसका मूल मंत्र है ज्ञान। इसे स्पष्ट करने के लिए यों कहना पड़ता है। कि अज्ञानता की अव्यवस्था में मनुष्य नदी से पानी पी सकता है किन्तु और कुछ नहीं कर सकता। इतना ही नहीं, वह नदी की विशालता और तीव्र प्रवाह को देखकर भयभीत भी होगा। यदि उसने अधिक साहस किया तो उसी नदी के प्रवाह में डूबकर मर जायगा।

किन्तु उचित ज्ञान होने पर मनुष्य नौका तैयार कर सरलता के साथ नदी पार कर सकेगा, पुल बनाकर यातायात की रुकावटों को एकदम दूर कर देगा। नदी से खेतों को सींच कर उपज बढ़ा लेगा, नहर तैयार कर कृषि-विभाग की उन्नति कर लेगा। नदी के प्रवाह से चक्की चला लेगा और बिजली की शक्ति उत्पन्न कर प्रकाश, पंखे और मशीन का प्रबन्ध कर सकेगा। नदी के तट पर सुन्दर-सुन्दर नगर बसा लेगा और नदी के द्वारा व्यापार भी कर लेगा। संभव है कि कभी-कभी नदी का प्रवाह ऐसा बढ़ जाय जिससे कि ग्राम और नगर डूब जायं, पुल और नौका का उपयोग भी व्यर्थ हो जाय तथा सभी दिशाओं से त्राहि त्राहि की पुकार सुनाई पड़ने लगे।

किन्तु एक तो ऐसी स्थिति बहुत कम उत्पन्न होगी और दूसरे इससे इतना ही प्रमाणित होगा कि नदी पर अभी पूर्ण रूप से विजय नहीं हो पाई है इसलिए कहना पड़ता है कि ज्यों-ज्यों मनुष्य का ज्ञान बढ़ता जायगा और उसे व्यावहारिक रूप मिलता जायगा त्यों-त्यों विजय की मात्रा भी बढ़ती जायगी। ज्ञान के द्वारा ही आँधी और मेघ पर विजय प्राप्त की जाती है अर्थात् सुन्दर भवन बनाये जाते हैं और पानी के प्रवाह का यथोचित प्रबन्ध किया जाता है।

ज्ञान के द्वारा ही पृथिवी पर खेती की जाती है, खानें खोदकर अनेक प्रकार के खनिज पदार्थ निकाले जाते हैं और उद्योग, व्यापार, जीवन-निर्वाह आदि का समस्त प्रबन्ध किया जाता हैं गणित और भौतिक शास्त्र के ज्ञान के द्वारा वाष्प और बिजली को जीतकर रेल, तार, बेतार, रेडियो, जहाज, वायुयान आदि का आविष्कार किया गया हैं। अनेक प्रकार की वस्तुएं तैयार करने के लिए पुतलीघर स्थापित किये गये हैं। प्रकृति पर यह सब विजय ज्ञान के द्वारा ही की गई हैं इसी विजय से कष्ट दूर होता है और सुख तथा ऐश्वर्य के असंख्य साधन नित्य प्रकट

हुआ करते हैं।

२तत्व—ज्ञान के द्वारा विश्व, आत्मा, परमात्मा, जीवन, मरण, सुख और दुःख की उलझी हुई समस्याओं को सुलझाने का युक्ति पूर्ण प्रयत्न—प्रकृति पर विजय दिलाने वाले ज्ञान के अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार का भी ज्ञान है। जिस समय यह ज्ञान मानव हृदय में अंकुरित होने लगता है उस समय स्वभाव से ही निम्न लिखित प्रश्नावली का उदय होता है। प्राकृतिक शक्तियों के पीछे कोई चेतन शक्ति है या नही ? इस सम्पूर्ण विश्व की रचना करने वाला और इसका नियमन करने वाला कोई है या नहीं ? यदि है तो मनुष्य में उसका कोई अंश है या नहीं ? यदि है तो इस अप्राकृतिक पदार्थ का सम्बन्ध विश्व के स्वामी से किस प्रकार का है ? मृत्यु के पश्चात् क्या होता है ?

कुछ मननशील विद्वानों का कथन है कि ऊपर उल्लेख की गई प्रश्नावली जिस विषय से सम्बन्ध रखती है वह अज्ञेय है। कुछ विचारवान् पण्डितों का कहना है कि उस विषय तक पहुँच सकना ही हमारी बुद्धि के परे हैं। फिर भी मनुष्य का मस्तिष्क इन अवश्यंभावी प्रश्नों को यों ही नहीं छोड़ सकता। वह विश्व की समस्या की तह पर पहुंचने का निरन्तर अथक परिश्रम करता है और भिन्न-भिन्न प्रकार के सिद्धान्त निकालता है।

कुछ मनुष्य ऐसे भी हैं जो इस जीवन को ही सब कुछ मानते हैं और पर लोक से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों को केवल वितण्डावाद समझते हैं, वे भी कभी-कभी मृत्यु के दृश्य के सामने भौचक्के-से रह जाते हैं और अस्तित्व के रहस्य की ओर झुकते हैं। सार्थक हो चाहे व्यर्थ हो, अध्यात्मिक जिज्ञासा मिटाये नहीं मिटती। संसार में असंख्य भिन्न-भिन्न प्रकार के सिद्धान्त निकल चुके हैं और निकल भी रहे हैं। फिर भी इनके सत्यासत्य का निर्णय कोई नहीं कर सकता। केवल इतनी ही परीक्षा की जा सकती है कि किस जाति ने तत्त्व-ज्ञान में कितनी गंभीरता और युक्ति से काम लिया है।

यह संभव हैं कि तत्त्व-ज्ञान से भौतिक सुख की विशेष प्राप्ति न हो किन्तु इतने पर भी स्वीकार करना पड़ता है कि वह एक दूसरे प्रकार के सुख का साधना अवश्य है।

३—मानवी प्रकृति पर विजय—मानवी प्रकृति में कई प्रकार की प्रवृत्तियाँ

हैं जिनका नियमन व्यक्ति के जीवन की शान्ति और सुख के लिये तथा समाज के सामंजस्य और संवृद्धि के लिए आवश्यक है। क्रोध, मान, लोभ, ईर्ष्या और निष्ठुरता से व्यक्ति अपना और दूसरों का जीवन स्वार्थ मय और कष्ट पूर्ण बना देता है अथवा बना सकता है। इन सब को जीतना अर्थात् इनकी प्रबलता को सामाजिक संवृद्धि के मार्गों में व्यवहारिकता का रूप दे देना संस्कृति के लिये आवश्यक है।

यदि ये प्रवृत्तियाँ अच्छृङ्खल होकर जीवन पर अपना ही अधिकार स्थापित करलें तो मानव समाज द्वेष और संग्राम का केन्द्र बन जाय तथा सामाजिक सुख और उन्नति में बड़ी बाधा उपस्थित हो। इसके प्रतिकूल यदि अहिंसा, स्नेह और सहानुभूति की प्रधानता हो तो यही संसार मानव-मस्तिष्क के द्वारा कल्पना किये गये सम्पूर्ण सुखों से सम्पन्न स्वर्ग के समान हो जाय। आज तक कोई समाज ऐसा नहीं हुआ जिसमें केवल अनिष्टकारी प्रवृत्तियों अथवा यों कहना चाहिए कि सामाजिक उच्छृङ्खलता की द्योतक प्रवृत्तियों का ही अकंटक राज्य रहा हो अथवा केवल परोपकारी प्रवृत्तियों अर्थात् सामाजिक वृद्धि की सहायक प्रवृत्तियों का ही बोलवाला रहा हो। इतिहास में सर्वदा दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण पाया जाता है।

४—सामाजिक हित और सेवा का व्यापक भाव—समाज को सुख शान्ति पहुँचाने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति एक दूसरे को हानि न पहुँचाएँ। साथ ही साथ सामाजिक उन्नति के लिए यह भी आवश्यक है कि व्यक्ति समाज की सेवा करे अर्थात् अपने मानसिक औद्योगिक, राजनैतिक अथवा दूसरे प्रकार के प्रयत्नों से सामाजिक उन्नति की चेष्टा करे। यह सामाजिक सहयोग अत्यन्त आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है क्योंकि समाज के अनेक कार्य इतने विशाल और कठिन हैं कि अनेक मनुष्यों के सम्मिलित विचार और संगठित प्रयत्न से ही पूर्णता को प्राप्त हो सकते हैं।

मान लीजिए कि आपको सामाजिक अवस्था की समीक्षा कर उसकी उन्नति के उपाय स्थिर करना है, राजनैतिक जीवन में ऊँचे आदर्श स्थापित कर सब के हितों की सेवा करना है और सामाजिक न्याय को सर्वव्यापक बनाना है किन्तु आप अकेले कुछ भी नहीं कर सकेंगे। ये समस्त कार्य तभी सफलता के साथ

पूर्ण हो सकेंगे जब अनेक स्त्री-पुरुष सार्वजनिक जीवन में समान रूप से सम्मिलित होकर भाग लेंगे और व्यक्तिगत स्वार्थ तथा पक्षपात से रहित होकर समाज की सेवा करना अपना परम धर्म समझेंगे।

शिक्षण में आर्थिक जीवन में और जीवन के दूसरे विभागों में भी सहयोग और सेवा की परम आवश्यकता है। जो संस्कृति पर्याप्त संख्या में निष्काम समाज-सेवक उत्पन्न कर सकती हैं अर्थात् जो अपने आदर्शों और परिस्थितियों के द्वारा समाज-सेवा का भाव उत्पन्न कर सकती है और आगे चलकर उन्हें स्थिर भी कर सकती है वह संस्कृति अवश्य उन्नति करेगी और सम्पूर्ण संसार में सफल कहलाने के योग्य होगी।

५—व्यक्तिगत और सामाजिक सामंजस्य—संसार में कुछ मनुष्य ऐसे हैं जो धनी, विद्वान्, सच्चरित्र और समाज के सेवक होते हुए भी नित्य सुख से वंचित रहते हैं। दूर से देखने पर उनके पास किसी भी वस्तु का अभाव नहीं दिखाई पड़ता, फिर भी वे भीतर ही भीतर घोर अशान्ति के शिकार बने रहकर विशेष कष्टों का अनुभव किया करते हैं। इसी प्रकार अनेक समाज भी हैं जिनमें विद्या और वैभव की अधिकता है और समाज-सेवकों का भी अभाव नहीं है, फिर भी वे असंतोष और क्लेश के चंगुल में फँसे हुए हैं।

यदि कोई इसका कारण जानना चाहे तो वह अपने ही जीवन का विश्लेषण करे। उसे तुरन्त पता चल जायगा कि सुख और शान्ति के लिए आन्तरिक सामंजस्य की ही आवश्यकता अधिक है। किसी शारीरिक अथवा मानसिक शक्ति की अतिशय अधिक प्रबलता हो जाय और अन्य शक्तियाँ यों ही अविकसित रूप में पड़ी रहें तो जीवन अधूरा रह जायगा तथा पूर्ण सुख एवं सन्तोष दूर भाग जायगा। यदि थोड़ी सी चित्त-वृत्तियों की पूर्ति अधिक मात्रा में की जाय और अन्य वृत्तियों की अवहेलना की जाय तो मनुष्य का आन्तरिक जीवन एक प्रकार के मौन संग्राम का क्षेत्र बन जायगा। जब समस्त शक्तियों और वृत्तियों का यथोचित विकास और प्रसार होता है, जब उनका पारस्परिक विरोध नष्ट हो जाता है, जब बुद्धि के द्वारा उन सब का सामंजस्य और संगठन कर दिया जाता है तभी व्यक्तित्व की पूर्णता होती है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि मनुष्य सामाजिक जीव है। समाज के बिना

न तो व्यक्ति का जन्म हो सकता है, न भरण-पोषण हो सकता है और न मानवी शक्तियों का यथोचित विकास हो सकता है। जिस समय शिशु अपनी जननी का दुग्धपान करता है उसी समय वह सामाजिकता का भी पान करता है। फिर वह क्रमशः सामाजिक जीवन का एक अभिन्न अंग बन जाता है। भारतीयों और अन्य जातियों के संस्कार इसी सामाजिक दीक्षा के चिह्न अथवा घोषणा-पत्र छोड़ कर और कुछ नहीं हैं।

व्यक्ति तो स्वभाव से ही समाज का एक अंग है अतएव समाज से अर्थात् अन्य व्यक्तियों और समुदायों से उसका अवश्य सामंजस्य होना चाहिए। यदि सामंजस्य नहीं है तो उसके जीवन में कठिनाई और अड़चन होना अनिवार्य है। साथ ही साथ सामाजिक जीवन भी किसी-न-किसी अंश में अव्यवस्थित हो जायगा। इसीलिए मनुष्य अपने व्यक्तित्व की अथवा अपनी सामाजिकता की पूर्ति के लिए अनेक समुदाय अथवा संघ स्थापित करता है। राजनीति, शिक्षा, उद्योग, धर्म, साहित्य, मनोरंजन आदि की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह भिन्न-भिन्न प्रकार के संगठन करता है। इसीलिए इस प्रकार के अनेक समुदाय स्थापित हो जाते हैं। कुटुम्ब का समुदाय तो मानों प्रकृति ने ही बना दिया हो।

जिस प्रकार व्यक्तिगत जीवन में चित्त की समस्त वृत्तियों की सन्धि और उन सबका सामंजस्य आवश्यक है उसी प्रकार सामाजिक जीवन में भी समस्त व्यक्तियों और समुदायों के सामंजस्य की अधिक आवश्यकता है। सामंजस्य का अर्थ कदापि दमन नहीं है। समान रूप से विकास और प्रसार का ही अर्थ सच्चा सामंजस्य है। व्यक्ति समुदाय और समाज के सच्चे सामंजस्य की जितनी अधिक प्रबलता होगी उतनी ही अधिक सुगमता जीवन में भी होगी। यदि संस्कृति का उद्देश्य मनुष्य के जीवन की पूर्णता और सुख है तो सामंजस्य को भी संस्कृति का एक अंग अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा।

१७—प्राचीन भारतीय संस्कृति पर एक दृष्टि

संस्कृति के सम्बन्ध में जो कुछ वर्णन किया गया है उससे यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि मानव-मात्र में कल्याण की अधिकाधिक सद्भावना को विकसित कर समस्त संसार में सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित कर देना ही मानव संस्कृति का एकमात्र लक्ष्य है। अब इस स्थल पर हमें यह निश्चय करना है कि

प्राचीन भारतीय संस्कृति पूर्व कहे गये सिद्धान्तों के आधार पर विकास को प्राप्त हो चुकी थी अथवा नहीं ? क्योंकि जब तक इस शंका का पूर्ण रूप से समाधान नहीं होता तब तक न तो हममें आत्म-बल उत्पन्न होगा और न हम अपना आत्म-विकास ही कर सकेंगे।

जिस प्रकार शताब्दियों से हम अपने सम्बन्ध में दूसरों से ज्ञान प्राप्त करते चले आ रहे हैं और उस भ्रमात्मक ज्ञान से प्रभावित होने के कारण अपनी संस्कृति के प्रति उपेक्षा और उदासीनता के भावों को ही अपनाते रहे हैं उसी प्रकार भविष्य में भी हमें पराधीनता-काल के ही पथ पर अपनी संस्कृति की रूप-रेखा देखनी पड़ेगी जिसका परिणाम भारतीय स्वतन्त्रता के हित में कदापि कल्याणप्रद नहीं हो सकेगा। प्राप्त की गई आधुनिक भारतीय स्वतन्त्रता को दीर्घकालीन स्थायित्व प्रदान करने में प्राचीन भारतीय संस्कृति पूर्ण रूप से सामर्थ्य रखती है यदि इसकी मान-मर्यादा की रक्षा यथोचित रूप से की जाय।

हमें यह नित्य स्मरण रखना चाहिए कि प्राचीन भारतीय संस्कृति का स्थान सर्वदा ऊँचा रहेगा। हाँ, इस स्थल पर यह तो स्वीकार करना पड़ेगा ही कि अनेक विदेशीय विद्वान् लेखकों ने इसको पूर्ण रूप से समझने का प्रयत्न न करके इधर-उधर की अनेक निराधार बातों को ही लिख मारा है। यही कारण है कि आज भी अनेक भारतीय इतिहास-लेखक प्राचीन काल में वर्तमान विदेशीय ढंग की सामाजिक व्यवस्था, जनसत्ता आदि ढूँढ़ने का प्रयत्न करते रहते हैं।

अभी तक जो सामग्री प्राप्त हो चुकी है उससे स्पष्ट है कि प्रकृति-ज्ञान में प्राचीन काल के भारतीय अपने समकालीन किसी राष्ट्र या जाति से किसी भी अंश में कम नहीं थे। इस स्थल पर हम यह स्वीकार करते हैं कि कुछ बातें जो चीन, मिस्र, ग्रीस या रोम के निवासियों को ज्ञात थीं, वे उस समय के भारतीयों से छिपी हुई थीं, किन्तु उन समस्त बातों के अतिरिक्त ऐसी अनेक बातें थीं जो उस समय केवल भारतीयों को ही ज्ञात थीं।

यह सत्य है कि विगत दो सौ वर्षों में यूरुप ने वैज्ञानिक आविष्कारों की धूम मचा दी है और इतनी शीघ्रता से उन्नति की है कि देखने वालों को आश्चर्य होने लगता है किन्तु सत्रहवीं शताब्दी तक यूरुप का प्राकृतिक ज्ञान साधारण दृष्टि से प्राचीन भारत की तुलना में अधिक न था। गणित और ज्योतिष में भारतीय

उनसे बढ़ कर ही थे । रसायन में उनके बराबर न होने पर भी वैद्यक में बहुत उन्नति कर चुके थे । नहर, तालाब, बाँध, भवन आदि बनाने में किसी से कम न थे । शरीर की बनावट का ज्ञान और बनस्पतियों का ज्ञान भारतीयों को जैसा था वैसा किसी भी प्राचीन जाति को नहीं था । प्राचीन काल के भारतीयों ने ऐसी ऐसी दवाओं का पता लगाया जिनका उपयोग आज भी हो रहा है । यह सत्य है कि जन्तु शास्त्र में भारतीय पीछे रह गये थे किन्तु अठारहवीं शताब्दी तक किसी भी जाति का जन्तु-ज्ञान उन्नति को नहीं प्राप्त हो सका था । मनोविज्ञान में भारतीयों के अनेक सिद्धान्त बड़े विलक्षण हैं । योग-शास्त्रों में उन्होंने मानसिक प्रवृत्तियों का जितना विश्लेषण किया है वह बड़ा ही आश्चर्यजनक है और नीति सम्बन्धी शास्त्रों में भी उन्होंने जो कुछ विवेचन किया है वह भी अधिक प्रभावशाली है । हम यह स्वीकार करते हैं कि उनकी मानस,शास्त्र की प्रणाली आधुनिक युग के अनुसार सर्वथा वैज्ञानिक नहीं थी किन्तु यह स्मरण करा देना उचित समझते हैं कि वैज्ञानिक मानस-शास्त्र अठारहवीं शताब्दी से पूर्व कहीं था ही नहीं ।

कुछ भी हो, यह सभी स्वीकार करते हैं कि ज्ञान और प्रकृति पर विजय के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय संस्कृति सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी से पूर्व किसी भी विदेशीय संस्कृति से कम न थी । स्वीकार करते हैं कि प्रकृति पर जैसी विजय होनी चाहिए थी वैसी नहीं हुई । अतिवृष्टि, अवृष्टि इत्यादि प्राकृतिक विपत्तियों के परिणामों का यथोचित निराकरण नहीं हुआ, आवागमन के मार्गों में असुविधाएँ बनी रहीं और जैसे आविष्कार आधुनिककाल में हुए हैं वैसे उस काल में नहीं हुए । फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रकृति के कारण उत्पन्न होने वाली कठिनाइयाँ भी अनेक और बहुत बड़ी होती हैं और उन पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त करने के लिए अनेक शताब्दियों की आवश्यकता होती हैं, इसीलिए आज भी प्रकृति पर पूर्णतया विजय नहीं की जा सकी है । हाँ, हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि भारत के प्राचीन निवासियों को भौतिक शास्त्रों की ओर कुछ अधिक ध्यान देना चाहिए था किन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि उन सबों ने जितना किया वह उस युग की दृष्टि से निस्सन्देह प्रशंसनीय कहा जायगा ।

प्रकृति-ज्ञान को छोड़कर ज्यों ही हम तत्त्व-ज्ञान की ओर दृष्टिपात करते हैं

त्यों ही प्राचीन भारतीय संस्कृति का गौरव और भी अधिक स्पष्ट प्रतीत होने लगता है। उपनिषदों के युग से लेकर बारहवीं तेरहवीं शताब्दी तक प्राचीन भारतीयों ने संसार की मीमाँसाओं को सुलझाने का प्रयत्न बड़े योग से और बड़ी युक्ति से किया। संभव है कि उनके निष्कर्षों से कोई सहमत हो या न हो किन्तु उपनिषद्, षड्दर्शन, भगवद्गीता, तथा बौद्ध और जैन दर्शनों के महत्व से कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।

जर्मनी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक शापनहायर ने कहा था कि भारतीय उपनिषदों से मुझे अपने जीवन में शान्ति मिली है और उन्हीं उपनिषदों से ही मुझे अपनी मृत्यु में भी शान्ति मिलेगी। मैक्समुलर ने कहा था कि मनुष्य के मस्तिष्क ने सब से बड़े सिद्धान्त और सबसे बड़ी युक्तियाँ भारतवर्ष में ही निकालीं। हाउस्टन स्टुअर्ट चेम्बरलेन इत्यादि लेखक भी जो नित्य जर्मन जाति वालों की श्रेष्ठता और प्रधानता के गीत गाया करते थे, इतना तो मानते ही थे कि तत्त्वज्ञान में भारतीयों की बराबरी कोई नहीं कर सका।

यह कहा जा चुका है कि संसार की समस्या कभी न कभी सभी के सामने आती है और मृत्यु के बाद क्या होता है? इस प्रश्न के प्रभाव से कोई बच नहीं सकता। प्राचीन भारतीयों का स्वभाव इतना गम्भीर था कि अपने प्रश्नों का उत्तर पाये बिना उन्हें एक क्षण के लिए भी शान्ति नहीं मिलती थी। वे इसे भली भाँति समझ चुके थे कि तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में मतभेद अनिवार्य है और सत्य के अनुसन्धान में सहनशील होना अत्यन्त आवश्यक है। प्राचीन भारत में विचार की स्वतन्त्रता का व्यापक राज्य था, इसीलिए यहाँ अनेक प्रकार के सिद्धान्तों का प्रचार किया जा सकना सम्भव हो गया। कोई किसी सिद्धान्त को मानता था, कोई उसके विपरीत दूसरे किसी सिद्धान्त का अनुयायी था। कोई परमात्मा में विश्वास करता था और कोई अनात्मवादी सिद्धान्तों का समर्थक था। किसी किसी को तो आत्मा अथवा पुनर्जन्म का अस्तित्व ही मान्य न था। उस समय की प्रचलित समस्त धारणाओं अर्थात् सिद्धान्तों पर पूर्णरूप से वाद-विवाद हुए और अन्त में थोड़े से सिद्धान्त लगभग समस्त जाति को मान्य हुए। यदि विचार की स्वतन्त्रता और सहनशीलता प्राचीन काल के भारतीयों में न होती तो ऐसी आश्चर्यजनक सफलता कदापि नहीं हो सकती थी।

प्राचीन भारतीय तत्त्वज्ञान का प्रधान गुण यह है कि वह अस्तित्व की चरम सीमा तक पहुंचने का पूर्ण प्रयत्न करता है और नित्य युक्तियों के मार्ग पर चलकर सिद्धान्तों को स्थापित करता है। इसीलिए इस देश में न्याय अर्थात् तर्क अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया। आदि से लेकर अन्त तक समस्त तत्त्वज्ञान में निर्भयता कूट-कूट कर भर दी गई है। निर्भयता के सन्बन्ध में प्राचीन भारतीय संस्कृति का स्थान निस्सन्देह सर्वश्रेष्ठ है। आपत्ति के योग्य बात केवल इतनी ही है कि तत्त्वज्ञान में भारतीयों ने आवश्यकता से अधिक मानसिक शक्ति का उपयोग किया और यथोचित सामंजस्य की ओर से एक प्रकार उदासीन ही रहे।

परलोक के चिन्तन अनेक भारतीयों ने इस लोक को ही भुला दिया। किसी-किसी समय आध्यात्मिक अनुसन्धान के प्रयास के कारण वैराग्य और सन्यास की ऐसी धूम मच गई कि असंख्य कुटम्बियों का जीवन ही अस्तव्यस्त हो गया। नैतिक शक्ति का एक विशेष भाग समाज की सेवा से दूर हटकर जंगलों और पहाड़ों में चला गया, इसीलिए कभी-कभी राजनीति से सम्बन्ध रखने वाले जीवन में भी कठिनाइयाँ उत्पन्न होगई। यही कारण है कि परलोक की चिन्ता ने राजनैतिक जीवन के निजी महत्त्व को तुच्छ कर दिया और समाज पर आने वाले दुःखों और संकटों का सामना पूर्णरूप से संगठित शक्ति से होने का अवसर भी प्रदान न किया। इस प्रसंग में यह कह सकते हैं कि यदि उस समय के भारतीयों को तत्त्वज्ञान का प्रेम कुछ कम होता तो उनकी मानसिक प्रतिभा का विकास भौतिक शास्त्रों में और भी अधिक उन्नत हो सकता था और वे जीवन के उपयोगी नवीन नवीन आविष्कारों के द्वारा अपने समाज और मानव-जाति की अधिक सेवा कर सकने का गौरव प्राप्त कर सकते थे।

वास्तव में तत्त्वज्ञान का प्रधान लक्ष्य सत्य का अनुसन्धान करना था किन्तु सत्य के ज्ञानमात्र से उस समय के भारतीयों को सन्तोष न था। प्राप्त किए गए सत्य के आधार पर उन्होंने जीवन का और मुक्ति (मोक्ष) का मार्ग निश्चित करने की भी चेष्टा की। उन्होंने पूर्णरूप से समझ लिया था कि मनुष्य और कुछ करे अथवा न करे किन्तु उसे अपनी प्रकृति पर विजय अवश्य प्राप्त करनी चाहिए, अपनी दुर्बलताओं को दूर करना चाहिए, काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ और मत्सर आदि प्रवृत्तियों को वश में करना चाहिए तथा मृत्यु से कभी भी नहीं डरना चाहिए।

ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धर्मों से सम्बन्ध रखने वाले जितने भी नीतिशास्त्र प्राप्त हैं उन सब में आत्मसंयम की बड़ी महिमा है। प्राचीन काल में गुरुओं के साथ अथवा मठों की बड़ी-बड़ी पाठशालाओं में विद्यार्थियों को सबसे पहले संयम सिखाया जाता था; गृहस्थों को संयम का उपदेश दिया जाता था और वानप्रस्थों तथा सन्यासियों से तो पूर्णरूप से संयम की आशा की जाती थीं। उस समय के भारतीयों में त्याग का जो आदर्श था, वह भी उच्चकोटि के संयम का मार्ग था। यही कारण है कि उस समय असंख्य मनुष्य संसार के समस्त सुख और ऐश्वर्य को ही तुच्छ समझते थे तथा उसे फटे-पुराने कपड़े की भाँति सरलता से छोड़ देने को तैयार रहा करते थे। उस समय के भारतीयों के आचार अथवा धर्म का प्रधान अङ्ग और प्रधान लक्षण संयम था। किन्तु हमारे इस वर्णन से यह कभी नहीं समझना चाहिए कि उस समय के सभी मनुष्य पूर्णरूप से संयमी हो गए थे। यदि यह सत्य होता तो उस समय कहीं भी किसी प्रकार के पारस्परिक संघर्ष न होते। इतिहास के पृष्ठों से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास युद्धों से और वह भी आवश्यक तथा हानिकारक युद्धों से भरा हुआ है। सत्य तो यह है कि राजवर्गों में और जनसाधारण में पूर्णरूप से संयम नहीं था। दूसरों की सम्पत्ति और धरती छीन लेने की प्रबल आकाँक्षा थी इसीलिए कभी-कभी क्रोध और ईर्षा की प्रबलता हो जाती थीं।

उस समय के समाज अथवा कुटुम्ब के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली जो बात ज्ञात हो चुकी हैं, उनसे भी यह सिद्ध नहीं होता कि लोगों में संयम का पूर्ण विकास हो चुका था। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उस समय संयम का आदर्श बहुत ऊँचा था और अनेक मनुष्य उसका पालन करने की चेष्टा करते थे। उस समय के समस्त विद्यापीठों में ब्रह्मचर्य पर अधिक ध्यान दिया जाता था और यावज्जीवन आत्म संयम की शिक्षा दी जाती थी। मनुष्य की प्रकृति पर विजय पाने का महान् प्रयत्न केवल धार्मिक साहित्य में ही नहीं है किन्तु भारतीयों के लौकिक साहित्य में, मूर्तियों और चित्रों में, मन्दिरों और मठों में भी प्रतिबिम्बित है। जब आत्मसंयम की दृष्टि से अवलोकन किया जायगा तब भारतीय कला के गुण और उसकी विशेषता समझ में आ सकती है। गौतम बुद्ध की मूर्तियों का अवलोकन करने से ऐसा ज्ञात होता है मानों कलाकार ने संयम को ही मूर्ति के रूपमें

स्थापित कर दिया है। जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ प्रथमतः इन्द्रिय जीतने वालों की मूर्तियाँ हैं। अनेक ब्राह्मण मूर्तियों में भी यही प्रधान लक्षण पाया जाता है। इसीलिए स्वीकार करना पड़ता है कि मूर्ति-कला के द्वारा संयम के भावों को प्रकट करने का अपूर्व कौशल भारतीयों में था। यद्यपि मूर्ति-कला में ग्रीस का भी नाम आता है किन्तु उनकी कला का प्रधान लक्ष्य शारीरिक सौन्दर्य था और भारतीय मूर्ति कला का लक्ष्य नैतिक सौन्दर्य था। भारतीयों के चित्रों में भी प्रायः शरीर और प्रकृति को गौण रख कर मानसिक अवस्था और वह भी विशेषतया संयम को प्रकट करने का प्रयत्न किया गया है। इतना ही नहीं, अनेक भारतीय कवियों और लेखकों ने संयम और आत्म-निग्रह के वर्णन में ही अपनी प्रतिभा को धन्य समझा है।

फिर भी यह कहना पड़ रहा है कि इस आत्म-संयम के आदर्श और अभ्यास के मूल में एक भयानक दुर्बलता थी जिसका प्रभाव मध्यकालीन यूरुप और पश्चिम एशिया के देशों में भी दृष्टिगोचर होता है, अतएव उसका भी संकेत कर देना इस स्थल पर आवश्यक है। प्राचीन काल के भारतीयों ने कुछ प्रवृत्तियों को पूर्ण रूप से दबाने का अथवा यों कहना चाहिए कि कभी-कभी मिटा देने का भी प्रयत्न किया। उन्होंने यह भुला दिया कि ये प्रवृत्तियाँ मिटाई नहीं जा सकतीं। ये तो इतनी स्वाभाविक हैं कि इनको मिटाने का प्रयत्न करना ही नैतिक और मानसिक जीवन को हानि पहुँचाना है। इसलिए इन प्रवृत्तियों को दबाने अथवा मिटाने के स्थान पर इनके ध्येय ऊँचे करने का, इनकी शक्ति के लिए अच्छे से अच्छे मार्ग निकालने का प्रयत्न करना चाहिये। इनको स्वभावतः निन्दनीय अथवा घृणा के योग्य समझने की कोई आवश्यकता नहीं है। हम तो आज भी यही कहेंगे कि उन सब प्रवृत्तियों को सहर्ष स्वीकार कीजिये और फिर इनका नियमन करने का पूर्ण रूप से प्रयत्न कीजिए। ऐसा न करने से मनुष्य-मात्र का जीवन पूर्णतया सुखमय होगा, समाज में सामंजस्य होगा, सभी दिशाओं में उल्लास का भाव होगा और असामाजिक आचार में भी बहुत कुछ कमी हो जायगी।

मनुष्य की चेतना में अहम् का भाव रहता ही है। समस्त संसार को वह अहम् की दृष्टि से देखा करता है। इसी भाव के कारण उसमें अभिमान होता

है। अभिमान के वशीभूत होकर वह दूसरे मनुष्यों को नीचा समझता है, दूसरों के सुख-दुख का विचार छोड़ देता है और कुछ ही समय में प्रबल अत्याचारी हो जाता है। फिर भी यह विचार करना पड़ता है कि ऐसे अहम् के भाव पर किस प्रकार विजय प्राप्त की जाय? यदि इसे मिटा देने का प्रयत्न किया जाय तो परिणाम मानव-हित के लिए कितना घातक होगा यह भी चिन्ता करने के योग्य विषय हो जाता है क्योंकि अहम् के भाव के मिटते ही व्यक्तिमात्र के व्यक्तित्व के नाश हो जाने का भय है और व्यक्तित्व के नाश होते ही जीवन-चक्र का केन्द्र ही अस्तव्यस्त हो जायगा। इसीलिए स्वीकार करना पड़ता है कि अहम् के भाव को मिटाने का प्रयत्न करना ही अनुचित है। यदि हम इस भाव से लाभ उठाना चाहें तो केवल यही कर सकते हैं कि इसको सामाजिकता से ऐसा परिपूर्ण करदें कि असामाजिक प्रवृत्ति जाती रहे। यदि किसी व्यक्ति को अभिमान हो तो अहिंसा का हो, सत्य का हो और समाज-सेवा का हो। यदि वह अपने को दूसरों से अच्छा समझे तो उनका अपमान न कर उनको अपने आदर्श तक उठाने का नित्य प्रयत्न करे। इसी प्रकार के उपायों द्वारा अहम् के भाव को न मिटाकर उसे शुद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए।

अहम् के समान एक और प्रवृत्ति है। सृष्टि-चक्र को स्थिर रखने के लिए प्रकृति ने अपने विकास-क्रम में मानवी चित्त को ऐसा बनाया है कि स्त्री की ओर पुरुष के चित्त का आकर्षण होता है और पुरुष की ओर स्त्रीके चित्त का। इसी का नाम काम-प्रवृत्ति है। जब यह प्रवृत्ति उच्छृङ्खल हो जाती है तब असंख्य जीवनों का सत्यानाश कर देती है। शरीर, मस्तिष्क और चरित्र को नष्ट कर देती है, साथ ही साथ समाज में हाहाकार मचा देती है। यह इतनी प्रबल प्रवृत्ति है कि उसका नियमन और समाजीकरण सामाजिक संगठन का एक मुख्य उद्देश्य माना गया है। किन्तु इसकी प्रबलता से किंकर्तव्यविमूढ़ होकर अनेक धार्मिक और नैतिक शिक्षकों ने इसको मिटा देने का उपदेश दिया है। जहाँ तक हो सका है इसकी बड़ी निन्दा की है और इससे बचने के लिए संसार छोड़ देने की भी शिक्षा दी है। इसीलिए स्त्रीमात्र की बड़ी निन्दा हुई, पर्दे का प्रचलन आरम्भ हुआ, स्त्रियाँ घरों में बन्द रहने लगीं, अनेक विधवाएँ चिता में जलादी गईं, विधवा-विवाह की प्रथा मृतप्राय हो गई और स्त्रियों का पद भी अधिकांश अधिक

गिर गया।

प्राचीन भारत में ही नहीं किन्तु मध्यकालीन यूरुप में और कई युगों तक कुछ मुसलमान देशों में भी इसी प्रकार के अनेक परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं। संभव है कि अपने प्रधान ध्येय में इससे कुछ सफलता हुई होगी किन्तु सामाजिक क्लेश के रूप में इसका मूल्य आवश्यकता से कहीं अधिक था। इसीलिए काम-प्रवृत्ति को स्वभावतः हानिकर न समझकर उसके प्रकटन का यथोचित प्रबन्ध और उसके ध्येय का यथोचित नियमन करना चाहिए। जिस स्थान पर स्त्री-पुरुष साधारण रूप से नित्य मिला करते हैं उस स्थान पर कुत्सित वासनाएं शीघ्र नहीं उत्पन्न होतीं। जिस स्थान पर शिक्षा और अनुभव से स्त्रियों के मानसिक और नैतिक बल के बिकास का अवसर होता है उस स्थान पर वे सामाजिक जीवन में पूर्ण रूप से भाग लेते हुए भी अपनी रक्षा स्वतः कर लेती हैं। जब प्रेम-विवाह का सुखमय अवसर होता है तब काम-प्रवृत्ति समस्त जीवन को मधुर कर देती है, शिष्टाचार को ऊँचा कर देती है और काव्य तथा कला को पूर्ण रूप से प्रोत्साहन देती है। इस काम-प्रवृत्ति के सम्बन्ध में जिन समाजों ने केवल कोरी दमन नीति के आधार पर अपने आदर्शों का निर्माण किया और इसके लिए संस्थाओं की भी स्थापना की उन समस्त समाजों को अधिक हानि उठानी पड़ी है। प्राचीन भारत के आध्यात्मिक आदर्श में तो क्षुधा, तृष्णा, और शीत आदि को भी जीतने का प्रयत्न है। हम यह स्वीकार करते हैं कि इन्द्रियों को वश में रखने का आदर्श प्रत्येक दृष्टिकोण से उत्तम था किन्तु इसके प्रतिपादक कदाचित् मानव-प्रकृति को पूर्ण रूप से नहीं जान सके थे इसीलिए वे यह भूल गये कि समस्त प्रवृत्तियों के विकास, सामंजस्य और समाजीकरण से ही जीवन की पूर्णता हो सकती है। कुछ भी हों, हम यह स्वीकार करते हैं कि साधारण रूप से संयम में भारतीय आदर्श चरम सीमा तक पहुंच गया था और उसी से जीवन के अनेक भागों के संचालन और उन्नति-साधन में अधिक सहायता प्राप्त हुई।

सत्य बात तो यह है कि संयम का विषय स्वभावतः संस्कृति की चौथी कसौटी सामाजिकता की ओर ले जाता है। प्राचीन भारतीय संस्कृति ने व्यक्तिगत स्वार्थ के स्थान पर किस सीमा तक सामाजिकता और समाज-सेवा की स्थापना की? यह भी एक विचार करने योग्य प्रश्न है। किन्तु इस प्रश्न के पूर्व एक दूसरा प्रश्न

यह उपस्थित होता है कि सामाजिकता और समाज-सेवा का क्षेत्र किस सीमा तक स्वीकार करना चाहिए ?

जो व्यक्ति अपने कुटुम्ब के लिए दिन रात अथक परिश्रम करता है, अपनी स्त्री और सन्तान के लिए सभी प्रकार के कष्टों को भी सह लेता है, उसे हम स्वार्थी नहीं कहेंगे। किन्तु यदि उसका समस्त स्नेह कुटुम्ब तक ही सीमित है, यदि उसकी सहानुभूति उसके घर तक ही रह जाती है, यदि वह अपने कुटुम्ब के लिए दूसरे मनुष्यों को धोखा देने अथवा उनकी सम्पत्ति लूटने को तैयार है तो वह समाज-सेवी नहीं कहा जायगा और न उसमें सामाजिकता की मात्रा ही अधिक मानी जा सकेगी। इसी प्रकार जो व्यक्ति केवल अपने ग्राम को सब कुछ मान बैठता है और बाहर के सुख-दुःख से उदासीन हो जाता है वह केवल ग्राम सेवक है किन्तु सम्पूर्ण समाज का सेवक नहीं। जो व्यक्ति अपने वर्ग अथवा वर्ण के ही कल्याण-साधन में लगा हुआ है अथवा अपने समुदाय या सम्प्रदाय के हितों पर ही अधिक शक्ति का प्रयोग करता है वह भी पूर्ण रूप से समाज सेवक नहीं है। इस विचार-धारा के अनुसार समाज का क्षेत्र उतना ही विशाल है जितना कि मानव जाति का क्षेत्र विशाल है और संस्कृति की कसौटी यह मानी जाती है कि उसके आदर्शों और संस्थाओं के द्वारा समस्त मनुष्यों के हित की सेवा होती है अथवा नहीं।

प्राचीन काल में चीन, मिस्र, पैलेस्टाइन, फ़ारस, ग्रीस, रोम आदि देशों के निवासी अपने ही देश-निवासियों से थोड़ी बहुत सहानुभूति रखते थे और दूसरे देश के निवासियों को असभ्य अथवा नीच मानकर उन्हें दासता अथवा पराधीनता के या बहुत ही नीचे पद के योग्य समझते थे। इस युग में भी अमेरिका, जापान इङ्गलैण्ड, फ्राँस, जर्मनी, रूस और इटली देश के निवासी अपने को सर्व श्रेष्ठ समझने के कारण परस्पर युद्ध कर बैठे और भविष्य में भी युद्ध करने तथा युद्ध के द्वारा अपना स्वार्थ-साधन करने को लालायित हैं। प्राचीन काल के भारत-वासी भी अपने को सर्व श्रेष्ठ मानते थे किन्तु उनकी यही विशेषता अथवा लोकोत्तर श्रेष्ठता थी कि शक्तिशाली होने पर भी उन्होंने कभी दूसरे देशों पर अत्याचार नहीं किया। यह इतिहास के पृष्ठों से ही प्रमाणित है कि उन्होंने दूर-दूर के देशों और द्वीपों में अपने उपनिवेश बनाये और अपनी संस्कृति का प्रचार

किया किन्तु आधुनिक यूरोपियन जातियों के समान कभी वहाँ के मूल निवासियों को मार कर नष्ट नहीं किया, दास नहीं बनाया और न उन्हें पद-दलित ही किया। अशोक, कनिष्क, आदि के शासन-काल में उन्होंने दूसरे देशों की सेवा करने का पूर्ण रूप से प्रयत्न किया। इस दृष्टिकोण से प्राचीन भारतीय संस्कृति संसार की अन्य संस्कृतियों से कहीं श्रेष्ठ प्रमाणित होती हैं।

हम यह भी संकेत कर चुके हैं कि सामाजिकता की परीक्षा देश की सीमा के भीतर ही वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों से भी हो सकती है। इस परीक्षा में भी आज तक कोई संस्कृति पूर्णता को नहीं प्राप्त हो सकी है। ग्रीस और रोम की प्राचीन संस्कृति तो दासता के आधार पर स्थिर थी अर्थात् उन देशों में उस समय असंख्य दास थे जो श्रमिकों के समान जीवन निर्वाह करते थे, अत्याचारों के सामने अपने घुटने टेक देते थे और वहाँ के स्वतन्त्र नागरिक आनन्दपूर्वक राजनीति, साहित्य, कला आदि में संलग्न रहते थे अथवा यों ही सुख-शान्ति का जीवन उपभोग करते थे। मध्यकालीन यूरुप में दासता तो लगभग वन्द हो गई किन्तु किसानों की दशा अर्धदासता के ही समान थी। वर्तमान काल में यूरुप दासता के कलंक से मुक्त है और न वहाँ अर्धदासता के ही चिन्ह पाये जाते हैं फिर भी वर्ग-भेद अधिक है और वहाँ का सामाजिक तथा आर्थिक संगठन ऐसा विचित्र है कि उसके कारण श्रमिकों को अनेक प्रकार के कष्ट सहन करने पड़ते हैं। समाज में भी अनेक वर्ग हैं और प्रत्येक वर्ग के हितों की एक समान सेवा नहीं हो पाती। वर्गों के अधिकांश मनुष्य विशेषरूप से अपने ही वर्ग के हितों की चिन्ता किया करते हैं। अमेरिका, इङ्गलैण्ड आदि में भी अधिक अंशों में ऐसी ही परिस्थिति दृष्टिगोचर होती है। इसीलिए कहना पड़ता है कि इस प्रकार एक ही देश के भीतर सामाजिकता अथवा समाजसेवा का अभाव दिखाई पड़ता है। सहानुभूति का क्षेत्र संकुचित दिखाई देता है, स्नेह का क्षेत्र सीमित जान पड़ता है।

इन समस्त संस्कृतियों का यह दोष प्राचीन भारतीय संस्कृति में भी था और कहीं-कहीं तो सबसे अधिक था। निस्सन्देह प्राचीन भारतवर्ष में निम्न श्रेणी के मनुष्यों का अपमान होता था, उन सबों को उन्नति के अवसर बहुत कम दिये जाते थे, समुन्नत मानसिक और आध्यात्मिक जीवन से पूर्णतया वंचित थे और उन सब

की आर्थिक दशा अधिक शोचनीय थी। सूत्रकार, स्मृतिकार और पुराण-लेखक आदि सबों का कथन है कि इन जातियों का एक मात्र धर्म है द्विजों की सेवा। इस प्रकार यहाँ द्विजों के सुख का विचार था। शूद्र केवल उस सुख के साधन थे। थोड़े से शूद्रों की दशा अवश्य सन्तोषजनक थी किन्तु अनेक बहुत ही नीचे के धरातल पर जीवन निर्वाह किया करते थे। इस सम्बन्ध में उच्च श्रेणी के मनुष्यों के हृदय इतने संकुचित थे कि इस प्रकार का सामाजिक अत्याचार उनको अत्याचार ही न जान पड़ता था। धर्म का विधान अथवा पूर्वजन्म के कर्मों का फल मान कर वे उसी सँगठन के संरक्षण में अपने को धन्य समझते थे इसीलिए सामाजिक न्याय का भाव ही उस समय निर्वृत-सा हो गया था।

यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि उस समय स्वयं द्विजों में भी समानता का कोई भाव नहीं था। तीन बड़े भेद थे और छोटे-छोटे तो असंख्य भेद थे। सब को समान रूप से उन्नति और सुख के अवसर प्राप्त नहीं थे। जन्म की दैवी घटना से मनुष्य का पद स्थिर कर दिया जाता था। जिसने वैश्य वश में जन्म लिया उसको बृहस्पति के समान विद्वान् होने पर भी किसी बड़ी विद्यापीठ का अध्यक्ष बनने का अवसर अधिक नहीं था। व्यक्ति और समाज के सुख तथा उन्नति के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक स्त्री पुरुष अपनी शारीरिक, मानसिक और नैतिक शक्तियों का पूर्ण रूप से विकास कर सके। जिस व्यवसाय की ओर अपनी प्रवृत्ति और आकांक्षा हो, वह व्यवसाय कर सके। अपने गुणों के कारण वह जितने सम्मान के योग्य हो उतना अपने समय के समाज से अबाधरूप से प्राप्त कर सके। यदि वर्णभेद के सिद्धान्त पूर्ण रूप से माने गये होते तो यह स्वतन्त्रता नष्ट हो गई होती। मनुष्य की प्रकृति ने सिद्धान्त की बेड़ी को अनेक अंशों में बहुत कुछ तोड़ दिया किन्तु सिद्धान्त भी ऐसा प्रबल था कि उसने व्यवसाय की स्वतन्त्रता में अनेक प्रकार की रुकावटें उपस्थित कीं।

प्राचीन काल के भारतीयों की कुछ ऐसी धारणा थी कि जन्म से ही व्यवसाय की प्रवृत्ति नियत हो जाती है। (वे विश्वास करते थे कि ब्राह्मण का ही पुत्र विद्यापीठ का अध्यक्ष होने के योग्य है, क्षत्री का ही बालक सेनापति होने के योग्य है, पुरोहित की ही सन्तान पुरोहिती के योग्य है और व्यापारी का ही लड़का व्यापार के योग्य है किन्तु यह विश्वास भ्रममूलक ही प्रमाणित हुआ। वैज्ञानिक

परीक्षाओं ने इसे असत्य सिद्ध कर दिया है। यह बात मानी जा सकती है कि घर में पिता के व्यवसाय की शिक्षा का साधन अवश्य रहता है किन्तु मानसिक शक्तियों की विशेषता अथवा प्रवृत्ति पैतृक वंश के अधीन नहीं हो सकती। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और यथोचित शिक्षा होने पर ही मनुष्य को अपनी विशेष प्रवृत्ति का ज्ञान होता है। इस स्थल पर भारतीय सङ्गठन ने व्यक्तित्व पर विशेषरूप से आघात किए और समाज-सेवा के अवसर अनुचित ढङ्ग से कम कर दिए। कहना पड़ता है कि न्यायालयों में दण्ड देने के समय वर्ण का जो विचार किया जाता था उससे केवल न्याय की ही हत्या की जाती थी।

वर्ण, वर्ग, जाति-पाँति के भेदों और उपभेदों से भारतीय समाज छिन्न-भिन्न होकर असंख्य टुकड़ों में बिखर गया। प्रत्येक टुकड़े का अपना एक पृथक् जीवन था। कहना तो यों चाहिए कि उनका संसार ही भिन्न था। राष्ट्रीयता का भाव कभी उदय न हुआ और न मुसलमानों के आने के पूर्व भारतीय होने का भाव ही प्रबल हुआ। इसीलिए सामाजिक विच्छेद के कारण राजनैतिक विच्छेद भी हो गया जिसका कुपरिणाम यह हुआ कि देश को अनेक बार नीचा देखना पड़ा। छुआछूत, खानपान और विवाह आदि के प्रतिबन्धों का प्रभाव मन पर यही पड़ता कि हमारे देश में एक सङ्गठित समाज नहीं है, एक राष्ट्र नहीं है, एक जनता नहीं है, यहाँ तो अनेक प्रकार के समाज और अनेक विचार की जनताएँ हैं।

हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि सम्पूर्ण समाज की सेवा और सम्पूर्ण समाज की भक्ति का भाव थोड़े से ही मनुष्यों के हृदय में उत्पन्न होता है। जब उस समाज पर बाहर से अथवा भीतर से कोई संकट आता है तब इने गिने मनुष्य ही अपने हृदय की प्रेरणा से उसकी रक्षा के लिए साहसपूर्वक अग्रसर होते हैं। किन्तु सामाजिक विच्छेदों के कारण साधारण समय में भी सम्पूर्ण समाज की सेवा का भाव निर्बल हो जाता है, सहानुभूति का क्षेत्र अतिशय संकुचित हो जाता है और परिणाम स्वरूप हृदय भी संकीर्ण हो जाता है। वास्तव में भारतीय सामाजिक संगठन की यह सब से अधिक दुर्बलता थी। इसी प्रकार वर्ण-व्यवस्था से भी देश की रक्षा में भिन्न प्रकार की रुकावट उत्पन्न हुई।

प्राचीन काल के भिन्न-भिन्न देशों के इतिहास का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि भयानक आपत्ति काल में वहाँ के अनेक समाजों के समस्त पुरुष अपने

अपने देश के गौरव की रक्षा के लिए युद्ध करने को तैयार हुए हैं। ईसवी पूर्व की पाँचवीं शताब्दी में फ़ारस ने जिस समय ग्रीक नगर-राज्य एथेन्स पर आक्रमण किया था उस समय एथेन्स नगर के निवासी सामुहिक रूप से युद्ध के लिए तैयार हुए थे। स्पार्टा के निवासी तो यों ही युद्ध-प्रिय होने के लिए आज तक इतिहास में प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार जर्मनी, रूस, फ्रान्स, इंग्लैण्ड, अमेरिका और आदि देशों में जब-जब युद्ध के अवसर आये तब तब वहाँ के समस्त निवासी समान रूप से राष्ट्रीय सेवा में लगे रहे। किन्तु भारतवर्ष की प्राचीन व्यवस्था में देश-रक्षा का भार केवल एक वर्ण के ऊपर छोड़ दिया गया था। यह हम स्वीकार करते हैं कि उक्त व्यवस्था को न मान कर कुछ ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र सेना में आये, नायक भी हुए और उन सबों ने यहाँ तक उन्नति की कि वे राजा और सम्राट तक बन बैठे। फिर भी कहना पड़ता है कि साधारण रूप से राज्य की रक्षा का भार एक एक ही वर्ण के ऊपर था। अनेक समुदायों से युद्ध करने की, हथियार बाँधने की चर्चा ही उठ गई थी। सैनिक सेवा उनके मान की बात न रह गई थी। यही एक मुख्य कारण है कि ऐसी परिस्थिति में कभी- कभी इस देश को बड़ी हानि उठानी पड़ी है। एक तो राजनैतिक विच्छेद के कारण एक दो राज्यों को अकेले अकेले ही आक्रमणकारियों का सामना करना पड़ता था। दूसरे, समस्त समाज की सेवा का भाव निर्बल होने से रक्षा के काम में जनता से सन्तोषजनक सहायता न मिलती थी तीसरे वर्ण-व्यवस्था के कारण प्रायः केवल एक ही वर्ण या वर्ग आक्रमण कारियों से युद्ध करता था।

इसमें सन्देह नहीं कि वर्ण-व्यवस्था के कारण यहां का आन्तरिक राजनैतिक जीवन पूर्ण रूप से छिन्न-भिन्न हो गया था। यहाँ क्षत्रियों के अतिरिक्त अन्य वर्णों से भी राजनीतिज्ञ निकलते रहे फिर भी व्यवस्था ने उनकी संख्या कम कर दी। साधारणतया यहाँ वैसा व्यापक राजनैतिक जीवन नहीं विकसित हुआ जैसा कि प्राचीन ग्रीस अथवा रोम में था या सोलहवीं शताब्दी के बाद यूरुप में हुआ है। भारतवर्ष के राजनैतिक जीवन के इस संकोच के और भी अनेक कारण थे। राज्य बड़े-बड़े थे, आवागमन की सुविधाएँ आजकल के समान नहीं थीं। संगठन छोटे-छोटे प्रान्तों के आधार पर था। ग्राम ही अनेक बातों में पूर्ण स्वतंत्र थे। फिर भी कहना पड़ता है कि इन सब कारणों के अतिरिक्त वर्ण व्यवस्था ने

भी राजनैतिक जीवन के क्षेत्र को आवश्यकता से अधिक संकुचित कर दिया। इसीलिए सामाजिकता और समाज सेवा की दृष्टि से भारतीय संस्कृति को वैसी सफलता नहीं प्राप्त हुई जैसी कि अन्य विषयों में हुई थी। फिर भी यह स्पष्ट है कि राजनैतिक आर्थिक और साधारण सामाजिक जीवन में एक प्रकार का सामंजस्य हो गया था, एक प्रकार की व्यवस्था हो गई थी, एक प्रकार का समझौता हो गया था जो शताब्दियों तक अपना प्रभाव स्थापित किये रहा।

प्रत्येक ग्राम अपनी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति आप ही आप कर लेता था। प्रत्येक उपजाति अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति आप ही आप कर लेती थी शेष आवश्यकताओं के लिए छोटे-छोटे राज्य और विशेष बातों के लिए बड़े-बड़े साम्राज्य पर्याप्त थे। प्रत्येक राष्ट्र के सामने यह प्रश्न रहता है कि व्यक्ति के विचार, भाव, प्रकृति आदि को किस प्रकार सामाजिक रूप में परिवर्तित किया जाय और स्वार्थ को किस प्रकार पदार्थ से संयुक्त कर उसे सभी के लिए कल्याण-कारी बनाया जाय? इसके लिए उत्तम, आदर्श होने चाहिए, उत्तम संस्थाएं होनी चाहिए जिनके द्वारा समस्त व्यक्तियों की शक्तियों का और उनके हितों का सभीकरण तथा सामंजस्य हो। इस सर्व श्रेष्ठ उद्देश्य को सफल बनाने के लिए भारतीय समाज ने उत्तम आदर्शों और उत्तम संस्थाओं का सृजन किया। आज-असंख्य वर्षों के अनुभव के बाद हम देख सकते हैं कि उनमें क्या कमी थी फिर भी हमें यह स्वीकार करना चाहिए इनमें समय को अधिक अनुकूलता थी और आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकने की विशेष शक्ति थी। उनकी स्थिरता ही उनकी ऐतिहासिक उपयोगिता का ज्वलन्त प्रमाण है।

भारतीय समाज के सामंजस्य के सम्बन्ध में एक प्रथा और एक आदर्श का उल्लेख अवश्य होना चाहिए। वह है संघ-प्रथा। भारतवर्ष ऐसे विशाल देश में संघ-सिद्धान्त सामंजस्य का एक रूप था। सैकड़ों, हजारों मील की दूरी के कारण स्थायी राजनैतिक एकता असम्भव थी। किसी भी राजधानी से बड़े राज्य पर सीधा केन्द्रीय शासन न तो सम्भव था और न उपयोगी ही सिद्ध हो सकता था। किन्तु इसके साथ-साथ राजनैतिक व्यवस्था और सामंजस्य की भी अधिक आवश्य-कता थी। ऐसी दशा में भारतीय सगठन ने संघ-सिद्धान्त का सहारा लिया। राजनैतिक संघ-प्रथा के सहारे भारतीय राज्य-शासन जनता की अधिक सेवा कर

सका और संस्कृति के अनेक अंगों-शिक्षा, साहित्य, कला आदि को विशेष रूप से प्रोत्साहन भी दे सका ।

इस स्थल पर यह स्मरण रखना चाहिए कि संघ का सिद्धान्त केवल राजनीति तक ही सीमित न था । उस समय जनसाधारण के आर्थिक जीवन में श्रेणियाँ भी इस सिद्धान्त का एक रूप थीं । भिन्न-भिन्न प्रकार के उद्योग और व्यापार करने वाले अपनी-अपनी श्रेणियाँ बनाकर अधिकता से आत्मशासन करते थे । शेष आर्थिक सामंजस्य राज्य प्रचलित रीतियों और लोकमत के द्वारा हो जाता था । व्यावसायिक स्वराज्य और सामंजस्य निस्सन्देह भारतीयों के आर्थिक अभ्युदय के कारण थे । साधारण सामाजिक जीवन में सामंजस्य ने वर्ण अथवा यों कहना चाहिए कि जाति और उपजाति के सङ्गठन का रूप धारण किया । प्राचीन भारतीय संस्कृति में सङ्घ का सिद्धान्त इतना प्रबल और व्यापक था कि वह धर्म में भी पाया जाता है । इसीलिए हम ब्राह्मण-धर्म की एक विशेषता पर ध्यान दिलाना आवश्यक समझ रहे हैं । इसमें कहीं कट्टरता नहीं है, जटिलता का नाम तक नहीं है । व्यापकता और सहनशीलता इसके प्रधान लक्षण हैं । अपने अनुयायी को विचार और पूजा की जैसी स्वतन्त्रता यह प्रदान करता है वैसी आज तक संसार में किसी दूसरे धर्म ने नहीं प्रदान की हैं । चाहे कोई केवल एक परमेश्वर को माने और चाहे असंख्य देवी-देवताओं की उपासना करे; द्वैतवादी हो अथवा अद्वैतवादी हो; कर्मकाण्ड पर विश्वास करने वाला हो अथवा योग-साधन का पक्षपाती हो; सबके लिए ब्राह्मण धर्म के भीतर स्थान है । मानों यहीं राजनैतिक सङ्घ-सिद्धान्त का धार्मिक व्यवहार है । इसके बल-प्रभाव से ब्राह्मण धर्म ने अनेक अनार्य मतों को और विदेशी आगन्तुकों के मतों को थोड़ा-सा परिवर्तित कर अपने में मिला लिया । भारतीयों के दार्शनिक संसार में भी सङ्घ-सिद्धान्त पाया जाता है ।

सामंजस्य का एक सर्वव्यापी आदर्श भारतीयों ने निकाला था जो दूसरी जातियों के धर्मों और नीति-शास्त्रों में मिलता तो अवश्य है किन्तु उनकी व्याख्या कर सकने में वे उतना सफल नहीं हुए जितना कि भारतीय हो चुके हैं । यह अहिंसा का आदर्श था जो बौद्ध और जैन धर्मों का आधार है तथा ब्राह्मण धर्म को भी मान्य है । भारतीयों का अहिंसा का आदर्श मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े सभी जीवधारियों के लिए है । जीवमात्र को एक कुटुम्ब मानना और मनुष्य को समस्त

प्राणियों के हित का ध्यान रखने का उपदेश देना—यह भारतीय आचारशास्त्र का, भारतीय संस्कृति का सब से बड़ा गुण था। सर्वश्रेष्ठ आदर्श जिसकी कल्पना मनुष्य का मस्तिष्क कर सकता है—अहिंसा है। अहिंसा के सिद्धान्त का जितना उपयोग किया जायगा उतनी ही अधिक मात्रा सुख और शान्ति की समस्त विश्व में होगी। मनुष्य-जाति ने अभी तक इस आदर्श को कार्यरूप में परिणत नहीं किया है किन्तु इस आदर्श की व्याख्या ही एक बड़े महत्त्व की बात है। भारतीय संस्कृति का श्रेय है कि इसने कुछ समुदाय उत्पन्न किए जो साधारण जीवन में ही नहीं किन्तु आर्थिक और राजनैतिक जीवन में भी इस आदर्श का प्रयोग करते रहे और जिन्होंने आजतक इसको जीवित रखने का प्रयत्न किया है। जब संसार इस अहिंसा के आदर्श का पूर्णरूप से प्रयोग करेगा तब जीवन का पूर्ण सामंजस्य होगा तथा गौतम बुद्ध और महावीरस्वामी जैसे उपदेशक संसारके–जीवमात्र के–सर्वश्रेष्ठ हित-चिन्तक माने जायँगे; साथ ही साथ सत्य और अहिंसा के नाम पर सहर्ष जीवन उत्सर्ग कर देने वाले महात्मा गांधी का नाम भी चिरस्मरणीय होकर चिर अमरता को प्राप्त कर लेगा।

भारतीय संस्कृति का विकास-क्रम

१—संस्कृति से प्रकृति का सम्बन्ध

एशिया महाद्वीप के दक्षिण में भारतवर्ष लगभग अठारह सौ मील लम्बा और अठारह सौ मील चौड़ा देश है, जिसका क्षेत्रफल ब्रह्मदेश को छोड़कर लगभग पन्द्रह लाख वर्गमील है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि उत्तर की ओर नैपाल अफ़गानिस्तान और मध्यएशिया का कुछ भाग और दक्षिण में लङ्का भी भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत थे।

दूसरी बात स्मरण रखने योग्य यह है कि फ़ारस, बिलोचिस्तान, सिन्ध और राजपूताने का रेगिस्तान पहिले इतना विशाल न था जितना कि इस समय है। आरेल स्टाइन आदि ने ज़मीन खोद कर बालू के नीचे से जिन नगरों और

मकानों का आविष्कार किया है उनसे यह प्रमाणित है कि किसी युग में भारतवर्ष के बाहर पश्चिमी मरुभूमि के स्थान पर पूर्णरूप से हरे-भरे खेत थे और घनी बस्ती थी। ईसवी पूर्व नवीं शताब्दी से ईसवी सन् की नवीं शताब्दी तक भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राकृतिक कारणों से ज़मीन क्रमशः सूखती गई, पानी कम होता गया और रेत के ढेर के ढेर निकलने लगे। जब तक रेगिस्तान न था अथवा थोड़ा-सा ही बना था तब तक भारतवर्ष और पश्चिमी देशों में व्यापार और आना-जाना निरन्तर हुआ करता था। इसलिए इन प्रदेशों की संस्कृतियोंने एक दूसरे पर अधिक प्रभाव डाला।

जलवायु के सम्बन्ध में भी यह कह देना आवश्यक है कि उत्तरी भारतवर्ष का जलवायु चार हज़ार वर्ष पूर्व उतना गर्म न था जितना कि आजकल है। उस समय सिन्ध और पश्चिमी पंजाब में नमी अधिक थी और हरियाली भी अधिक थी। उसी समय सिन्ध प्रदेश में सिन्धु नदी के अतिरिक्त एक और नदी भी बहती थी। भारतवर्ष के उत्तर में संसार की सबसे ऊँची पर्वत श्रेणी हिमालय है जो पन्द्रह सौ मील तक फैला हुआ है। यदि हिमालय न होता तो तिब्बत की तीखी ठंडी हवाएँ उत्तरी भारतवर्ष में मनुष्य का रहना ही कठिन कर देतीं और धरती को उपजाऊ बनाने वाली नदियाँ कहीं भी दिखाई न पड़तीं। इसी उपकार को मानकर किसी समय भारतीयों ने इस हिमालय को देवता तक मान लिया था। दक्षिण-पूर्व और दक्षिण-पश्चिम से आने वाली मौसिमी हवाएँ हिमालय से रुक जाती हैं, ठण्डी हो जाती हैं और उत्तरी प्रदेशों में मूसलाधार पानी बरसाती हैं। इतिहास पर हिमालय का एक बड़ा प्रभाव यह भी पड़ा है कि तिब्बत और तुर्किस्तान से अथवा यों कहना चाहिए कि मंगोलियन संसार से भारतवर्ष का सम्पर्क बहुत कम रहा। उत्तर के दर्रे इतने छोटे, ठण्डे और भयानक हैं कि उनको पार कर आना-जाना बड़ा कठिन कार्य है।

उत्तर-पूर्व की ओर हिमालय की पर्वत श्रेणी नीची हो गई है और इसीलिए थोड़ा-सा आवागमन होता रहा है। उसी ओर से थोड़े-से मंगोलियन आकर आसाम या कदाचित् पूर्वी बंगाल में भी बसे थे। किन्तु इस ओर का भाग जंगलों और जंगली जातियों से ऐसा घिरा रहा कि इस ओर से व्यापारिक और मानसिक सम्बन्ध अधिक नहीं हो सका। चीन और भारतवर्ष से जो कुछ भी

सम्बन्ध था वह समुद्र के मार्ग से अथवा मध्य एशिया के द्वारा था। इसके विपरीत हिमालय की उत्तर-पश्चिमी नीची घाटियों के दर्रों ने भारतवर्ष के सम्पूर्ण इतिहास पर अपनी छाप लगा दी है। इस ओर कई दर्रे हैं जिनको पार कर ईरानी, ग्रीक, कुशन, सिथियन, हूण, अफ़गान और तुर्क आये, जिन्होंने भारतवर्ष की राजनीति, समाज और संस्कृति पर क्रान्तिकारी प्रभाव डाला। इन समस्त मार्गों से ईसवी सन् की ग्यारहवां शताब्दी तक मध्य एशिया, पूर्वी एशिया और यूरुप से व्यापार भी अधिक होता रहा तथा साहित्य, कला तथा दर्शन सम्बन्धी विचारों का भी आदान-प्रदान होता रहा।

भारतवर्ष का उत्तरी भाग संसार के अधिक उपजाऊ और आबाद प्रदेशों में गिना जाता है। इसका कारण यही है कि इस भाग में सिन्धु, गंगा, ब्रह्मपुत्र और इनकी सहायक नदियाँ बहती हैं। कलकत्ते से पेशावर तक का विशाल मैदान एक समान है। समान रूप से हरे-भरे खेत लहराते हैं। खेती के लिए अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता। खेती यहाँ का मुख्य धन्धा है। जनता का अधिक भाग ग्रामों में ही रहता है इसीलिए ग्राम ही जीवन के केन्द्र हैं, राजनैतिक संगठन के आधार हैं और आर्थिक जीवन के मूल हैं। इस विशाल मैदान में किसी भी प्रकार की प्राकृतिक रुकावट नहीं है इसीलिए यहाँ की संस्कृति, संगठन और धर्म भी एक समान ही रहे। यद्यपि कुछ नगण्य बातों में थोड़ा-बहुत अन्तर अवश्य था तथापि सिद्धान्त का कोई अन्तर नहीं था। जिस स्थान पर प्रकृति और संस्कृति की इतनी एकता हो, उस स्थान पर राजनैतिक एकता का प्रयत्न अवश्य होगा। ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय में ही समुद्र के एक किनारे से दूसरे किनारे तक फैलने वाले राज्य की कल्पना हो गई थी। मौर्यवंश, खारवेल, आन्ध्र, गुप्त, वर्धन और गूर्जर प्रतीहार वंशों ने इस कल्पना को चरितार्थ भी कर दिया किन्तु यातायात सम्बन्धी सुविधाएँ आजकल के समान सुलभ न होने के कारण उन दिनों बड़े राज्यों के दूरवर्ती प्रान्तों का शासन सरलता से कर सकना बड़ा कठिन कार्य था। यही कारण है कि कभी तो विशाल साम्राज्य बन जाता था और कभी वह अनेक टुकड़ों में छिन्न-भिन्न हो जाता था। विशाल साम्राज्यों के समय में भी यातायात की असुविधाओं के कारण प्रान्तों को बहुत कुछ स्वतन्त्रता प्रदान करनी पड़ती थीं। इस प्रकार का राजनैतिक संगठन होना

भूगोल के कारणों से अनिवार्य था। सत्य तो यह है कि सिन्धु और गंगा का मैदान इतना विशाल है और इसके साधारण भाग भी इतने विस्तृत हैं कि यहाँ जन-सत्ता के लिए राज्य के समस्त मनुष्यों का एकत्रित होना अथवा प्रतिनिधियों का भी भली भाँति मिलना-जुलना बड़ा कठिन था। इसीलिए कई विषयों में जनसत्ता का सिद्धान्त मानते हुए भी यहाँ केन्द्रीय शासन में जनसत्ता का रूप नहीं लाया जा सका।

उत्तरी मैदान के दक्षिणी किनारे पर सतपुरा और विन्ध्याचल की श्रेणियाँ हैं। ये कहीं भी अधिक ऊँची नहीं हैं और इधर-उधर विशेषतया पूर्व की ओर इतनी नीची हो गई हैं कि आने-जाने में किसी भी प्रकार का विघ्न नहीं उपस्थित होता। इस प्रकार के पहाड़ों का परिणाम यह हुआ कि उत्तर और दक्षिण में थोड़ा-सा अन्तर अवश्य हो गया, जाति का थोड़ा-सा भेद बना रहा, भाषाएँ भी एक दूसरे से बहुत कुछ भिन्न रहीं और राजनैतिक इतिहास भी प्रायः अपने भिन्न मार्ग पर अग्रसर होता रहा, फिर भी संस्कृति के मूल तत्त्व एक हो गये। धर्म के एक ही सिद्धान्त दोनों ओर प्रचलित रहे, संस्कृत और पाली का पठन-पाठन समान रूप से होता रहा, जीवन पर एक-सी ही दृष्टि रही, दोनों भाग एक दूसरे के साथ निर्विघ्न व्यापार भी करते रहे तथा ईसवी पूर्व की चौथी शताब्दी के बाद कई बार दोनों का घनिष्ट राजनैतिक सम्बन्ध भी हो गया।

निस्सन्देह उत्तर और दक्षिण की संस्कृति के मूल सिद्धान्त एक ही थे, फिर भी उनके इतिहास-चक्र कभी-कभी पृथक्-पृथक् घूमते रहे। उस समय का सबसे अधिक अन्तर यह था कि उत्तर-पश्चिम से आने वाली जातियाँ या तो दक्षिण तक पहुचती ही न थीं अथवा बहुत ही थोड़ी संख्या में पहुंचती थीं। नर्मदा और कृष्णा नदी के बीच का प्रदेश चौरस नहीं है और न अधिक उपजाऊ भी है। वहाँ की आबादी भी घनी नहीं है और न स्थल मार्ग से व्यापार की ही सुविधा है किन्तु पश्चिमी और पूर्वी किनारे पर समुद्र के द्वारा दूर-दूर के देशों से व्यापार की अधिक सुविधा थी। समुद्र के मार्ग से भारतीय संस्कृति की विचार-धारा अन्य देशों में जा सकती थी और अन्य देशों की सांस्कृतिक विचार-धारा यहाँ आ सकती थी।

कृष्णा नदी के नीचे का प्रदेश धुर दक्षिण कहलाता है। यह पूर्व में तो

चौरस है किन्तु पश्चिम में पहाड़ों से घिरा हुआ है। आने-जाने की कोई प्राकृतिक रुकावट भी नहीं है इसलिए यह प्रदेश भी संस्कृति के मूल सिद्धान्तों में दक्षिण की भाँति उत्तर के समान हो गया। फिर भी दूर होने के कारण इस प्रदेश में उत्तर का प्रभाव कम रहा तथा उत्तर की जातियाँ बहुत कम संख्या में जा सकीं। यही कारण है कि इस प्रदेश की संस्कृति कुछ अंगों में उत्तर की संस्कृति से भिन्न रही, कुछ सामाजिक संस्थाएँ विचित्र प्रकार की ही बनी रहीं, भाषाओं पर भी संस्कृत का प्रभाव विशेष रूप से नहीं पड़ सका, मन्दिर, भवन, मूर्ति आदि बनाने की रीतियाँ भी पृथक् रहीं तथा राजनैतिक संगठन में भी ग्राम की व्यवस्था आदि अपने ढंग की ही रहीं। इसीलिए धुर दक्षिण का इतिहास, शेष भारतवर्ष के इतिहास का अंग होने पर भी अपनी एक विचित्र विशेषता रखता है।

धुर दक्षिण से थोड़ी ही दूर पर सिंहल द्वीप है। इसी को लंका का टापू कहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इसका राजनैतिक इतिहास भारतवर्ष के इतिहास से अनेक बातों में पूर्णतया भिन्न रहा है फिर भी इसकी संस्कृति-धर्म, भाषा, आचार, विचार, कला और विज्ञान पर भारतवर्ष का और विशेष रूप से धुर दक्षिण का प्रभाव सदा से अधिक रहा है। इस स्थल पर लंका के सम्बन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है किन्तु भारतीय संस्कृति के इतिहास में उसे स्थान प्रदान न करना भी किसी भी दृष्टिकोण से उचित नहीं है।

प्रायः देखा गया है कि मनुष्य के चरित्र पर उद्योग धन्धे का भी प्रभाव अधिक पड़ता है और उनके उद्योग-धन्धे भी जलवायु के ही अनुसार होते हैं। यह कहा जा चुका है कि भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है। यहाँ का जीवन खेती पर ही अवलम्बित है और खेती मेह पर निर्भर है किन्तु मेह का बरसाना मनुष्य के अधिकार का विषय नहीं है। इस सम्बन्ध में नित्य दैव के ही अधीन रहना पड़ता है। आषाढ़ के महीने से भादों के महीने तक समस्त जनता चातक के समान आकाश की ओर टकटकी लगाए रहती है और उचित समय पर उचित मात्रा में वर्षा होने की ईश्वर से प्रार्थना किया करती है तथा यदि समय पर वृष्टि न हुई तो अपनी विवशता पर हाथ मलती रह जाती है। यदि कभी अतिवृष्टि हो जाय अथवा पाला पड़ जाय तो भी विवश होकर उसे अपने लहलाते हुए खेतों का सर्वनाश होना

देखना पड़ता है। जनता सोचने लगती है कि मनुष्य की शक्ति कुछ नहीं है, वास्तव में दैव की ही प्रबलता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। सम्भव है कि इसीलिए भारतवर्ष के निवासी भाग्य को ही अधिक मानते हैं तथा देवी और देवताओं की पूजा भी अधिक किया करते हैं। दूसरी बात यह भी है कि दिन में सूर्य की सुनहरी चमकदार किरणें, रात्रि में चन्द्रमा की रुपहरी चाँदनी और असंख्य नक्षत्रों की दिव्य-प्रभा ये सब मनुष्य के हार्दिक विचारों को ऊपर ले जाती हैं तथा देवताओं तक की कल्पना भी करा देती हैं। इङ्गलैण्ड आदि देशों के समान भारतवर्ष में अधिक कुहरा नहीं पड़ता, अधिक प्रकाश रहता है। इसका प्रभाव मन पर यह पड़ सकता है कि स्पष्ट विचार और तर्क की प्रबलता हो। यही कारण है कि तर्क सम्बन्धी प्रेम भारतीय संस्कृति में अधिक दिखाई देता है। इसी प्रकार धर्म और साहित्य की कल्पनाओं से भी प्रकृति का अधिक सम्बन्ध है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि हिमालय पर्वत की ऊँची-ऊँची चोटियाँ, हरा-भरा हज़ारों मील लम्बा विशाल मैदान, मन्थरता के साथ प्रवाहित होने वाली नदियाँ, पर्याप्त जल बरसाने वाले बादल और बादलों के सहायक तूफ़ान तथा गगन-मण्डल के नक्षत्र-समूह—यह जितना भी दिव्य प्राकृतिक कौतुक है इससे मानवी मस्तिष्क की कल्पना को नित्य उत्तेजना प्राप्त हुआ करती है।

२—आदि मानव-जाति की प्रारंभिक संस्कृति

जब तक हम भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता के सम्बन्ध में उचित ज्ञान नहीं प्राप्त करेंगे तब तक प्राचीन संस्कृति के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अधूरा ही रह जायगा। सत्य बात तो यह है कि सभ्यता और संस्कृति में जो कुछ अन्तर है, उसे नाममात्र का ही समझना चाहिए कि बिना ऐतिहासिक ज्ञान के सभ्यता का ज्ञान होना असम्भव है। इसीलिए सतर्क दृष्टिकोण से प्राचीन इतिहास को भी समझ लेना उचित होगा।

आधुनिक इतिहास के विद्वानों का मत है कि मनुष्य का अस्तित्व तो इस पृथ्वी पर हजारों वर्षों से है किन्तु उसके विकास-क्रम का विशाल कथानक नित्य अन्धकार में ही रहेगा। इसलिए केवल इतना ही कहना पड़ता है कि जितनी ऐतिहासिक सामग्री मिल सके उसी से अपनी ज्ञान-पिपासा को तृप्त करना चाहिए।

ध्यान देने योग्य बात केवल इतनी ही है कि किसी भी सभ्यता की सृष्टि और उसकी उन्नति का एकदम नहीं होती। मानव-जीवन के अति प्राचीन कालीन चिह्न जो संसार के प्रायः सभी भागों में प्राप्त हुए हैं उन सबको एक साथ अध्ययन कर इतिहास के विद्वानों ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि किसी युग में मनुष्य कच्चे माँस और जंगली कन्द-मूल खाकर जीवन-निर्वाह करता था तथा पत्थर अथवा हड्डियों के भद्दे हथियार बनाकर उन्हीं से जंगली पशुओं का शिकार करता था। इस प्रकार जीवन निर्वाह करते-करते जब अधिक समय व्यतीत हो गया तब उनके हथियारों की आकृति और शक्ति में यथोचित सुधार हो गया तथा प्राचीन पाषाण-युग के स्थान में नवीन पाषाण-युग का अभ्युदय हो गया। उसके बाद ही क्रमशः विशेष रूप से उन्नति हुई और लोहा, ताँबा तथा काँसे के हथियार बनने लगे। जब जिस धातु का अधिक उपयोग हुआ तब वह युग उसी धातु के नाम से प्रसिद्ध कर दिया गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन समस्त युगों का परिमाण असंख्य शताब्दियों का है और इनकी काल-गणना कर सकना सर्वथा असंभव है।

केवल इतना ही समझ लेना चाहिए कि इतने ही समय में पशुओं के पालने की भी प्रथा प्रचलित हो गई थी। इसके बाद खेती के भी काम किये जाने लगे। जब खेती के कार्यों में उन्नति होने लगी तब अन्य प्रकार के उद्योगों तथा व्यापारों ने जन्म ग्रहण किया। इसके साथ ही साथ पारस्परिक जीवन में भी परिवर्तन हुए, विवाह के सम्बन्ध भी स्थिर हुए, कौटुम्बिक जीवन की स्थापना हुई तथा जनता का प्रत्येक समूह जीवन में व्यवस्था लाने के लिए एक मुखिया अथवा एक बड़ा मुखिया और कुछ छोटे-छोटे मुखिया मानने लगा।

भारतवर्ष के अति प्राचीन काल के निवासी किस वंश के थे, इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर आज तक कहीं से भी नहीं प्राप्त हो सका है। प्राचीन काल की खोपड़ियों और हड्डियों को अधिक ध्यानपूर्वक देखा गया है फिर भी यह निश्चय नहीं किया जा सका कि उन सबका वास्तविक समय कौन-सा था अथवा दूसरी जातियों से उन सबका कैसा सम्बन्ध था। अनुमान से केवल इसना ही कहा जा सकता है कि जिस काल में मनुष्य की उत्पत्ति हुई उस काल में भारतवर्ष या तो आस्ट्रेलिया से जुड़ा हुआ था या अफ्रीका से अथवा इन दोनों देशों से ही

और इन देशों में तथा लुप्त भूभाग में कोई एक ही जाति रहती थी। फिर प्राकृतिक परिवर्तन अर्थात् समुद्र के द्वारा पृथक् हो जाने के कारण इधर-उधर के निवासी एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हो गये और अपने-अपने ढंग पर स्वतन्त्र रूप से संस्थाओं को बनाने लगे। इसके बाद वे कुछ दिनों तक सुख-शान्ति के साथ जीवन-निर्वाह करते रहे। जब प्राकृतिक प्रकोप के कारण कहीं-कहीं की जमीन सूखने लगी तथा किसी-किसी भूभाग की जन-संख्या अधिक बढ़ने लगी और दूसरों की सम्पत्ति पर अधिकार करने की लालसा प्रबल होने लगी तब वे अपना संगठन कर समीप की जातियों पर आक्रमण भी करने लगीं, अपने उद्देश्य को सफल बनाने के लिये भिन्न भिन्न जातियाँ एक दूसरे को पीछे हटा देने का प्रसन्न करने लगीं, इधर से उधर यातायात भी करने लगीं तथा किसी जाति का नाश करने लगीं और किसी जाति को अपने साथ लेकर आगे बढ़ने लगीं तथा किसी जाति को अपना दास बनाकर उसे नित्य दबा रखने का उपाय सोचने लगीं। इन समस्त जातियों की क्रान्ति अनेक बार हुई है और कभी-कभी इतनी व्यापक हुई है कि संसार में कोई भी जाति ठीक अपने मूल स्थान पर टिक नहीं सकी है और न कोई जाति दूसरों के सम्मिश्रण से बच सकी है।

भारतवर्ष के अन्तर्गत जितनी जातियाँ हैं उनके निवास स्थानों से यह अनुमान किया जा सकता है कि भारतीय इतिहास का युग आरम्भ होने के अनेक पूर्व ही यहाँ इन समस्त जातियों को क्रान्ति की धधकती हुई अग्नि का सामना करना पड़ा था। मध्य भारत की दूर-दूर तक की घाटियों और जंगलों में एक ही प्रकार की जातियाँ रहती हैं। उनकी भाषाएँ प्रायः एक समान ही हैं और उनकी सामाजिक प्रथाएँ भी परस्पर बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। इन्हीं कारणों से मानना पड़ता है कि ये समस्त जातियाँ अति प्राचीन काल में मैदानों में रहा करती थीं किन्तु किसी बलशाली जाति के आक्रमणों से तंग आकर इन सबको पहाड़ियों और जंगलों में आश्रय ग्रहण करना पड़ा। यह बलशाली जाति आर्यों की थी अथवा द्राविड़ों की या और कोई? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर निश्चयपूर्वक दिया जा सकना सर्वथा असम्भव है। आज भी बिलोचिस्तान के एक भाग में ब्राहुई भाषा बोली जाती है जो धुर दक्षिण की द्राविड़ भाषाओं से अधिक मिलती-जुलती है और अपने पास-पड़ोस की किसी भी भाषा से सम्पर्क नहीं रखती। इससे यह अनुमान करने का कारण स्पष्ट हो जाता है कि सम्भव है कि ये द्राविड़

लोग उत्तर-पश्चिम से आये थे और बिलोचिस्तान में अपना एक समूह छोड़कर या वहाँ के ही किसी समूह पर अपनी छाप लगाकर तुरन्त ही अथवा कुछ दिनों तक रहकर किन्हीं विशेष कारणों से दक्षिण भारत में चले गये। यह भी सम्भव है कि किसी समय यही द्राविड़ लोग समस्त भारतवर्ष के मूलनिवासी रहे हों; बाद में आर्यों ने इन सबको उत्तर से निकाल दिया हो अथवा अपने में मिला लिया हो किन्तु किसी विशेष कारण से एक समूह उत्तर-पश्चिम में रह गया हो। स्मरण रखना चाहिए कि जो कुछ ऊपर कहा गया है वह सब अनुमान मात्र है और द्राविड़ शब्द का जो प्रयोग किया गया है वह भी केवल समझने की सुविधा के लिए ही। सत्य बात तो यह है कि कोई द्राविड़ जाति नहीं है तथा दक्षिण भारत में अनेक जातियाँ हैं जिनमें प्रायः सभी जाति के मनुष्य मिले हुए हैं। साथ ही साथ ध्यान देने योग्य बात यह भी है कि यदि हमें उत्तर भारत में रहने वाले मूलनिवासियों का पता भी लग जाय तो उससे इतिहास-काल के निवासियों के सम्बन्ध में अधिक ज्ञान प्राप्त न हो सकेगा। अतएव इस स्थल पर यदि कुछ कहा जा सकता है तो केवल इतना ही कि भिन्न-भिन्न जातियों के आ जाने से यहाँ एक नवीन जाति की सृष्टि हो गई थी जिसकी सभ्यता आर्यों के प्रादुर्भाव होने के बहुत पहिले ही अधिक उन्नति कर चुकी थी।

मांटगोमरी ज़िले (पश्चिमी पंजाब) में हड़प्पा और सिन्ध में मोहेनजोदड़ो स्थानों को खोदकर बहुत से बर्तन, मकान, मन्दिर, तालाब, स्नानागार और नगर निकाले गये हैं जिनसे उस समय की उच्च कोटि वाली सभ्यता का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। यह सभ्यता अनुमानतः कम से कम छः सात हजार वर्ष की पुरानी कही जा सकती है तथा सिन्ध, पंजाब, राजपूताना में और कदाचित् इधर-उधर के अन्य प्रदेशों में भी व्यापक हो चुकी थी। मिस्र और बेबिलोनिया की सभ्यता से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि उस अति प्राचीन काल में भी भारतवर्ष में उन सबकी अपेक्षा जीवन को सुखी बनाने का उत्तम प्रबन्ध था। प्रमाण के लिए इतना ही उल्लेख पर्याप्त है कि मोहनजोदड़ो नगर में स्वच्छता का जैसा प्रबन्ध था, गन्दा पानी बहाने के लिए जैसी उत्तम नालियाँ थीं वैसी दक्षिण मेसोपोटामिया के प्रसिद्ध नगर भर में न थीं।

हड़प्पा में एक सौ पचास से अधिक मिट्टी के ठप्पे मिले हैं जिन पर विविध

प्रकार के चित्र बने हुए हैं। इन चित्रों के तथा शेष वस्तुओं के अध्ययन से छः हज़ार वर्ष प्राचीन जीवन के सम्बन्ध में अनेक बातें ज्ञात होती हैं। उस समय सिन्ध और पश्चिमी पंजाब में आजकल की तुलना में वृष्टि कहीं अधिक होती थी। सिन्धु नदी के पूर्व में एक और नदी बहती थी जो इस समय लुप्त हो गई है। सिंचाई का प्रबन्ध सन्तोषजनक था, खेती अधिक होती थी। मोहनजोदड़ो में जो गेहूँ के दाने प्राप्त हुए हैं वे सब आजकल के पंजाबी गेहूँ के ही समान हैं। भोजन में रोटी के अतिरिक्त दूध का भी अधिक उपयोग होता था। अनेक मकानों में चर्खे की पिंडलियाँ मिली हैं जिनसे ज्ञात होता है कि उस समय चर्खे से सूत कातने की प्रथा प्रत्येक परिवार में प्रचलित थी। बहुत महीन बुने हुए रुई के कपड़ों से प्रमाणित है कि बुनने की कला भी अधिक उन्नत हो चुकी थी। पुरुष बहुधा एक धोती पहनते थे और एक दुशाला डालते थे जो बायें कन्धे के ऊपर से होकर दाहिने कन्धे के नीचे आ जाता था किन्तु दाहिने हाथ को खुला छोड़ देता था। पुरुषों में कोई-कोई तो मूछें मुड़ाते थे और कोई-कोई नहीं। अधिकांश मनुष्य छोटी-सी डाढ़ी रखते थे। बालों को माथे से ऊपर ले जाकर पीछे एक बड़ी चोटी बनाते थे। दुर्भाग्य से केवल एक ही बड़ी स्त्री की मूर्ति प्राप्त हुई है। इसके बाल बँधे नहीं हैं। एकदम खुले हुए हैं अतएव यह कह सकना असम्भव है कि यह साधारण रीति थी अथवा नहीं ? उन दिनों गहने पहिनने की भी प्रथा अधिक थी। स्त्री-पुरुष दोनों ही हसुली और छाप पहना करते थे। स्त्रियाँ कान में बाली, हाथ में चूड़ी, कमर में करधनी और पैरों में साँठ आदि पहनती थीं। जो धनी पुरुष थे उनके गहने सोने-चाँदी के और विविध प्रकार के मणि-मुक्ताओं के हुआ करते थे। हाथी-दाँत का भी उपयोग होता था। गहना बनाने की कला में उस समय के कारीगर आजकल के सुनारों और जौहरियों से किसी भी अंश में कम न थे। सोने के कोई-कोई गहने इतनी कला-कुशलता के साथ बनाये गये हैं कि देखते ही आश्चर्य होने लगता है। जिन मनुष्यों के पास धन की कमी थी वे सब सीप, कौड़ी आदि के गहनों से ही सन्तोष लाभ कर लेते थे। ये कपड़े भी बहुत कम पहनते थे। ग़रीब स्त्रियाँ केवल कमर पर एक धोती बाँधती थीं। एक वेश्या की छोटी-सी मूर्ति भी प्राप्त हुई है जो एकदम नंगी है।

सवारी के लिए अमीरों के यहाँ गाड़ियाँ थीं जिनमें दो पहिये लगे रहते थे,

ऊपर छत होती थी और आगे हाँकने वाला बैठता था। ऐसी गाड़ी का काँसे का बना हुआ जो नमूना हड़प्पा में मिला है वह मिस्र अथवा मेसोपोटामिया से अधिक प्राचीन है और संसार में गाड़ी का सबसे अधिक पुरातन ढाँचा है। रहने के मकान और राजकीय कार्य स्थान कभी-कभी बहुत विशाल बनाये जाते थे। एक ऐसा विशाल भवन मिला है जो उत्तर से दक्षिण एक सौ अड़सठ फ़ीट है और पश्चिम से पूर्व एक सौ छत्तीस फ़ीट है। उसके दोनों ओर अनेक सम-कोण कमरे और दालान हैं तथा मध्य भाग में एक बहुत बड़ा कमरा चला गया है। पुरातत्व के विद्वानों का कथन है कि यह भूमध्यसागर के द्वीप क्रीट के माइनोन सभ्यता के समय वाले प्राचीन भवनों से बहुत कुछ मिलता जुलता है। हो सकता है कि क्रीट के ही समान यहाँ भी कर रूप वसूल की हुई वस्तुयें संग्रह की जाती हों। बड़े खेद की बात यही है कि अनेक भवन इतनी दुर्दशा को प्राप्त हो चुके हैं कि उनसे कुछ भी परिणाम नहीं निकलता। केवल दो ही बातें स्पष्ट जान पड़ती हैं। पहिली बात यह कि स्नानागार बड़े सजधज के साथ बनाये जाते थे, उनकी कोई-कोई दीवालें दस-दस फ़ीट चौड़ी बनाई जाती थीं। धूप अथवा आग से बनाई हुई ईंटें बड़ी सुन्दरता के साथ लगाई जाती थीं। फ़र्श भी ईंटों के होते थे जो देखने में अधिक रुचिकर हुआ करते थे। दूसरी बात यह है कि तालाबों की संख्या अधिक थी और उनमें से कुछ तो अधिक पवित्र माने जाते थे। ठप्पों से ज्ञात होता है कि चीते आदि का शिकार अधिक किया जाता था। लोहे की एक भी वस्तु नहीं प्राप्त हुई है। भाले, कटार, गड़ासे, हँसिये, चाकू आदि जो कुछ प्राप्त हुए हैं वे सब ताँबे के बने हुए हैं। टीन और सीसे की भी अनेक वस्तुएँ बनाई जाती थीं। काँसे के भी अनेक हथियार तैयार किये जाते थे। सम्भव है कि ताँबा बिलोचिस्तान, वर्तमान राजपूताना और उत्तर अफ़ग़ानिस्तान से आता रहा हो तथा टीन खेरावन से अथवा और भी पश्चिम से आती रही हो।

इसमें सन्देह नहीं कि उस समय भी व्यापार दूर-दूर के देशों से होता था और उद्योग-धन्धों की संख्या भी अधिक थी। ठप्पों से भी प्रमाणित है कि देश की रक्षा के लिए सैनिक होते थे जो धातु की बनी मज़बूत टोपियाँ पहिना करते थे। इतना सब होते हुए भी आज तक कोई ऐसा प्रमाण नहीं प्राप्त हुआ है जिसके आधार पर उस समय की सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था के सम्बन्ध

में प्रकाश डाला जा सके। प्रसंग के क्रम की रक्षा के दृष्टिकोण से कहना पड़ता है कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की संस्कृति मेसोपोटामिया की संस्कृति अर्थात् सुमेरियन संस्कृति से अधिक मिलती-जुलती है किन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि एक ने दूसरे का अनुकरण किया है। अनुमान से कहना पड़ता है कि बीच में मरुस्थल न होने के कारण भारतवर्ष और पश्चिम एशिया में आना-जाना अधिक होता था और इसीलिए अनेक बातों में समता हो गई थी। भारत-वर्ष से लेकर भूमध्यसागर तक कदाचित् एक ही व्यापक संस्कृति थी जिसके भिन्न-भिन्न देशों में अनेक विभाग थे किन्तु जो अनेक विषयों में मिलती-जुलती थी।

इस स्थल पर ध्यान देने योग्य बात यही है कि अति प्राचीन काल में भारत-वर्ष पश्चिमी देशों से एकदम पृथक् नहीं था, अपितु विदेशों से अधिक सम्पर्क रखता था। दूसरी बात स्मरण रखने योग्य यह है कि भारतवर्ष की मूल संस्कृति आर्य संस्कृति से भी अधिक प्राचीन थी। सम्भव है कि आर्य-संस्कृति पर भी उसका अधिक प्रभाव पड़ा हो। मोहनजोदड़ो में पूजा के असंख्य शिव-लिंग प्राप्त हुए हैं और वैदिक साहित्य में उन सबकी निन्दा की गई है। इसी से कहना पड़ता है कि आर्यों में शिव लिंग की पूजा की प्रथा नहीं थी किन्तु जब वैदिक संस्कृति का प्रभाव कम होने लगा तब अर्थात् वैदिक काल के बाद उन्होंने अनार्यों से शिव-लिंग की पूजा ग्रहण की। इसलिए इस स्थल पर यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि शिव-पूजा भारतवर्ष की अति प्राचीन कालीन संस्कृति की एक अनूठी देन है और जिसके कारण आज भी काशी विश्वनाथ तथा सोमनाथ का नाम बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ लिया जाता है।

३—वैदिक अभ्युदयकालीन संस्कृति

आर्य-संस्कृति का इतिहास ऋग्वेद से आरम्भ होता है। ऋग्वेद में दस मण्डल हैं और मन्त्रों की संख्या एक हजार अट्ठाइस है। ये सब मन्त्र भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा रचे गये थे इसीलिए इन सबका रचना-काल स्थिर कर सकना असम्भव हो रहा है। पुरातत्व के विद्वानों ने मन्त्रों की भाषा, शैली, विचार और रचयिता के आधार पर समय स्थिर करने का प्रयत्न अवश्य किया है किन्तु पर्याप्त प्रामाणिक सामग्री न मिलने के कारण वे सफल नहीं हो सके हैं। यदि कुछ निश्चयता के साथ कहा जा सकता है तो केवल इतना ही कि दसवें

मण्डल के मन्त्र नौ मण्डलों के बाद रचे गये थे। इसलिए प्राचीन काल की वैदिक संस्कृति का वर्णन नौ मण्डलों के आधार पर ही किया जा सकता है।

प्रारम्भिक नौ मण्डलों के सम्बन्ध में भी अनुमान किया जाता है कि गृत्समद, विश्वामित्र, कामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वशिष्ठ आदि ऋषियों के नाम से जिन मन्त्रों की रचना की गई थी वे ही मण्डल दो से लेकर सात तक में बैठा दिये गये हैं। पहिले मण्डल के इक्यावन से लेकर एक सौ इक्यानवे तक जितने मन्त्र हैं उनकी रचना बाद में की गई थी। इसके बाद पहिले मण्डल के प्रारम्भिक पचास मन्त्र और आठवें मण्डल के मन्त्र रचे गये। इतना सब संग्रहीत हो जाने के बाद सोम देवता से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्र इन आठ मण्डलों से छाँट कर एकत्र किये गये जिनसे नवें मण्डल को तैयार किया गया।

ऋग्वेद के मन्त्रों में कोई ऐसी बात नहीं मिलती जिससे उसका रचना-काल निश्चित किया जा सके, यह पहिले ही कहा जा चुका है। निस्सन्देह ऋग्वेद की संस्कृति उसके मन्त्रों के रचना-काल से भी अधिक प्राचीन है और उसे उच्चकोटि की संस्कृति होने का भी गौरव है प्राप्त है। स्वीकार करते हैं कि उसके विकास में शताब्दियाँ व्यतीत हुई होंगी। जिस भाषा और शैली में ऋग्वेद के मन्त्रों की रचना की गई है उसके विकास में भी युग-युगान्तर का समय लग गया होगा। यह समस्त संस्कृति जिस जाति को अपने साथ लेकर आगे बढ़ी उसने अपने ऋग्वेद में उसे आर्य जाति के नाम से मानव-मात्र को परिचित कराया। उसी ऋग्वेद से यह भी ज्ञात होता है कि यह आर्य-जाति किसी समय कहीं बाहर से भारतवर्ष में आई थी। ऋग्वेद में यमुना नदी तक के ही प्राकृतिक दृश्यों, पशुओं और वनस्पतियों का वर्णन मिलता है और फिर बाद के साहित्य में पूर्वी प्रदेशों की भिन्न-भिन्न बातें भी प्राप्त होती हैं।

इससे भी स्पष्ट है कि आर्यों का समूह पश्चिम की ओर से आकर पहिले पंजाब में बसा और फिर क्रमशः आगे की ओर बढ़ता गया। समस्त ऋग्वेद में अनार्यों के साथ विकट युद्धों का वर्णन है। इससे भी ज्ञात होता है कि बाहर से आने वाले आर्यों को भारतवर्ष के मूल निवासियों से अनेक वर्षों तक भयानक युद्ध करना पड़ा था। इन्हीं समस्त बातों के आधार पर मानना पड़ता है कि आर्य लोग किसी समय पश्चिमी दर्रों में होकर भारतवर्ष में प्रवेश किये होंगे किन्तु यह कह

सकना कठिन है कि ये पहिले किस स्थान पर रहते थे और दूसरी जातियों से इनके कैसे सम्बन्ध थे ?

दुर्भाग्य से ऋग्वेद के मन्त्रों में इतनी ऐतिहासिक सामग्री नहीं है जिसके आधार पर उस समय के जीवन का पूरा वर्णन किया जा सके, फिर भी साधारण बातों का ज्ञान भली भाँति हो सकता है। उस समय जीवन का निर्वाह करने के लिए दो प्रधान साधन थे। एक तो पशु-पालन और दूसरा खेती। भेड़ और बकरे भी अधिक थे जो खाने के काम में आते थे। सामान ढोने के लिए गधे भी पाले जाते थे। यात्रा के लिए, दौड़ के लिए और युद्ध के लिए घोड़े भी अधिक थे। धनी पुरुषों के पास सवारी के लिए रथ होते थे जिनको घोड़े खींचते थे। रखवाली और शिकार के लिए कुत्ते पाले जाते थे। शिकार के द्वारा आमोद-प्रमोद प्राप्त किया जाता था और व्यायाम के लिए भी शिकार ही उपयोगी समझा जाता था। इतना ही नहीं, शिकार के द्वारा ही भोजन भी प्राप्त होता था। सबसे अधिक उपयोगी पशुओं में गाय और बैल थे। गाय से दूध मिलता था और दूध से मक्खन और घी बनाया जाता था जिसका प्रयोग भोजन में अधिक किया जाता था। बैलों से हल चलाया जाता था और गाड़ी भी चलाई जाती थी। खेती से विविध प्रकार के अनाज, तरकारी और फल-फूल आदि उत्पन्न किये जाते थे। सिंचाई के लिए कुए, तालाब और नालियाँ थीं। उन नालियों को ही कदाचित् कुल्या कहते थे। किन्तु कभी-कभी ऐसा सूखा पड़ जाता था कि साधारण स्थिति के मनुष्यों के लिए जीवन धारण कर सकना भी कठिन हो जाता था। रहने के मकान प्रायः लकड़ी के ही बनाये जाते थे। मकानों में बहुत से कमरे होते थे और मध्य भाग में आँगन होता था। गहने पहिनने की भी प्रथा अबाध रूप से प्रचलित थी। धनवान् मनुष्य सोने और मणि-मुक्ताओं के गहनों को धारण करते थे। आर्यों के समूह पास-पड़ोस के देशों से ही नहीं, अपितु दूर-दूर के देशों से भी व्यापार करते थे।

आर्यों के समूहों का साधारण जीवन किस प्रकार का था इस सम्बन्ध में हम आगे चल कर प्रकाश डालेंगे। इस स्थल पर यही कह देना पर्याप्त समझते हैं कि आर्यों के सभी समूहों का साधारण जीवन एक ही समान था और आगे चल कर भी निरन्तर एक ही समान बना रहा। कहने की आवश्यकता नहीं कि

इस संस्कृति के इस समय तक आर्य लोग कई जनों में विभक्त हो चुके थे। उनका प्रत्येक जन एक पृथक् राजनैतिक समूह जान पड़ता है। उस समय पुरु, तुर्कशस्, यदु, अनु और द्रह्यु—ये पाँच विशेष रूप से शक्तिशाली और महत्वपूर्ण जन थे, इसीलिए इन सबका उल्लेख अनेक ऋचाओं में पाया जाता है। इन सबके अतिरिक्त भरत, गन्धारि और उशीनरस् आदि जन थे।

ऋग्वेद के समय तक वर्ण-व्यवस्था का जन्म नहीं हुआ था। खान-पान और रोटी-बेटी के व्यवहार सम्बन्धी विषयों में आगामी काल के समान रोक-टोक नहीं हुई थी किन्तु कतिपय अन्य कारणों से जनता के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न वर्ग, भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ बनने लगी थीं और आगामी काल के लिए सामाजिक संगठन का बीज अंकुरित होने लगा था। इस महान् परिवर्तन के जितने भी कारण थे वे सब राजनैतिक और जाति सम्बन्धी थे जो अपना आर्थिक तथा धार्मिक महत्व रखते थे। इन समस्त कारणों और परिवर्तनों के क्रम पर ऋचाएँ अपना प्रकाश अवश्य डालती हैं। आर्य-संगठन को विशेष रूप से प्रभावित करने का श्रेय आर्यों तथा अनार्यों के संग्राम तथा सम्पर्क को ही है।

ऋग्वेद में अनार्यों की निन्दा विशेष रूप से की गई है। यदि संयोग से अनार्यों की भी कोई रचना हमारे पास होती तो निस्सन्देह उसमें आर्यों के सम्बन्ध में उसी प्रकार के दुर्वचन मिल जाते। इसीलिए आर्यों के विचारों से हम यह परिणाम नहीं निकाल सकते कि अति प्राचीन काल के भारतीय निरे जंगली थे। युद्ध काल में जो रचनाएँ होती हैं वे प्रायः पक्षपात पूर्ण और एकांगी ही हुआ करती हैं। सत्य बात तो यह है कि ऋग्वेद की ऋचाओं में भी इधर-उधर ऐसे संकेत पाये गये हैं जिनसे ज्ञात होता है कि इस समय अनार्य कहे जाने वाले भारतीयों की सभ्यता अधिक ऊँची थी और उनकी संस्कृति भी किसी भी अंश में न्यून न थी।

दास, किरात, कीकट और शंयु—ये सब अनार्यों के श्रेणी-विभाग थे। कदाचित् दस्यु उसी वर्ग का दूसरा नाम है जो प्रायः दास कहलाता था और यह भी सम्भव है कि उनका एक पृथक् समूह रहा हो। दासों के साथ-साथ पणियों का भी उल्लेख अनेक प्रसंगों में आया है। सम्भव है कि इन दोनों समूहों का अति निकट सम्बन्ध रहा हो। यद्यपि यह सत्य है कि ऋग्वेद में कहीं

भी चण्डालों का उल्लेख नहीं है तथापि परवर्ती काल के साहित्य में ही इनका भी उल्लेख पाया जाता है। सम्भव है कि यह अनार्य-समूह गंगा के पूर्व में कहीं आर्यों को ऋग्वेद के समय के बाद मिला हो। शूद्र शब्द सबसे पहिले ऋग्वेद के दसवें मण्डल के अन्तर्गत पुरुष सूक्त में पाया गया है। वास्तव में यह भी संस्कृत का शब्द नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि यह शब्द एक ऐसे बड़े अनार्य-समूह के प्रति प्रयोग किया गया हो जो कि आगे चलकर एक सम्पूर्ण वर्ण के रूप में हो गया।

इन भिन्न-भिन्न अनार्य-समूहों की संस्कृति सम्भव है कि एक दूसरे से कुछ विषयों में भिन्न रही हो किन्तु पर्याप्त प्रामाणिक सामग्री के न मिलने से विशेष कुछ भी नहीं कहा जा सकता। ऋग्वेद की ऋचाओं से उनके रहन-सहन के सम्बन्ध में जो कुछ भी पता चलता है उसी के आधार पर कह सकते हैं कि रहने के लिए मकान बनाते थे जिनको कभी-कभी अवसर मिलने पर आर्यों ने जला भी दिया। कम से कम दासों और दस्युओं के अपने नगर थे जिनका विनाश करने के लिए आर्यों ने अनेक बार इन्द्र से प्रार्थना भी की है। नगर की रक्षा और शत्रुओं से युद्ध करने के लिए उनके पास दुर्ग और सेनाएँ भी थीं। दुर्गों में वे अपना कोश (खजाना) भी रखा करते थे। अनेक अनार्य अथवा कम से कम उनके सेनापति तथा अन्य मुख्य उत्तरदायी पुरुष बड़े धनवान् थे। यह भी उन मन्त्रों से प्रमाणित है जिनमें आर्यों ने इन्द्र से यह प्रार्थना की है कि अनार्यों को मारकर उनका इकट्ठा किया हुआ धन हमें दे दो। अनार्यों की अपनी भाषाएँ थीं जो आर्यों को विचित्र-सी जान पड़ती थीं। उन सबके अपने पृथक् धर्म, देवता और नियम आदि थे इसीलिए आर्यों ने ऋग्वेद की ऋचाओं में उन सबके लिए अन्य व्रत आदि अनेक शब्दों का प्रयोग किया है।

अतएव यह स्पष्ट है कि भाषा, रीति, रहन-सहन, धर्म तथा इसी प्रकार के अन्य विषयों में आर्यों से अनार्यों का अधिक भेद था। इन सब बातों के अतिरिक्त उनके शरीर का गठन और रंग में भी भेद था। ऋग्वेद की ऋचाओं में कहीं-कहीं अनार्यों के लिए अनास (अर्थात् नाक से रहित) शब्द का प्रयोग किया गया है, इससे स्पष्ट है कि कम से कम थोड़े से अनार्य-समूहों की नाक आर्यों की नाक से बहुत छोटी थी किन्तु रंग का भेद निस्सन्देह अधिक महत्व

पूर्ण था। आर्यों की अपेक्षा अनार्यों का रंग कहीं अधिक काला था।

इस भयानक परिवर्तन काल में अनार्यों को अपनी सम्पत्ति और धरती के लिए तथा अपनी संस्कृति और अपने अस्तित्व के लिए आर्यों से निरन्तर घोर संग्राम करना पड़ा। उस भयंकर संग्राम की झंकार आज भी ऋग्वेद के प्रत्येक मण्डल में प्रतिध्वनित हो रही है। आक्रमणकारी आर्यों का सामना अनार्यों ने पग-पग पर अनेक दिनों तक बड़ी वीरता के साथ किया। ऋग्वेद की ऋचाओं का अध्ययन करने से कभी-कभी ऐसा भाव उत्पन्न होने लगता है मानों आर्यों के दाँत खट्टे हो रहे हों और वे अनार्यों से पराजित होकर अपने देवताओं की शरण में भाग रहे हों। इस प्रकार परम पराक्रम के साथ युद्ध करने पर भी अन्त में आर्यों से अनार्यों को पराजित होना पड़ा। सम्भव है कि संगठन में, सैन्य बल में, युद्ध कौशल में, साहस और बुद्धि में वे सब आर्यों से घट कर रहे हों अथवा ऐसा भी हो सकता है कि उन सबों ने एक साथ मिलकर अपने शत्रुओं का सामना न किया हो, इसलिए उनके सकस्त समूहों को एक-एक कर आर्यों ने पराजित कर दिया। सम्भव है कि आर्यों की संस्कृति अनार्यों की संस्कृति से इतनी अधिक प्रबल थी जिसके कारण अनार्यों का आर्यों से पराजित होना अवश्यम्भावी हो गया था। कभी-कभी आर्यों और अनार्यों में मेल भी हो जाता था। ऋग्वेद में वल्बूथ नामक एक दास का उल्लेख है। वह बड़ा उदार था, इसीलिए उसकी उदारता की महिमा का गुणगान ऋषि ने किया है।

कभी-कभी आर्य लोग स्वयं परस्पर लड़ने लगते थे। दाशराज्ञ संग्राम में अनेक राजाओं ने मिलकर सुदास पर आक्रमण किया था। किन्तु सुदास ने उनके छक्के छुटा दिये थे। इस पारस्परिक युद्ध में आर्यों ने अनार्यों से भी कुछ सहायता ली थी। किन्तु इस प्रकार की सन्धियाँ अधिक दिनों तक स्थायी नहीं हो सकती थीं। अन्त में आर्यों ने समस्त अनार्यों के अधिकारों को छीन लिया। पराजित होने पर कुछ अनार्य मार डाले गये, कुछ अपने प्राणों की रक्षा करते हुए भाग निकले और मध्य भारत के पहाड़ों तथा जंगलों में जा बसे। शेष अनार्यों ने आर्यों की अधीनता स्वीकार कर ली। असंख्य अनार्य दास बना लिये गये किन्तु उन सबकी संख्या इतनी अधिक थी कि सबके सब दास नहीं बनाये जा सके। अनेक अनार्य पराधीन होकर खेती-बारी, नौकरी अथवा अन्य धन्धे करने लगे।

पराजय के बाद आर्यों और अनार्यों के युद्ध का कोई प्रश्न ही न था। दोनों वर्ण शान्ति के साथ जीवन-निर्वाह करने लगे किन्तु अनार्यों का स्थान बहुत गिरा हुआ था। एक तो साधारण सभ्यता में वे सब आर्यों से घटकर थे, दूसरे उनका रंग काला था, तीसरे पराजित होने की कालिमा उनके मस्तक पर थी, चौथे सम्पत्ति और धरती छिन जाने से वे सब दीन-हीन हो गये थे। ऐसी परि-स्थिति में जहाँ कहीं भी इस प्रकार के दो समूह साथ-साथ रहते हैं वहाँ कोई न कोई जटिल प्रश्न आवश्यक उत्पन्न होता है। दो संस्कृतियों का सम्पर्क हुआ नहीं कि एक का प्रभाव दूसरी पर पड़ने लगता है और यह भी स्वाभाविक है कि पराधीन वर्ग की संस्कृति पर अधिक प्रभाव पड़ता है किन्तु स्वामी कहे जाने वाले वर्ग की संस्कृति भी अछूती नहीं बच सकती। इसीलिए अनार्यों ने आर्यों के धर्म, देवी, देवता, भाषा तथा रहन-सहन आदि को अपना लिया। इसी प्रकार आर्यों ने भी अनार्यों की कुछ बातों को अवश्य ग्रहण किया होगा। यही एक ऐसी परिस्थिति है जिसमें स्वामी कहे जाने वाले वर्ग के नेताओं को चिन्ता होने लगती है कि कहीं उनकी संस्कृति का ह्रास न हो जाय इसीलिए वे पराधीन वर्ग को अपने सम्पर्क से नित्य दूर रखने का प्रयत्न करते हैं।

इस साधारण प्रभाव की अपेक्षा कहीं अधिक भयंकर उलझन वर्गों के सम्मिश्रण से उत्पन्न होती है। जिस स्थान पर दो वर्गों के स्त्री और पुरुष अति निकट रहा करते हैं उस स्थान पर परस्पर विवाह के सम्बन्ध अथवा अनुचित सम्बन्ध हो ही जाते हैं। किन्तु यह सम्मिश्रण स्वामिवर्ग के अधिकांश मनुष्यों को बड़ा अनुचित और कलंक का कारण-सा बोध होने लगता है। यदि पराजित वर्ग दीन-हीन हो और रंग में भी काला हो तो बड़ी ग्लानि होती है और भय होता है कि कहीं हमारी संस्कृति, हमारी मर्यादा, हमारी वंश-प्रतिष्ठा, हमारी मानसिक शक्ति, हमारी सच्चरित्रता और हमारी वास्तविक जीवन-निर्वाह की परि-पाटी इनके सम्मिश्रण से नष्ट न हो जाय।

काले और गोरों के सम्बन्ध में यह स्थिति आज भी दक्षिणी अफ्रीका तथा अमेरिकन संयुक्त राज्य की दक्षिणी रियासतों में वर्तमान है। यहाँ यदि कोई गोरी लड़की काले से विवाह करे अथवा मित्रता करे तो गोरी जाति के मनुष्य उद्विग्न होकर दोनों को मार डालते हैं। किसी काले मनुष्य पर किसी गोरी लड़की पर

दृष्टिपात करने का सत्य अथवा मिथ्या अभियोग लगाया जाय तो वह अमेरिका में जीवित ही जला दिया जाता है अथवा बड़ी निर्दयता के साथ मार डाला जाता है। कोई गोरा मनुष्य काली स्त्री के साथ विवाह नहीं करने पाता। यद्यपि दक्षिणी अफ्रीका और अमेरिका दोनों ही देशों में गोरे मनुष्य काली स्त्रियों से प्रायः अनुचित सम्बन्ध किया करते हैं। दोनों ही देशों में काले मनुष्य राजनैतिक जीवन से दूर रखे जाते हैं तथा शिक्षा, धन और गौरव के अवसर उनको बहुत कम दिये जाते हैं।

ऊपर की घटनाओं से यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि प्रारम्भिक वैदिक काल के भारतवर्ष में भी ठीक इसी प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी क्योंकि जाति और संस्कृति की ये समस्यायें परिस्थितियों के ही अनुसार भिन्न-भिन्न रूप धारण किया करती हैं। इस स्थल पर यदि कुछ कहा जा सकता है तो केवल यही कि अनार्यों के पराजित होने पर और आर्यों के अति निकट रहने पर संस्कृति और सम्मिश्रण सम्बन्धी अनेक प्रश्न अवश्य उत्पन्न हुए तथा अपनी संस्कृति, जाति और रुधिर की रक्षा के विचार से तथा अपनी प्रभुता के अभिमान से एवं अनार्यों की ग्लानि से आर्यों ने अनार्यों से सम्बन्ध स्थापित करने में रुकावटें डालने का प्रयत्न किया ही होगा।

ऋग्वेद में तो अन्तर्जातीय विवाह के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं मिलता किन्तु आगे चलकर धर्म सूत्रों में यह नियम दिखाई पड़ता है कि कोई द्विज अपनी कन्या का विवाह किसी शूद्र के साथ न करे किन्तु कुछ परिस्थितियों में द्विज शूद्र-कन्या से विवाह कर सकता है। हो सकता है कि ऋग्वेद के समय में ऐसा कोई नियम न रहा हो किन्तु सम्मिश्रण को रोकने का कुछ न कुछ प्रयत्न अवश्य हुआ होगा।

इस स्थल पर दो शक्तियों का सामना था। एक तो वह साधारण मानवी शक्ति थी जो सम्मिश्रण की ओर बड़े उत्साह के साथ बढ़ना चाहती थी और दूसरी आर्यों की आत्मरक्षण शक्ति थी जो आर्य-समुदाय के विशुद्ध आर्य रखने का प्रयत्न कर रही थी। पहिली शक्ति ने बहुत-सा सम्मिश्रण करा ही दिया और आर्यों तथा अनार्यों का रुधिर एक दूसरे से मिल भी गया। किन्तु अन्त में इस शक्ति का बढ़ता हुआ प्रवाह रोक दिया गया। अनार्यों के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित करने के विषय में कुछ कड़े नियम बनाये गये और प्रतिबन्धनों की भी

व्यवस्था कर दी गई। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था का आरम्भ होता है। प्रारम्भ में काले और गोरे अथवा अनार्य और आर्य—यही दो वर्ण थे। आगे चलकर आर्य समुदाय द्विज कहलाया और अनार्यों के लिए शूद्र शब्द का प्रयोग किया गया।

स्मरण रखने योग्य बात यह भी है कि आर्यों और अनार्यों के इस महान् जातीय भेद के अतिरिक्त स्वयं आर्यों में भेद उत्पन्न होने लगे थे। निस्सन्देह इस समय तक समस्त आर्यों में आवश्यक गोत्र छोड़कर विवाह का सम्बन्ध हो सकता था। खाने-पीने के सम्बन्ध में तो किसी प्रकार की रुकावट थी ही नहीं। उद्योग-धन्धों के सम्बन्ध में पूर्ण रूप से स्वतन्त्रता थी। किसी स्थल पर एक ऋषि का कथन है कि मेरा पिता वैद्य है, मेरी माता पिसनहारी है और मैं कविता की रचना करता हूँ। किन्तु प्रत्येक समाज में असमानताओं के कारण और धार्मिक, सैनिक अथवा आर्थिक आवश्यकताओं के कारण वर्ग बन ही जाते हैं। इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि जब समाज में भेद भाव बढ़ने लगता है और सभी दृष्टिकोण में अपना-अपना स्वार्थ समा जाता है तब भिन्न-भिन्न भावों, विचारों अथवा परिस्थितियों के मनुष्य या भिन्न-भिन्न व्यवसाय करने वाले अपने कुछ पृथक् समुदाय बना लेते हैं। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि जहाँ कहीं भी मानसिक अथवा व्यावसायिक भिन्नता होती है वहाँ अनेक श्रेणियाँ बन ही जायँगी। यह स्मरण रखना चाहिए कि सामाजिक संगठन की जटिलता से ही भिन्न-भिन्न प्रकार की श्रेणियों का जन्म होता है। ऋग्वेद के समय में सामाजिक संगठन उतना जटिल नहीं हुआ था जितना कि आगे चलकर हो गया था। हाँ, इतनी भिन्नताएँ अवश्य उत्पन्न हो गई थीं जिनसे कि किसी श्रेणी या वर्ग का उत्पन्न होना स्वाभाविक हो जाय।

पहिला वर्ग तो धार्मिक क्रिया-काण्ड वालों का था जो ब्राह्मण वर्ग के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ऋग्वेद के आर्यों को परलोक की उतनी चिन्ता नहीं थी जितनी कि उनके वंशजों को आगे चलकर होने लगी थी। ऋग्वेद के पहिले नौ मण्डलों में कहीं भी पुनर्जन्म का कोई संकेत नहीं है और न कहीं कर्म के संसार का ही सिद्धान्त है। उस समय आर्यों की दृष्टि प्रधानतया इसी जीवन पर रहती थी। यहीं वे आनन्द का उपभोग करना चाहते थे। जीवन का जैसा उत्कर्ष इस युग में दृष्टिगोचर होता है वैसा किसी आगामी युग में नहीं दिखाई पड़ता। इस विषय में

वैदिक आर्य आगामी भारतीयों की अपेक्षा प्राचीन काल के ग्रीक और रोमन लोगों से अधिक मिलते-जुलते हैं, फिर भी आर्य लोग अनेक देवताओं में विश्वास करते थे, उनसे इस जीवन को सुखमय बनाने के लिए ऐश्वर्य पाने की प्रार्थना करते थे, उनकी पूजा के लिए मन्त्रों की रचना किया करते थे और उन्हें गाते भी थे। यज्ञ करते थे, बलि चढ़ाते थे और सोमरस की दीक्षा करते थे।

ऋग्वेद में जितने भी देवता हैं उनमें से अधिकांश प्रकृति के देवता हैं। जिस प्रकार प्राचीन काल के अन्य देशों ने प्रभावशाली प्राकृतिक दृश्यों और शक्तियों में देवताओं की कल्पना की थी उसी प्रकार आर्यों ने भी की थी। द्यौः अर्थात् आकाश को एक देवता माना गया है और उसी की समानता में पृथिवी को रखा गया है। आकाश के साथ-साथ अथवा यों कहना चाहिए कि बहुत कुछ उसके स्थान पर वरुण को देवता माना गया है और उसे प्रधान देवताओं में स्थान दिया गया है। अनेक मन्त्रों में उसकी महिमा का गुणगान भी किया गया है। इसी प्रकार इन्द्र को भी प्रधान देवता माना गया है। यह वह देवता है जो वृष्टि और वायु पर अधिकार रखता है, खेती के लिए पानी बरसाता है, युद्ध में आर्यवीरों की सहायता करता है और अनार्यों का विनाश करता है। सवितृ, मित्र, पूषन् और विष्णु ये देवता हैं जो सूर्य से सम्बन्ध रखते हैं। शिव और मरुत् तूफान के देवता हैं। रुद्र, वायु और वात हवा के देवता हैं तथा पर्जन्य पानी के देवता हैं। प्रभात काल की सुन्दर देवी का नाम उषा है। अग्नि और सोम भी प्रधान देवताओं में ही गिने जाते हैं। इन सबके अतिरिक्त और भी अनेक देवता हैं तथा प्रभु, अप्सरा, गंधर्व आदि अलौकिक जीवों का उल्लेख है। आगामी युगों में इन्हीं समस्त देवताओं का रूप बदल गया अथवा इन्हीं नामों से अन्य देवताओं का सम्बोधन होने लगा।

ऋग्वेद के अन्तर्गत मनुष्य और देवताओं का जैसा सम्बन्ध है वैसा आगामी भारतीय साहित्य में नहीं है। ऋग्वेद में देवता ऐसा समीप दर्शाया गया है जिसका अस्तित्व मनुष्य के जीवन से कदापि दूर नहीं हो सकता। आर्यों का दृढ़ विश्वास रहा है कि प्रार्थना करते ही देवता सहायता करते हैं तथा शत्रुओं का विनाश भी करते हैं। वे मनुष्य मात्र से प्रेम करते है और उनसे भी प्रेम की ही आशा करते हैं। इन्हीं कारणों से स्वीकार करना पड़ता है कि भारतीय-भक्ति सम्प्रदाय का

आदि स्रोत ऋग्वेद ही है। ऋग्वेद के मंत्रों में ही मनुष्य और देवता के बीच में निष्कपट प्रेम-पूर्ण मित्रता की भी कल्पना की गई है। देवताओं को नित्य प्रसन्न रखने की अधिक आवश्यकता बतलाई गई है। जब उनकी कृपा होगी तभी पर्याप्त वृष्टि होगी और धन-धान्य की भी वृद्धि होगी; पशु भले-चंगे रहेंगे, घर, गाँव, नगर, राज्य आनन्दमय रहेंगे तथा जीवन सुखी होगा। सर्व साधारण का कर्त्तव्य था कि देवताओं की भक्ति में मन्त्रों का उच्चारण करें और घी, अन्न, दूध, मांस और सोम के द्वारा यज्ञ करके उनको बलि दें।

साधारण पूजा-पाठ तो सभी कर सकते थे किन्तु समाज को कुछ ऐसे मनुष्यों की आवश्यकता हुई जो अपना सारा समय अथवा कम से कम समय का अधिक भाग धार्मिक कार्यों में लगा सकें। प्राचीन मन्त्रों के अतिरिक्त नवीन मन्त्रों की रचना भी आवश्यक समझी जाने लगी जिसके लिये विशेष विद्वानों का सहयोग भी आवश्यक हो गया क्योंकि नये मन्त्रों की रचना का कार्य सुचारु रूप से उन्हीं के द्वारा हो सकना संभव था। नवीन और प्राचीन मन्त्रों के वास्तविक अर्थ सबको समझाने के लिए भी ऐसे मनुष्यों की आवश्यकता हुई जो केवल यही काम करें तथा जीवन निर्वाह के अन्य कार्यों से मुक्त रहें। धीरे धीरे यज्ञों का विधान विस्तार को प्राप्त होने लगा। बड़े-बड़े यज्ञों के अनुष्ठान होने लगे जिनके लिए अनेक मनुष्यों को अधिक समय तक तैयारी और कार्यवाही करनी पड़ती थी। केवल सोम-यज्ञ के लिये ही कई पुरोहितों की आवश्यकता होती थी। एक पुरोहित होतृ कहाता था जिसका कार्य केवल मंत्र सुनाना था, दूसरा अध्वर्यु था जो क्रिया-काण्ड के द्वारा अनिष्ठ का निवारण करता था; तीसरा सोमगात करने वाला उद्गात कहाता था। इन समस्त पुरोहितों को कई सहायकों की आवश्यकता होने लगी। ऋग्वेद के मन्त्रों से ज्ञात होता है कि इस प्रकार के यज्ञों में प्रायः सात पुरोहित एक साथ मिलकर कार्य क्रिया करते थे। एक स्थान पर इन सबों की गणना इस प्रकार की है। होतृ, पोतृ, नेष्ट, अग्नीध, प्रशास्तृ, अध्वर्यु और ब्रह्मन्।

यज्ञों का समस्त क्रिया काण्ड ऐसा जटिल होने लगा था कि साधारण मनुष्यों के लिये उसका विधान स्मरण रख सकना और फिर उन विधानों के अनुसार पूर्ण कर सकना बड़ा कठिन कार्य हो गया था। इसीलिए पुरोहित वर्ग बनने लगा जो ब्राह्मण कहलाया और जनता की धार्मिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने लगा। जो

मनुष्य अपने गुणों से अथवा कर्मों से या आकाँक्षाओं से पुरोहिती कार्य के योग्य थे, वे सब ब्राह्मण हो गये। उनके घरों में उनके बालक स्वभावतः मन्त्र पढ़ना अथवा मन्त्रों की रचना करना सीखते थे। अपने पिताओं के साथ रह कर ही यज्ञ का सारा विधान जान लेते थे, पुरोहितों का कार्य सीखने की जैसी सुविधाएँ उनको थीं वैसी किसी दूसरे को नहीं थीं अतएव वे भी अपने वंस का ही व्यवसाय करने लगे। इस प्रकार धीरे-धीरे एक पृथक ब्राह्मण समुदाय बन गया, संभव है कि प्रारम्भिक दशा में इस समुदाय में दूसरे मनुष्य भी सम्मिलित होते रहे हों किन्तु धीरे धीरे दूसरे मनुष्यों का सम्मिलित हो सकना असंभव हो गया। ऋग्वेद के समय में ब्राह्मण समुदाय के मनुष्य दूसरे मनुष्यों की कन्याओं से विवाह कर सकते थे किन्तु साधारणतया रोटी–बेटी का जो सम्बन्ध हुआ करता था वह समान बंश वालों में ही अधिक होता था। संस्कृति के विकास की इस सीमा तक युवकों और युवतियों को विवाह सम्बन्धी पूर्ण स्वतन्त्रता थी किन्तु प्रायः उनका प्रेम उन्हीं से होता था जिन्हें वे बहुधा अपने सम्पर्क में पाते थे और जो समानता में कम नही होते थे अर्थात् अपने ही वर्ग के अन्तर्गत विवाह का सम्बन्ध हुआ करता था। तात्पर्य यह है कि विवाह की स्वतन्त्रता होने पर भी धीरे–धीरे ब्राह्मण वर्ग एक स्वतन्त्र वर्ग होगया।

ऋग्वेद की ऋचाओं से ब्राह्मणों के कर्म और पद का जो थोड़ा सा ज्ञान होता है उससे कहा जा सकता है कि ब्राह्मण सोमरस से वर्ष भर यज्ञ किया करते थे। किसी–किसी स्थान पर ऐसा भी वर्णन है कि ब्राह्मण और पितृ सोमरस का पान किया करते थे। इसीसे प्रमाणित है कि उन दिनों ब्राह्मणों का पद सर्वश्रेष्ठ था। अनेक मन्त्रों में पुरोहितों का अथवा देवताओं के पुरोहित अग्नि का यश गाया गया है और पुरोहितों को दान देने का भी उल्लेख है। दान में सिक्के, गहने, कपड़े, रथ, मकान; पशु, गाय, बैल घोड़े और कुत्ते आदि दिये जाने का भी वर्णन है। एक स्थान पर यह भी कहा गया है कि सरस्वती कृपण का विनाश कर देती है। इससे यह तात्पर्य समझना चाहिये कि जो ब्राह्मणों को दान नहीं देता वह नष्ट हो जाता है। जो ब्राह्मण राजाओं के पुरोहित होते थे वे स्वभावतः अधिक प्रभावशाली होते थे किन्तु इस समय तक अधिक प्रभावशाली पुरोहित भी आवश्यकता पड़ने पर भी सभी प्रकार के कार्य करते।

जिस प्रकार धार्मिक आवश्यकताओं के कारण ब्राह्मण समुदाय की उत्पत्ति हुई उसी प्रकार सैनिक आवश्यकताओं के कारण क्षत्रिय-समुदाय का अभ्युदय हुआ। यह कहा जा चुका है कि आर्यों को बहुत दिनों तक अनार्यों से भयानक युद्ध करने पड़े हैं। अनार्यों के पूर्ण रूप से पराजित होने के पूर्व ही वे कभी-कभी परस्पर ही युद्ध करके मर जाते थे फिर विजेता बन जाने के बाद उनकी पारस्परिक लड़ाई मानों नित्य की क्रिया हो गई थी। साधारणतया युद्धों में सभी लोग भाग लेते थे और युद्ध-क्षेत्र में शत्रुओं का सामान करते थे। ऋग्वेद में कई स्थलों पर कहा गया है कि जनता मैदान में एकत्र होती है और अपनी शक्ति का प्रदर्शन करती है। प्रभात की देवी के सम्बन्ध में एक ऋषि का कथन है कि उषा इस प्रकार आती है जिस प्रकार युद्ध के लिए तैयार जनता। हथियारों से अपने जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करना सबका कर्त्तव्य था किन्तु समस्त जनता का बार-बार मैदान लेना समाज के लिए हितकर नहीं हो सकता था। यदि समस्त पुरुष एक साथ समरांगण में उतर जाँय तो खेती कौन करेगा, पशु-पालन और दूसरे व्यवसाय कौन करेगा तथा घरों में बाल-बच्चों और स्त्रियों की रक्षा किस प्रकार की जा सकेगी? धार्मिक और मानसिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित रखने के लिए आवश्यक था कि कुछ लोग तो सैनिक-सेवा में ही अपना जीवन लगा दें और शेष कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर उनके चारों ओर इकट्ठे हो जाया करें। तात्पर्य यह कि एक सुसंगठित सेना हो, उसके सेना पति हों, उसके अन्य सर्दार और नायक हों। उसकी समु- चित शिक्षा का कुछ प्रबन्ध हो, हथियारों का ठीक ठीक प्रबन्ध हो, उनके लिए घोड़े अथवा दूसरे जानवर सर्वदा तैयार रहें तथा सामरिक कला-कौशल में विशेषता का चमत्कार हो।

इस प्रकार की सेना में वही लोग सम्मिलित हुए जिनमें अदम्य उत्साह और साहस था। वीरता के सद्गुणों से जो सर्वथा सुशोभित थे। जिनका शरीर पूर्ण रूप से हृष्ट-पुष्ट था और जो स्वभाव से ही समरांगण के प्रेमी थे। ऐसी सेना संभव है कि किसी ने किसी निश्चित समय पर जान-बूझकर न बनाई हो। युद्ध के युग में आप ही आप उसका विकास हो गया हो और फिर धीरे-धीरे वह स्वतः आवश्यकताओं के अनुसार प्रत्येक आर्य-जन (आर्यों के समूह) में बन गई हो। इन समस्त सैनिकों के बालक भी वंश-परम्परा से प्रायः सैनिक का ही कार्य करने

लगते थे। वंश का व्यवसाय करने की प्रवृत्ति आज भी प्रत्येक देश में कुछ न कुछ अवश्य पाई जाती है। प्राचीन काल में यह और भी प्रबल थी। इसका मुख्य कारण यह था कि उन दिनों व्यवसाय की शिक्षा घर में ही शुलभ हो सकती थी। इस प्रकार आर्य समुदाय के अन्तर्गत एक सैनिक वर्ग भी बन गया और सैन्य-बल के ही कारण इसी वर्ग के हाथ में राजनैतिक प्रभुता भी रही। यह राजनैतिक और सैनिक क्षत्रिय-समुदाय बहुत दिनों तक दूसरों से विवाह सम्बन्ध करता रहा किन्तु आगे चल कर ब्राह्मण के समान अथवा ऐसा भी कहा जा सकता है कि वर्ग-मात्र के समान इसकी भी प्रवृत्ति अपने ही वर्ग में सम्बन्ध करने की हो गई। बल और प्रभुता के कारण इस वर्ग की बड़ी सत्ता थी। इसे स्वाभाविक अभिमान था और सम्पूर्ण समाज इसको लोहा मानता था। ऋग्वेद के अन्तर्गत क्षत्रियों के पद का महत्व स्वीकार किया गया है और उन मनुष्यों की अधिक निन्दा की गई है जो व्यर्थ में ही क्षत्रिय होने का ढोंग रचते हैं।

ज्यों-ज्यों ब्राह्मण और क्षत्रिय-वर्ग शक्ति-सम्पन्न होते गये त्यों-त्यों वे शेष जनता से पृथक् भी होते गये। शेष आर्य-जनता विश् कहलाने लगी। सर्व प्रथम विश् शब्द से समस्त आर्य-जनता का बोध होता था। विश् शब्द का मूल अर्थ केवल बैठना है। इधर-उधर भ्रमण करने के बाद जब आर्य लोग धरती पर बैठ गये अर्थात् धरती पर स्थायी रूप से जम गये और मुख्यतया खेती-बारी से जीवन-निर्वाह करने लगे तब उनकी बस्ती विश् कहलाने लगी। बस्ती के ही अर्थ से यह शब्द बसने वालों का अर्थात् जनता का सूचक हो गया। ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग बन जाने के बाद एक ऐसे शब्द की आवश्यकता आ पड़ी जिसका प्रयोग शेष जनता के लिए हो सके। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए विश् शब्द को ही अपना लिया गया। ऋग्वेद के एक मन्त्र में पहिले क्षत्रियों के लिए शक्ति की प्रार्थना की गई है और फिर विश् के लिए वही प्रार्थना दुहराई गई है। ऋग्वेद के प्रथम नौ मण्डलों में वैश्य शब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं है। केवल विश् शब्द ही पाया जाता है। विश् भी एक विशाल वर्ग था। इस वर्ग के मनुष्य खेती-बारी, पशु-पालन और भिन्न-भिन्न प्रकार के शिल्पों वाले अनेक व्यवसाय करते थे। फिर क्रमशः इन्हीं समस्त व्यवसायों के अनुसार अनेक छोटे-

छोटे वर्ग विशाल समुदाय के अन्तर्गत बन गये।

व्यवसाय-भेद के अतिरिक्त वर्ग बनने का एक और कारण यह भी हो सकता है कि प्राचीन काल के आर्यों में यह प्रथा प्रचलित होने लगी थी कि वे गोत्र अथवा सम्बन्ध विशेष के सीमित क्षेत्र में विवाह नहीं करते थे किन्तु प्रायः दूसरे विशेष गोत्रों में विवाह करते थे। अन्तर्वर्गीय विवाह और बहिर्वर्गीय विवाह की इस प्रथा से भी अनेक वर्ग उत्पन्न हो गये। ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्गों के तथा भिन्न-भिन्न छोटे-छोटे वर्गों के बनने में शताब्दियों का समय अवश्य लगा होगा। यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि सामाजिक विकास सर्वदा धीरे ही धीरे हुआ करता है तथा सामाजिक संस्थाएँ धीरे ही धीरे अपने अस्तित्व को सुदृढ़ बना पाती हैं। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि ऋग्वेद के समय में वर्ण-व्यवस्था बन गई थी किन्तु आगामी काल की वर्ण-व्यवस्था अभी तक बहुत दूर ही समझनी चाहिए। आर्यों में अभी अन्तर्वर्गीय विवाह हो रहा है। एक वर्ग से दूसरे वर्ग में प्रवेश करना भी अभी सरल है तथा व्यवसाय ग्रहण करने की भी पूर्ण स्वतन्त्रता मिल रही है। यद्यपि व्यवहार में ऐसा बहुत कम होता था तथापि किसी प्रकार की रुकावट नहीं थी और न भोजन सम्बन्धी कोई प्रतिबन्ध ही था।

आर्यों के सामाजिक जीवन की एक झलक ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। संगठन के सिद्धान्त और व्यवहार में स्त्रियों का पद अधिक गौरवशाली था। उनके लिए किसी भी प्रकार का पर्दा आवश्यक नहीं था। साधारण जीवन के अतिरिक्त समाज के मानसिक और धार्मिक नेतृत्व में भी स्त्रियाँ सर्वदा भाग लेती थीं। जिस प्रकार की शिक्षा उस युग में प्राप्त हो सकती थी उसके सभी द्वार स्त्रियों के लिए भी सर्वदा खुले रहते थे। जिन स्त्रियों में धार्मिक साहित्य की रचना करने की योग्यता और प्रतिभा थी उनको अपनी इस प्रवृत्ति के अनुसार चलने में कोई रुकावट नहीं थी। कई स्त्रियों ने ऋषि होने का भी गौरव प्राप्त कर लिया था और उनकी रचनाएँ पुरुषों की रचनाओं के समान आज भी ऋग्वेद में सम्मिलित हैं। साहस और वीरता में भी स्त्रियाँ किसी भी अंश में न्यून न थीं। कुछ ऐसी स्त्रियाँ थीं जो समराँगण में जाकर पुरुषों के समान अपनी शूरता का प्रदर्शन करती थीं। विवाह के विषय में भी स्त्रियाँ पूर्ण स्वतन्त्र थीं। प्रायः युवावस्था वाले सभी स्त्री-पुरुष परस्पर मिलते-जुलते थे, अपनी इच्छा के अनुसार प्रेम करते थे और अपनी

रुचि के अनुसार एक-दूसरे से विवाह कर लेते थे। कोई-कोई युवतियाँ अपनी सुन्दरता पर अभिमान किया करती थीं और अपने प्रेमियों के चित्त को प्रसन्न करने में बड़ी चतुर होती थीं। कभी-कभी प्रेमी युवक और युवतियाँ छिप कर मिलने का प्रयत्न करते थे। एक स्थान पर उल्लेख है कि एक युवक मंत्र के द्वारा अपनी प्रेमिका के घर वालों को सुलाना चाहता है। इस प्रकार के उल्लेखों से और विवाह के बाद ही होने वाले संस्कारों से स्पष्ट है कि उन दिनों बाल विवाह का प्रचलन नहीं था ऋग्वेद में न तो कहीं बाल-विवाह का उल्लेख है और न कोई ऐसा संकेत ही है जिससे बाल-विवाह का तनिक भी अनुमान किया जा सके। इसके विपरीत एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ कभी-कभी प्रौढ़ अवस्था में भी विवाह करती थीं - कुछ ऐसी स्त्रियां थीं जो विवाह के सूत्र में बँधना भी अनुचित समझती थीं और चिरकुमारी रह कर अपने पिता अथवा भाई के साथ जीवन निर्वाह किया करती थीं।

जब विवाह सम्बन्धी समस्त बातें पक्की हो जाती थीं तब निश्चित तिथि को वर अपने सम्बन्धियों और मित्रों की बरात लेकर कन्या वाले के यहाँ जाता था। वहाँ कन्याके सम्बन्धी और मित्र उन सबका यथोचित स्वागत करते थे। निश्चित मुहूर्त वर कन्या को एक पत्थर पर चढ़ाकर उसका पाणिग्रहण करता था। फिर वे दोनों अग्नि की परिक्रमा करते थे। विवाह की इस रीति के बाद बड़ा उत्सव होता था जिसमें बालक-बालकाएँ, स्त्री-पुरुष सुन्दर से सुन्दर वस्त्र धारण कर तथा बहु-मूल्यवान् आभूषणों को पहिन कर सम्मिलित होते थे। कभी-कभी विवाह में दहेज भी दिया जाता था। उत्सव आदि के बाद बरात विदा हो जाती थी। वर कन्या को रथ पर बैठाता था। फिर मंत्रों को गाते हुए सब लोग वर के यहां वापस चले आते थे। विवाह की ये रीतियां बहुत दिनों तक ज्यों की त्यों चलती रहीं और आजकल भी प्राय; उसी प्रकार की ही है।

जिस युग में ऋग्वेद की रचना हुई थी उस युग में थोड़े से इने गिने मनुष्य विशेष कर राजा महाराजा अथवा बड़े पुरोहित अनेक विवाह करते थे। सीमित क्षेत्र में अनेक विवाह की प्रथा भारतवर्ष में जब तक प्रचलित रही है किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रकृति प्रायः स्त्रियों और पुरुषों को संख्या समान बनाती है इसलिए अन्य संख्या में ही पुरुष एक से

अधिक विवाह कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त आर्थिक कारणों से और साधारण कौटुम्बिक सुख के कारणों से भी अनेक विवाह परिमित ही रहते हैं। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अनेक विवाह की प्रथा की स्वीकृति ही स्त्रियों के पद को अधिकाँश में कुछ हल्का कर देती हैं क्योंकि उससे यह तात्पर्य निकलता है कि स्त्री केवल मनोरंजन की वस्तु है। साथ ही साथ अनेक विवाह की प्रथा स्त्री के अन्तःकरण में एसी चोट पहुंचती है और उसके मानसिक जीवन में ऐसी विपत्ति डालती है कि आगे चल कर सपत्नियों (सौतों) में दिनरात झगड़े होना एक स्वभाविक सी बात होने लगती है। ऋग्वेद के मन्त्रों से स्पष्ट है कि अनेक विवाह करने वाले महापुरुष कभी-कभी घरेलू संग्रामों की चिन्ताओं से अधिक व्याकुल रहा करते थे वे। उनके जीवन के सुखमय स्वप्न योंही गृह-कलह के दावानल में भस्म हो जाते थे।

ऋग्वेद में ऐसा कोई मन्त्र नहीं मिलता जिसके द्वारा विधवा-विबाह का निषेध किया गया हो किन्तु यह निश्चयपूर्वक कह सकना भी कठिन है कि विधवाएँ अपने देवरों से ही विवाह करती थीं अथवा और किसी के साथ भी कर सकती थीं। दसवें मण्डल में एक ऋचा है जो आर्य संस्कृति में विधवाओं के प्रसंग पर कुछ प्रकाश डालती है। श्मशान में अपने पति के शव के पास लेटी हुई विधवा से कहा जाता है--"उठो, स्त्री ! तुम उसके पास लेटी हुई हो जिसका जीवन समाप्त हो गया है। अपने पति से दूर हट कर जीवितों के संसार में आओ और उसकी पत्नी बनो जो तुम्हारा हाथ पकड़ता है और तुमसे विवाह करने को भी सहमत है।" इसी प्रकार अथर्ववेद में भी कहा गया है-'यह स्त्री (अर्थात् विधवा) प्राचीन धर्म का पालन करती हुई अपने पति के लोक को पसन्द करती हुई, तुम्हारे समीप जो मर गये हो पड़ी है (किन्तु) इसको यही सन्तान और सम्पत्ति दो। उठो स्त्री ! जीवतों के संसार में आओ और उसकी पत्नी बनो जो तुम्हारा हाथ पकड़ता है और तुमसे विवाह करने को भी सहमत है।" अनेक शताब्दियों के बाद पण्डितों ने वैदिक मन्त्रों के अर्थ का अनर्थ करके इसके द्वारा सती का विधान निकाला किन्तु ध्यान देना चाहिए कि इस युग में विधवा पति के साथ जलाई नहीं जाती थी।

इस स्थल पर शंका उत्पन्न होती है विधवा श्मशान मे पति के उस शव के पास क्यों लेटती है जिसके जलाने की तैयारी हो रही है ? ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में इस शंका का समाधान कर सकना असंभव है। अनुमान से इतना ही कहा जा

सकता है कि संसार की अनेक प्राचीन जातियों में पुरुषों के और विशेषकर प्रतिष्ठित मनुष्यों के शव के साथ उनको प्रिय वस्तुएँ गाड़ने या जलाने की प्रथा थी। उनकी धारणा थी कि परलोक में भी आत्मा को इन समस्त वस्तुओं की आवश्यकता पड़ेगी ये समस्त वस्तुएँ किसी प्रकार उसके समीप पहुँच जायँगी और इन सब को पाकर उसे सन्तोष और आनन्द लाभ होगा। कई जातियों में स्त्रियों की गणना भी इन्हीं समस्त आवश्यक वस्तुओं में कर ली गई थीं इसीलिए वे अपने पतियों के साथ गाड़ दी जाने लगी थीं या जलाई जाने लगी थीं। हो सकता है कि किसी दूरवर्ती अतीत काल में आर्यों में भी यह प्रथा रही हो। यह पहिले ही कहा चुका है कि ऋग्वेद की संस्कृति के पीछे अनेक शताब्दियों का विकाश है। यदि किसी अति प्राचीन युग में आर्यों में सती की प्रथा प्रचलित थी तो धीरे धीरे संस्कृति की प्रगति ने उसको मिटा दिया। विधवाओं का जलाना तो बन्द हो गया किन्तु प्राचीन प्रथा की एक लकीर शेष रह गई, जैसा कि प्रायः हुआ करता है। लुप्त प्रथा की इस पद्धति के अनुसार ही विधवा श्मशान तक जाती थी और थोड़ी देर के लिए पति के शव के पास लेट जाती थी।

स्पष्ट तो यह है कि अति प्राचीन काल में आर्यों में सती की प्रथा भले ही रही हो किन्तु जिस युग में ऋग्वेद की रचना हुई थी उस युग में सती की प्रथा थी ही नही। इसके विपरीत विधवाओं का विवाह हो सकता था। देवर के साथ विवाह की सम्भावना तो सिद्ध है किन्तु यदि देवर पहिले से ही विवाहित हो अथवा भाभी से विवाह करने को सहमत न हो तो क्या होता था? यद्यपि इस सम्बन्ध में ऋग्वेद मौन है तथापि उस युग के साधारण सामाजिक संगठन और जीवन से यह सम्भव जान पड़ता है कि विधवा और किसी सेविवाह कर लेती होगी।

इसमें सन्देह नही कि आर्यों का कौटुम्बिक जीवन पैतृक सत्ता और स्त्री-सम्मान के सिद्धान्तों के आधार पर टिका हुआ था। पिता अथवा पितामह एक प्रकार का गृहपति होता था जिसकी प्रधानता घर के अन्य लोग मानते थे। गृह-पति से वीरता और उदारता की आशा की जाती थी। पिता के मरने पर बड़ा लड़का गृहपति होता था। साधारण दृष्टि से वह कुटुम्ब की सम्पत्ति का स्वामी समझा जाता था। मकान, घोड़े, गाय, बैल, द्रव्य, गहने, हथियार और दास आदि पर उसकी प्रभुता रहती थी किन्तु कभी-कभी भाइयों में बटवारा भी हो

जाता था। भाइयों का प्रधान कर्तव्य यह भी था कि विवाह होने तक बहिनों का पालन-पोषण करें। इसीलिए संस्कृत में भाई के लिए शब्द है भ्रातृ अर्थात् भरण करने वाला। जिन लड़कियों के भाई न थे उनको कभी-कभी बड़े संकटों का सामना करना पड़ता था। एक मन्त्र में निर्धन भ्रातृहीन लड़की का उल्लेख है जो दुराचार से अपना उदर-पोषण करती थी।

ऋग्वेद के युग से लेकर आजतक भारतवर्ष में संयुक्त परिवार की प्रथा चली आती है। यह सत्य है कि इससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता कम हो जाती है और स्त्रियों का पद-गौरव भी गिर जाता है किन्तु ऋग्वेद के युग में स्त्रियों का पद गिरने नहीं पाया। सास, ससुर, देवर, ननद के साथ रहने पर भी बहू का प्रभाव अधिक था। अपने पति के साथ वह मंत्रों का पाठ करती थी, यज्ञ करती थी, दान देती थी, सोमरस बनाती और पीती थी। एक वैदिक मंत्रमें ऋषि का कथन है कि पति-पत्नी प्रेम-पूर्वक साथ-साथ अनेक धार्मिक कार्य करते हैं, सोने के गहने धारण किये हुए पुत्रों और कन्याओं के साथ आनन्द लाभ करते हैं और पूर्ण आयु को प्राप्त करते हैं। स्त्री घर का काम और उत्तम प्रबन्ध किया करती थी। तथा इन सबके अतिरिक्त ताने बुनने का काम भी करती थीं। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि कहीं-कहीं अग्नि देवता की उपमा गृहपत्नी से दी है जो घर के समस्त व्यक्तियों पर ध्यान रखती है। अन्यत्र ऊषा देवी के सम्बन्ध में ऋषि का कथन है कि वह गृहपत्नी के समान सोने वालों को जगाती हुई आती है। पत्नी के बिना घर का कुछ भी महत्व नहीं है। एक मंत्र में ऋषि ने कहा है -कि हे मघवन्! पत्नी ही घर है, पत्नी ही गृहस्थी है। साथ ही साथ यह भी कहा है कि हे इन्द्र! तुम सोम का पान कर चुके। अब अपने घर की ओर जाओ। घर में तुम्हारी प्रियतमा पत्नी है। तुम्हारे लिए वहीं आनन्द है। एक मंत्र में इन्द्र के द्वारा यह अवश्य कहलाया गया है कि स्त्रियों की बुद्धि दुर्बल होती है और उनका चित्त अधिक संयम नहीं पसंद करता। फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि साधारणतया स्त्रियों का बड़ा आदर और सम्मान था।

जिस प्रकार प्राचीन काल के ईरानी, ग्रीक और रोमन संतान की लालसा अधिक किया करते थे उसी प्रकार वैदिक आर्यों में भी संतान की लालसा अधिक थी। अग्नि से प्रार्थना करते हुए एक ऋषि कहता है कि हम तुम्हारे समीप अकेले

ही बैठे न रह जाँय। हमारे वीर्य संतान हो और हमारे घर संतानों से परिपूर्ण रहें। इसी मंत्र में फिर पूर्ण आयु और वीर्य संतान के लिए प्रार्थना की गई है। एक दूसरा ऋषि प्रार्थना करता है कि हम निर्धन न हों, हमें वीर पुत्रों का अभाव न हो, पशुओं की कमी न हो और न कहीं हमारी निन्दा हो। एक तीसरे ऋषि का विश्वास है कि सोम देवता पूजा करने वाले को दुधारी गाय और शीघ्रगामी अश्व देता है तथा ऐसा वीर पुत्र देता है जो विद्या में, घर के काम में और सभा तथा समिति में निपुण हो और पिता के लिए अभिमान का कारण हो। सत्य तो यह है कि पुत्रों की कामना एक स्वाभाविक कामना है जिसे प्रकृति ने जाति की रक्षा के लिए विशेष रूप से अधिक सुदृढ़ बनाया है। फिर भी इसके कुछ और विशेष कारण थे। एक तो संयुक्त परिवार में माता-पिता को पुत्रों से बड़ा सहारा हो जाता था। दूसरे मृत्यु के बाद आत्मा की शान्ति के लिए पुत्र श्राद्ध करता था। यदि कोई श्राद्ध करने वाला न हो तो बड़ी विपत्ति का सामना हो जाता था। तीसरे पुत्र से वंश बना रहता था। उस पैतृक सत्ता के युग में सभी जातियों के अन्तर्गत वंश के मिटाने की सम्भावना बड़ी भयानक समस्या मानी जाती थी और सन्तान-हीनता सबसे बड़ी दुर्घटना गिनी जाती थी। चौथे यह भी हो सकता है कि आर्यों को अपनी संख्या बढ़ाने की बड़ी आवश्यकता रही हो। अनार्यों से अथवा आपस में ही संग्राम के लिए, अधिकार में की गई नवीन धरती को बसाने के लिए और ऐसे भी समाज में अनार्यों से गणना में अधिक होकर उन्हें दबाने के लिए निस्सन्देह अधिक जन-संख्या की आवव्यकता थी। जब एक बार संतान का आदर्श बन गया तब वह स्वयं संतान लालसा का एक मुख्य कारण बन गया। जिनको किसी प्रकार संतान-लाभ नहीं होता था वे कभी कभी दूसरे के लड़के को गोद ले लिया करते थे। गोद लिये गए लड़के बड़े दुलारे से पाले जाते थे। सारा मातृ-स्नेह और पितृस्नेह उन्हीं पर केन्द्रित हो जाता था किन्तु जैसा वैदिक मंत्र में कहा गया है उससे ज्ञात होता है कि गोद लिए गये लड़के स्वगर्भजात और स्ववंशजात लड़कों के समान नहीं होते थे।

यहाँ तक आर्यों के कौटुम्बिक जीवन का वर्णन हो चुका। केवल दासों के सम्बन्ध का उल्लेख शेष रह गया है। प्राचीन काल के भारतवर्ष में दासता की प्रथा उतनी प्रचिलित नहीं थी और न उस प्रकार सामाजिक संगठन की आधार थी जितनी कि प्राचीन ग्रीस या रोम में थी। फिर भी यहाँ विशेष कर धनियों के यहाँ

अनेक दास और दासियाँ थीं। एक ऋषि उषा देवी से पुत्रों के साथ-साथ दासों के लिए भी प्राथना करता है। दासों को अधिक और कठोर परिश्रम करना पड़ता था। वे एक प्रकार की सम्पत्ति समझे जाते थे और दान में भी दिये जा सकते थे।

आर्यों के अन्तर्गत आतिथ्य एक बड़ा गुण समझा जाता था। ऋग्वेद में अग्नि देव को अतिथि के नाम से कहा गया है। राजा देवोदास अतिथियों का ऐसा स्वागत करता था कि उसे अतिथिग्व की उपाधि दी गई थी। साधारण जन भी आतिथ्य में कम न थे। घर का सबसे अधिक सुन्दर कमरा अतिथि को रहने के लिए दिया जाता था। इसके अतिरिक्त यह आर्यों के अन्तर्गत एक कर्तव्य माना जाता था इसलिए वे सबके साथ सज्जनता का व्यवहार करते थे। ऋग्वेद के एक मंत्र में एक ऋषि प्रार्थना करता है कि हे वरुण! यदि हमने भाई, मित्र, साथी, पड़ोसी अथवा किसी अपरिचित व्यक्ति का कुछ भी अनिष्ठ किया हो तो तुम हमारा वह पाप नष्ट कर दो।

यह तो मानी हुई बात है कि संसार का प्रत्येक सभ्य समाज बालकों और युवकों को अपने आदर्शों और प्रचलित प्रथाओं में दीक्षित करने का अर्थात् अपनी संस्कृति के अस्तित्व को बनाये रखने और उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि करने का प्रबन्ध कर लेता है किन्तु ऋग्वेद में लिखने की प्रथा का कहीं भी उल्लेख नहीं है। ऋषि तथा अन्य मनुष्य भी मन्त्रों को स्मरण रखते थे और मौखिक शिक्षा के द्वारा अपनी संतानों को भी कंठस्थ करा देते थे। ज्ञात होता है कि एह प्रकार की पाठशालाएं भी थीं जहां अध्यापक विद्यार्थियों को विद्या दान किया करते थे। एक मन्त्रों में विद्या प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की उपमा वर्षा ऋतु में बोलने वाले मेंढ़कों से दी गई है। अन्य अनेक वैदिक वाक्यों के समान यह उपमा भी आगामी भारतीय साहित्य में अनेक बार दुहराई गई है।

ऋग्वेद में समाज के नैतिक आदर्श की कल्पना उच्च कोटि की है। उस आदर्श के अनुसार समस्त मनुष्यों को चाहिए कि नित्य एक दूसरे से मिलकर रहें जिससे कि सामंजस्य की भावना शिथिल न पड़ने पाये। ऋत अर्थात् सत्य अथवा यों कहना चाहिये कि धर्म को ही अपने जीवन का अवलम्बन समझना चाहिए। मनुष्य की बात ही क्या है, देवता तक भी धर्म का पालन करते हैं। स्वयं देवताओं ने अपने लिए कठोर नियम बना रखे हैं। इसके अतिरिक्त देवता कभी इन्द्र के

नियमों का उल्लंघन नहीं करते। संसार में जितना जो कुछ है, सबका आधार केवल ऋत अर्थात् सत्य अथवा धर्म ही है। देवता, मित्र, वरुण, अनृत अर्थात् अधर्म को जीतकर ऋत का ही पालन करते हैं। देवता वरुण के नियम सर्वदा सत्य हैं। वरुण तो स्वभावतः अनृत से घृणा करता है और ऋत को बढ़ाता है। इसी मन्त्र में ऋषि का कथन है कि देवता ऋत में उत्पन्न होते हैं, ऋत को पालते हैं और बढ़ाते हैं तथा अनृत से अधिक घृणा करते हैं, वही देवता राजाओं की और साधारण मनुष्यों की रक्षा करें। ऋत को बढ़ाने की अभिलाषा से मित्र वरुण मनुष्यों पर उसी प्रकार दृष्टि रखते हैं जिस प्रकार भेड़ के पालने वाले अपनी भेड़ों पर। सूर्य भी चरवाहे के समान जीवों के कर्मों का निरीक्षण करता है और मित्र वरुण को बतलाता है। चरित्र निरीक्षण के अभिप्राय से देवताओं ने निरीक्षक भी नियुक्त कर रखे हैं। अनेक मन्त्रों में असत्य की बड़ी निन्दा की गई है और मिथ्या दोषारोपण करने वाले को शाप दिया गया है। अनेक मन्त्रों में ऋषियों ने देवताओं से प्रार्थना की है कि हमें अच्छे मार्ग पर चलाओ।

ऋग्वेद में तेतीस देवता माने गये हैं किन्तु वे सब एक ही श्रेणी के नहीं हैं। कोई अधिक प्रभाव और महत्त्व रखते हैं और कोई कम। सबसे प्रधान देवता तीन ज्ञात होते हैं। इन्द्र जिसके लिए कोई ढाई सौ मन्त्र हैं अग्नि जिसके लिए कोई दो सौ मन्त्र हैं और सोम जिसके लिए एक सौ से अधिक मन्त्र हैं। द्यौः और पृथिवी छः मन्त्रों में सबके माता-पिता कहे गये हैं। बादलों के देवता पर्जन्य के लिए और परलोक के देवता यम के लिए तीन-तीन मन्त्र हैं। सूर्य स्वयं एक बड़ा देवता है और उसके रूपान्तर भी अनेक हैं। उसके एक अंश सवितृ की प्रार्थना में वह सुप्रसिद्ध सावित्री अथवा गायत्री मन्त्र है जो भारतीयों में आज तक पढ़ा जाता है। पूषन् भी सूर्य का एक अंश है, वह सबको बढ़ाता है। विष्णु के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह तीन छलाँग भरता है जिससे अनुमान किया जाता है कि वह भी सूर्य का ही रूपान्तर है। ऋग्वेद में वह बहुत साधारण कोटि का देवता हैं किन्तु आगामी काल में जब पुराणों ने उसे परमेश्वर बना दिया तब उसकी छलाँगों के आधार पर बलि-वामन की कथा तैयार की गई। ऋग्वेद में द्यौः की कन्या और प्रभात की देवी उषा के सौन्दर्य की प्रशंसा हृदयग्राही कविता में की गई है। संसार के प्रकृति-काव्य और प्रीति-काव्य का यह प्रथम उदाहरण है और

बड़े ही महत्व का है। इसी प्रकार आश्विन् भी द्यौः के पुत्र हैं, वे सर्वदा नवयुवक और सुन्दर रहते हैं।

अब तक जितने देवता गिनाये गये हैं उनमें से इन्द्र, अग्नि और पृथिवी को छोड़कर शेष सभी आकाश के हैं। वहीं ऊपर वे रहते हैं अथवा विचरण करते हैं। उनके अतिरिक्त अनेक देवता वायु के भी हैं। इनमें इन्द्र की प्रधानता है। ऋग्वेद में बारम्बार कहा गया है कि इन्द्र वृत्र से युद्ध कर उसे परास्त करता है। अनेक धार्मिक कथाओं के समान यह भी प्रकृति के आधार पर है। वृत के परास्त करने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि इन्द्र बादलों को बारम्बार भेद कर पानी बरसाता है। रुद्र अथवा शिव का नाम केवल तीन-चार मन्त्रों में आया है। वह जीवन को बढ़ाता है किन्तु इस युग में उसका महत्व बहुत कम है। रुद्र के पुत्र मरुत् बड़े भयानक और उन्मत्त थे। वायु अथवा वात भी रुद्र के ही समान जीवन को बढ़ाने वाला देवता है।

पृथिवी के देवताओं में स्वयं पृथिवी ही देवता है। अग्नि मुख्यतया घर का देवता है। सोम सोमरस का देवता है किन्तु आगामी युग में सोम का अर्थ चन्द्रमा हो गया। नवें मण्डल के समस्त मंत्र और शेष मण्डलों के भी थोड़े से मंत्र सोम की प्रशंसा में कहे गये हैं। देवताओं के अतिरिक्त सिन्धु, सरस्वती आदि नदियों की और वनस्पति, पर्वत आदि की भी प्रशंसा कभी-कभी देवताओं की प्रशंसा के ही समान की गई है।

ऋग्वेद में यह स्वीकार किया गया है कि धर्मात्मा देवलोक को जाते हैं और पापी नरक में पड़ते हैं। किन्तु जैसा कि हम यह पहिले कह चुके हैं कि आवागमन का सिद्धान्त ऋग्वेद के पहिले नौ मण्डलों में नहीं है। इस समय तक तप का भी कोई उल्लेख नहीं है। देवताओं के लिए प्रार्थना, पूजा और यज्ञ का विधान था किन्तु जीवन का प्रवाह ऐसा आनन्दमय था कि इस समय तक किसी को तप करना सूझा भी न था। देवताओं की ओर भाव इस समय तक उतना आतंक का न था जितना कि प्रेम और मित्रता का था। एक ऋषि अग्नि को प्रिय मित्र और पिता कहता है। दूसरा ऋषि कहता है कि पंचजनों के हितार्थ अग्नि प्रत्येक घर में निवास करता है, वह युवक है, बुद्धिमान् है, घर का स्वामी है, और हमारा निकटतम सम्बन्धी है। दूसरे किसी स्थान पर कहा गया है कि अग्नि बड़ा दयालु

मित्र है, पिता है; भाई है, पुत्र है, और सबका पालन करने वाला है। अन्य मंत्रों में अग्नि को गृहपति कहा गया है। एक ऋषि कहता है कि अब हम मंत्र गा चुके। हमारे प्रत्येक घर में अग्नि पूत के समान निवास करे। अन्य देवताओं के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये गये हैं। एक ऋषि कहता है कि हे इन्द्र ! पिता के समान तुम हमारी बातों को सुनो। कोई-कोई ऋषि देवताओं को अपना प्रेमी मानते हैं। एक ऋषि सोम देवता को अपना बड़ा प्रेमी मानता है। एक मंत्र इस आशय का है कि जो देवताओं से प्रेम करता है उससे देवता भी प्रेम करते हैं। अन्यत्र आदित्यों को अथवा समस्त देवताओं को सम्बोधन करके यह कहा गया है कि तुम वास्तव में हमारे सम्बन्धी हो अतएव हमारे ऊपर कृपा करो।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रेम और प्रसन्नता के भाव में आर्य-जन आनन्दपूर्ण जीवन बिताते थे। परलोक की अधिक चिन्ता न थी। तप का कोई भाव न था तथा खान-पान की भी कोई रुकावट नहीं थी। मांस भोजन की प्रथा समस्त लोगों में प्रचलित थी। आसव और सोम-रस का अधिक पान होता था। नाच और गाने की भी अधिक रुचि थी। खुले मैदान में स्त्री और पुरुष बड़ी प्रसन्नता के साथ नाचा करते थे। गान विद्या की भी अधिक उन्नति हो चुकी थी। सितार, बाँसुरी, ढोल आदि प्रचलित थे। इसी प्रकार के और भी अनेक विनोद थे। रथों की दौड़ प्रायः हुआ करती थीं और उससे अधिक मनोविनोद हुआ करता था। समस्त लोगों को विशेष रूप से स्त्रियों को नदियों और तालाबों में स्नान करने की बड़ी उमंग रहा करती थी। ऋग्वेद के युग में जैसा उल्लास और सामाजिक स्वातन्त्र्य था वैसा भारतवर्ष में फिर कभी नहीं देखा गया। इस विषय में आर्यों ने आगे चलकर दूसरा मार्ग स्वीकार किया किन्तु वर्ग और संगठन से सम्बन्ध रहने वाले विषयों में वे ऋग्वेद की लकीरों पर ही चलते रहे। राजनैतिक संगठन में भी वे अधिक रूप से उसी मार्ग को अपनाये रहे जिसको पहिले वैदिक आर्यों ने प्रशस्त किया था।

इस स्थल पर हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि राज-प्रबन्ध से सम्बन्ध रखने वाली पर्याप्त सामग्री ऋग्वेद में नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि इधर-उधर के उल्लेखों को एकत्र कर थोड़ा-सा वृत्तान्त अवश्य लिखा जा सकता है। ऋग्वेद में प्रायः राजा का उल्लेख आया है। ज्ञात होता है कि राजा प्रायः एक ही वंश का होता था अथवा एक ही वंश से चुना जाता था। राजत्व की प्रथा किस प्रकार

उत्पन्न हुई, इस पर ऋग्वेद कुछ भी प्रकाश नहीं डालता किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण और तैत्तिरीय ब्राह्मण में दो प्राचीन कथाए हैं जो इतिहास पर भी अधिक प्रकाश डालती हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि एक बार देवों और असुरों में घोर युद्ध हुआ। उस युद्ध में देवों को पराजित होना पड़ा। देवों ने कहा कि हम लोग अराजतया अर्थात् राजा न रखने के कारण पराजित हुए हैं अतएव हमको राजा बनाना चाहिए। यह प्रस्ताव सर्व सम्मति से स्वीकार कर लिया गया।

तैत्तिरीय ब्राह्मण का कथन है कि एक बार देवों और असुरों में भयानक संग्राम हुआ। प्रजापति ने अपने जेष्ठ पुत्र इन्द्र को छिपा दिया कि कहीं परम-पराक्रमी असुर उसे मार न डालें। इसी प्रकार कयधु के पुत्र प्रह्लाद ने अपने पुत्र विरोचन को छिपा दिया कि कहीं देव उसे मार न डालें। इसके अनन्तर देव प्रजापति के समीप जाकर कहने लगे कि राजा के विना युद्ध करना असम्भव है। फिर यज्ञ करके उन्होंने इन्द्र को प्रसन्न किया और राजा होने के लिए प्रार्थना की। इन दोनों कल्पनाओं से अनुमान किया जाता है कि आर्यों में परम्परा से यह विश्वास था कि युद्ध की आवश्यकताओं से ही राजा की सृष्टि हुई थी। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसन्धान से भी यही परिणाम निकलता है कि युद्ध के समय में अधिकार को एकत्र करने की एक नेता रखने की आवश्यकता से ही संसार में शासन या राजत्व का श्रीगणेश हुआ था। ज्ञात होता है कि परस्पर संग्राम और अनार्यों से घोर युद्ध होने के कारण ही राजा की सृष्टि हुई थी तथा निरन्तर युद्ध होने के कारण ही इस प्रथा में दृढ़ता आ गई थी। दूसरी बात यह भी है कि पारस्परिक झगड़ों का निबटारा करने के लिए भी राजा की आवश्यकता थी। तीसरी बात यह भी हो सकती है कि समाज के उन कामों का प्रबन्ध करने के लिए भी राजा चाहिए था जिनमें अनेक मनुष्यों के योग की आवश्यकता थी। ऋग्वेद में मित्र वरुण और अग्नि देवताओं ने अपने राजत्व के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा है उससे अनुमान किया जाता है कि इस लोक के राजा बड़े प्रतापी होते थे, शान्ति और व्यवस्था बनाये रखते थे और सभी उनकी आज्ञाओं का पालन करते थे।

एक स्थान पर पुरुषों का राजा त्रसदस्यु कहता है कि देवता मुझे वरुण के कार्यों में सम्मिलित करते हैं। मैं राजा वरुण हूँ। देवता मुझे वे शक्तियाँ प्रदान करते हैं जिनमें असुरों का विनास किया जाता है। मैं इन्द्र हूँ और मैं ही वरुण हूँ।

इन समस्त गर्वोक्तियों से भी स्पष्ट है कि राजाओं का पद सर्वापेक्षा अधिक गौरव-पूर्ण था और वे अपने को देवताओं के बराबर समझते थे। जो मनुष्य राजा की आज्ञा का उल्लंघन करते थे उनके साथ बल-प्रयोग किया जाता था किन्तु ऐसा अवसर प्रायः आता ही न था क्योंकि अधिकांश लोग यों ही राजा का आदेश मान लेते थे। एक राजा का उल्लेख है जो सुख और शान्ति के साथ अपने राजभवन में रहा करता था और जनता उसके प्रति अधिक श्रद्धालु थी।

राजा का यह परम कर्त्तव्य था कि वह अपनी प्रजा पर अशेष कृपा पूर्ण दृष्टि रखे, इसीलिए राजा लोगों को उपहार देते थे। जिस स्थान पर अग्नि को ग्रामों का संरक्षक कहा गया है उसी स्थान पर यह ध्वनि निकलती है कि ग्रामों की रक्षा करना राजा का ही कर्त्तव्य था। एक ऋषि का वचन है कि देवता उस राजा की रक्षा करते हैं जो रक्षा चाहने वाले ब्राह्मण की सहायता करता है। किसी दूसरे स्थल पर कहा गया है कि सोम देवता पवमान राजा के समान सेनाओं के ऊपर बैठता है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि सेना का नेतृत्व करना राजा का ही कर्त्तव्य था। इन्द्र एक युद्ध के समाप्त होते ही दूसरा युद्ध करता है और एक पुर अर्थात् मिट्टी के दुर्ग को तोड़ कर दूसरे पुर को तोड़ता है। अग्नि भी पुर और धनागार पर विजय प्राप्त करती है। राजा का भी कर्त्तव्य इसी प्रकार का ही था।

राजा बड़े ठाट-बाट के साथ रहा करते थे। यह ऋग्वेद के उन मन्त्रों से प्रमाणित है जिनमें राजा, मित्र, और वरुण के सहस्र स्तम्भ वाले सुदृढ़ ऊँचे भवनों का वर्णन किया गया है। यह भी कहा गया है कि प्रतापी होने के कारण राजाओं की ओर दृष्टिपात कर सकना भी बड़ा कठिन काम है। वे तो सुवर्ण के समान जान पड़ते हैं। हो सकता है कि राजा लोग सुनहरे और अधिक चमकीले वस्त्र धारण करते रहे हों। जैसा कि आवश्यक था, शासन से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों में अनेक कर्मचारी राजा की सहायता किया करते थे।

यह कहा जा चुका है कि पुरोहित राजा के सम्पर्क में अधिक रहता था और अपना विशेष प्रभाव रखता था। इसीलिए ऋग्वेद में अग्नि को श्रेष्ठ पुरोहित और युद्ध में सहायक कहा गया है। दूसरे स्थल पर मित्र, वरुण, अग्नि और आदित्यों के दूतों तथा सम्वाद-वादकों का उल्लेख है जो सत्यानुरागी, बुद्धिमान और कार्य-कुशल थे तथा जो सभी दिशाओं की देख-भाल करते थे, समाचार लाते थे, एवं

रक्षा का प्रबन्ध करते थे। इस कल्पना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे सब राज-कर्मचारी जान पड़ते हैं जिनसे राजा इसी प्रकार के कार्य कराते थे। कई स्थानों पर सेनानी का भी उल्लेख पाया गया है। वह सेना का नायक था और राजा उसको नियुक्त करता था।

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत ग्रामणी का भी विशेष उल्लेख है। ग्राम शब्द का मौलिक अर्थ समूह था। संस्कृत-साहित्य में भी यह प्रायः दृष्टिगोचर होता है। संभव है कि अति प्राचीन काल में जब आर्य अपने पशुओं को लेकर इधर उधर भ्रमण किया करते थे और किसी एक स्थान पर अधिक दिनों तक नहीं रहते थे तब प्रत्येक भ्रमण करने वाले समूह को ग्राम कहते रहे हों। खेती की प्रथा बढ़ने पर जब यह ग्राम एक विशेष स्थान बस गया तब यह बस्ती भी ग्राम कही जाने लगी। बस्ती के इसी अर्थ में ग्राम अथवा गाँव का प्रयोग आज तक होता है। ग्राम का मुखिया या नेता ग्रामणी कहा जाता था। वह एक ही वंश का होता था या ग्राम के निवासियों द्वारा चुना जाता था अथवा राजा उसे नियुक्त करता था, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। संभव है कि परिस्थिति के अनुसार तीनों ही प्रकार से ग्रामणी बनाये जाते रहे हों। कुछ भी हो, ग्रामीण का भी पद विशेष महत्त्व का था। वह राज्य के मुख्य अधिकारियों में गिना जाता था। ऋग्वेद में भी कहीं-कहीं व्रजपति शब्द का प्रयोग मिलता है। जिस प्रसंग से इसका प्रयोग किया गया है उससे इसका अर्थ ग्रामणी का ही द्योतक जान पड़ता है।

ऋग्वेद के समय में राजा अथवा उसके अधिकारी निरंकुश नहीं होते थे। उन सबको धर्म के अनुसार ही राज्य का समस्त प्रबन्ध करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त जनता को भी बड़े-बड़े राजनैतिक अधिकार प्राप्त थे। वैदिक साहित्य में सभा और समिति का उल्लेख अनेक स्थलों पर आया है। इनके वास्तविक रूप के सम्बन्ध में निश्चय-पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वानों की धारणा है कि समितियों में सभी प्रकार के लोग रहा करते थे किन्तु सभा में केवल गण्य-मान्य व्यक्ति अर्थात् मघवन और ब्राह्मण ही आसन पाते थे। कुछ विद्वानों का मत है कि सभा तो ग्राम-निवासियों की थी और समिति समस्त जनता की। कुछ विद्वानों का कथन है कि सभा और समिति में कोई विशेष भेद नहीं है। समिति का अर्थ जनता से है और सभा का बैठने के स्थान से। किन्तु अथर्ववेद में सभा और समिति

को प्रजापति की दो पुत्रियाँ कहा है। इससे जान पड़ता है कि ये दोनों संस्थाएँ एक दूसरे से मिलती-जुलती थीं किन्तु रूप-रेखा में सर्वथा भिन्न थीं।

ऋग्वेद में एक तीसरा शब्द विदथ भी अनेक बार आया है। इसका अर्थ कहीं तो धार्मिक, कहीं साधारण, कहीं सामरिक समूह, कहीं मकान, कहीं यज्ञ और कहीं बुद्धि आदि है। विदथ शब्द के प्रयोगों से तो संस्थाओं के सम्बन्ध में कोई विशेष बात नहीं ज्ञात होती किन्तु सभा और समिति से पूर्णतया प्रमाणित होता है कि यहाँ लोग एकत्र होकर समस्त आवश्यक विषयों पर विचार करते थे, नियम बनाते थे, नीति-स्थापन करते थे और जटिल अभियोगों को सुनकर न्याय करते थे। वाद-विवाद करने का सभी को समान रूप से अधिकार प्राप्त था तथा सभी मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार राजकार्य में भाग ले सकते थे। यहाँ राजा भी आता था और सभापति का आसन ग्रहण करता था। यह भी हो सकता है कि एक राजा के मरने पर दूसरे राजा का चुनाव सभा अथवा समिति में होता रहा हो किन्तु समस्त उल्लेखों पर विचार करने से यह अधिक सिद्ध होता है कि राजा तो साधारणतया वंश-परम्परा से होता था किन्तु नियमानुसार जनता के सामने उसकी स्वीकृति होती थी।

ऋग्वेद के समय में राज्य की ओर से कौन-कौन से कर लिये जाते थे, इसका वर्णन बहुत कम मिलता है। जान पड़ता है कि कर बहुत कम थे। सम्भव है कि राजा के पास अधिक ज़मीन रही हो और उसी की आय से शासन का अधिकांश कार्य चलाया जाता रहा हो। यह भी हो सकता है कि जनता अपनी आय का कुछ अंश राजा को देती रही हो। एक स्थान पर कहा गया है कि जिस प्रकार राजा धनवानों को खाता है उसी प्रकार अग्नि जंगलों को खाती है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि उन दिनों धनवान् पुरुषों से साधारण पुरुषों की अपेक्षा अधिक कर लिया जाता था।

न्याय के सम्बन्ध में भी ऋग्वेद से विशेष कुछ भी ज्ञात नहीं होता। कदाचित् अनेक झगड़ों का निबटारा कुटुम्ब के मुखिया ही कर देते थे। ऋग्वेद में कहीं-कहीं शतदाय वैरदेय शब्दों का प्रयोग मिलता है। उनसे यही जान पड़ता है कि न्याय के नियमों में भिन्न-भिन्न वर्गों के जीवन का मूल्य निश्चित था। आगे चल कर धर्म सूत्रों में स्पष्ट कहा गया है कि अमुक को मारने से इतना

गौएँ देनी पड़ेंगीं और अमुक के लिए इतनी। इसी से अनुमान किया जाता है कि ऋग्वेद के समय में भी कुछ ऐसा ही क्रम प्रचलित था। किन्तु कुछ अपराधों के लिए दूसरे प्रकार का भी दण्ड दिया जाता था।

ऋग्वेद में देवता और मनुष्यों के लिए कारावास का उल्लेख है। इसी उल्लेख से अनुमान किया जाता है कि कुछ अपराधों के लिए उस समय भी जेल का दण्ड दिया जाता था। दो मन्त्रों में एक कथा है कि ग्राम-निवासियों के सौ भेड़ मार डालने के अपराध में ऋज्राश्व को उसके पिता ने अन्धा कर दिया। इस प्रसंग से कौटुम्बिक दण्ड-प्रथा का समर्थन होता है और यह भी ज्ञात होता है कि कभी-कभी शारीरिक दण्ड दिया जाता था। दीर्घतमस् की कथा से अनुमान किया जाता है कि अपराध प्रमाणित करने के लिए जल और अग्नि की परीक्षाओं का भी प्रयोग किया जाता था। कई स्थलों पर मध्यमशी शब्द आया है जिससे जान पड़ता है कि अनेक झगड़ों का निपटारा पंचों द्वारा ही हो जाता था। कभी-कभी चोर अन्न, वस्त्र, द्रव्य अथवा गौएँ चुरा ले जाते थे किन्तु जब उनका पता लग जाता था तब उनकी बड़ी दुर्दशा की जाती थी।

ऋग्वेद के अन्तर्गत राजन्य शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया गया है। एक तो राजा और दूसरे जमींदार। इससे जान पड़ता है कि राजा के चारों ओर अनेक जमींदार थे जो राजा की प्रभुता स्वीकार करते थे किन्तु वंश-गौरव के विषय में वे किसी भी दशा में अपने को राजा से कम नहीं समझते थे तथा राज्य के कुछ अधिकारों का उपभोग भी करते थे। कई स्थलों पर सम्राज् शब्द भी मिलता है। इससे जान पड़ता है कि जब कई साधारण राजा किसी एक राजा की प्रधानता स्वीकार कर लेते थे तब वह राजा सम्राट् के नाम से प्रसिद्ध होता था और वैसा ही सम्मान भी प्राप्त करता था।

४--उत्तर वैदिक कालीन संस्कृति

ऋग्वेद का दसवां मण्डल पहिले नौ मण्डलों के बाद रचा गया था इसलिए उसकी भाषा, शैली और भाव भी उनके सर्वथा भिन्न हो गये हैं। इसी समय के आस पास कुछ मन्त्रों को चुनकर दूसरा वेद सामवेद तैयार किया गया। उसकी रचना से हम केवल इसी परिमाण तक पहुंच पाते हैं कि उन दिनों धार्मिकता की वृद्धि हो रही थी। ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों के साथ कुछ गद्यमयी रचनाएँ जोड़कर

तीसरा वेद यजुर्वेद और तैयार किया गया। वह यज्ञों के समय अध्वर्यु द्वारा पढ़ा जाता था। इसके दो संस्करण हैं--कृष्ण और शुक्ल। कृष्ण यजुर्वेद की तीन पूरी संहिताएँ हैं--तैत्तिरीयः काठक और मैत्रायणी तथा एक चौथी अपूर्ण कपिष्ठल संहिता भी है। शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयि संहिता है।

कदाचित् इसी समय के आस पास अथर्ववेद की रचना हुई जो आगे चलकर चौथा वेद कहलाया। कुछ लोग अब तक यही समझते थे कि अथर्ववेद के यंत्र-मंत्र आदि सभी अनार्य हैं जो कि बाद में धीरे-धीरे आर्यों द्वारा अपना लिगे गये। किन्तु यह उन सबका भ्रम है। वास्तव में अथर्ववेद भी उतना ही आर्य है जितना कि ऋग्वेद। अन्तर केवल इतना ही है कि ऋग्वेद में आर्य-जीवन के जिस अंग का वर्णन है वह अथर्ववेद में नहीं है। उसमें किसी दूसरे ही अंग का वर्णन है। अथर्ववेद के कुछ अंश कदाचित् ऋग्वेद के समान ही प्राचीन हैं किन्तु कुछ अंश निस्सन्देह बाद के हैं। इसके बीस भाग हैं जिसमें सात सौ तीस मन्त्र हैं।

इसी समय के आस पास अथवा कुछ ही पीछे वैदिक सिद्धान्तों को विस्तार के साथ समझने के लिये और वैदिक यज्ञों के कर्म-काण्ड को विस्तार देने के लिये गद्य में ब्राह्मण-ग्रंथों की रचना आरम्भ हुई। शतपथ आदि कुछ ब्राह्मण तो पीछे लिखे गये थे किन्तु अन्तिम तीन वेदों के समय के लगभग सामवेद का पंचविंश ब्राह्मण और ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण के पहिले पांच भाग तथा कौषीतकि अथवा शाखायन ब्राह्मण बने। इन संहिताओं और ब्राह्मणों के समय में आर्य समस्त उत्तरी भारतवर्ष में फैल गये थे, मध्य भारत की ओर भी चले गये थे तथा कुछ आय दक्षिण की ओर निकल गए थे। ऐतरेय ब्राह्मण में आंध्र जाति का भी उल्लेख है किन्तु आँध्र लोग आर्य नहीं थे। पुण्ड्र- मूतिव, पुलिन्द, और शबर भी अनार्य थे। उनसे भी दूर दक्षिण में अनार्य नैषध थे।

इस समय के आर्य-समूहों में शिबि, मत्स्य, वैतहव्य और विदर्भ ही प्रधान थे। कुरु समूह से सम्बन्ध रखता हुआ श्रिंजय समूह था। हिमालय के पार कदाचित् काश्मीर में कुरुओं के पास उत्तर मद्र थे। यह मध्यदेश में कुरुओं और पंचालों के अतिरिक्त वश और उशीनर भी थे। उनके दक्षिण में सत्वन्त थे। कोशल वर्तमान अवध में थे। विदेह उत्तर बिहार में और अंग पूर्वी बिहार में थे। काशी

बनारस के आसपास थे। यमुना के किनारे पारावत रहते थे और उनसे बहुत उत्तर में केकय तथा वल्हीक रहते थे। कीकट कदाचित् मगध में थे। मगध में ब्राह्मणों की प्रभुता कभी अधिक नहीं जमने पाई इसीलिए ब्राह्मण-साहित्य में मगध को अच्छा देश नहीं माना है और यही कारण भी है कि मगध में ही ब्राह्मणों के विरोधी बौद्ध तथा जैन धर्मों को उत्पन्न होने और फैलने में सुविधाएँ प्राप्त हो गई।

यह सभी विचारशील व्यक्ति स्वीकार करते हैं कि जिस समाज में मानसिक जीवन होगा वह कदापि एक ही अवस्था में स्थिर नहीं रह सकता। विचार में क्रान्तिकारी शक्ति रहती ही है अतएव जहाँ विचार होगा वहाँ परिवर्तन होना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त वैदिक काल के जीवन के बदलने के दूसरे भी कारण थे। आर्य लोग सभी दिशाओं में फैल रहे थे दो अथवा यों कहना चाहिए कि अनेक संस्कृतियों का संघर्षण हो रहा था जिससे सभी प्रकार के परिवर्तन अवश्यंभावी थे। नई धरती पर विजय प्राप्त करने कारण के आर्थिक जीवन बदलने लगा था। कृषि उद्योग और व्यापार का स्वाभाविक प्रसार प्रगतिशील हो रहा था। आर्थिक और राजनैतिक उथल-पुथल से सामाजिक संगठन भी स्वभावतः परिवर्तन के मार्ग पर बढ़ रहा था। भारतवर्ष के जल, वायु, और विशेष परिस्थतियों से भी आर्यों के विचार और संस्थाएँ अछूती नहीं रह सकती थीं। इन्हीं समस्त कारणों से उत्तर वैदिक काल में सभी ओर परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है।

ऋग्वेद के समय से इस समय खेती की अधिक उन्नति हो रही थी और सिंचाई का भी उस समय की अपेक्षा अधिक उत्तम प्रबन्ध होने लगा था। पूर्व दिशा की ओर अग्रसर होने और वहाँ बसने के कारण आर्यों में चावल का भी उपयोग होने लगा था और उत्तरोत्तर इसके उपयोग में वृद्धि होती जा रही थी इसके साथ ही साथ जौ और तिल का प्रचार भी बढ़ रहा था। माँस का भोजन और सोमरस अथवा आसव का पान पहिले के ही समान प्रचलित था किन्तु कदाचित् कुछ लोग अब इनके प्रचलन में आपत्ति करने लगे थे। अथर्ववेद के एक मन्त्र में इनको पोप कहा गया है। पहिले की अपेक्षा उद्योग-धन्धे भी कहीं अधिक बढ़ गये थे। यजुर्वेद के पुरुषमेघ सूक्तों में किसान, चरवाहे, गड़रिये, मछुए, रथ वाले, नाई, धोबी, जुलाहे, लकड़हारे, कुम्हार, लुहार, रंगरेज, द्वारपाल, दूत तथा रस्सी, टोकरी और रथ आदि बनाने वालों का उल्लेख पाया जाता है। उद्योग के साथ-साथ व्यापार में भी सन्तोषजनक उन्नति

हो रही थी। बड़े-बड़े व्यापारी श्रेष्ठिन् कहलाते थे। व्यापार की वृद्धि से मुद्राओं अर्थात् सिक्कों का भी चलन हो गया था। पहिनावे में ऊन, रेशम और केशरी रंग के वस्त्रों का उपयोग बढ़ गया था। सवारी के लिये घोड़ों का उपयोग अधिक होने लगा था और हाथी भी अधिकता से पाले जाते थे। वैद्यक की विशेष उन्नति हो गई थी। इस समय के साहित्य में अनेक प्रकार के नवीन उपचारों का वर्णन पाया जाता है। किन्तु यजुर्वेद में वैद्यों की वह प्रतिष्ठता नहीं है जो इसके पहिले थी। संभव है कि यह सब वर्ण व्यस्था के बढ़ते हुए भेदों के कारण हुआ हो।

विद्या के अभ्यास में भी आर्य लोग निरन्तर बढ़ रहे थे। लिखने की कला का आरंभ हो गया था कुछ लोगों की धारणा है कि लिपि भारतवर्ष में ईसवी पूर्व आठवीं शताब्दी के आसपास मेसोपोटामिया से आई हम यह स्वीकार करते हैं कि व्यापार के कारण भारतवर्ष और पश्चिमी एशियाँ में अधिक सम्पर्क था, यहाँ से वहाँ विचार और कलाएँ आती जाती होंगी किन्तु इतना अवश्य कहेंगे कि अभी तक इसका कोई प्रमाण नहीं मिला है कि भारतवर्ष के मेसोपोटामिया से लिपि को ग्रहण किया है। भारतवर्ष की लिपियों के प्राचीन अक्षर तो शरीर के अंगों के आकार से और वैदिक कर्मकाण्ड की रचनाओं से ही निकल आते हैं और यही उनके स्वाभाविक स्रोत जान पड़ते हैं। यहाँ यह भी कह देना उचित समझते हैं कि प्रारंभ से ही भारतीय लिपि इतनी वैज्ञानिक रही है जितनी संसार की और कोई लिपि नहीं है।

ज्योतिष में भी इधर अधिक उन्नति हुई। सूर्य और चन्द्रमा की गति की गणना के अनुसार वर्ष का क्रम ठीक रखने के लिए मलमास तो ऋग्वेद के सयय में ही आरंभ हो गया था। किन्तु नक्षत्रों की विद्या की वास्तविक उन्नति इसी युग में हुई। धार्मिक विचारों और तत्वज्ञान की प्रगति का उल्लेख आगे करेंगे। यहाँ केवल यही कहना चाहते हैं कि साधारण में मानसिक उथल-पुथल और लेखन कला की सुविधाओं से चारों ओर विद्या की उन्नति हुई और जनसाधारण में इसका पर्याप्त प्रसार हुआ। एक नवीन प्रकाश सबको दिखाई पड़ने लगा।

जीवन का भाव इस युग में बहुत कुछ ऋग्वेद के समय का सा ही था किन्तु थोड़ा-सा परिवर्तन अवश्य हो रहा था। एक ओर तो अधिक उल्लास दिखाई पड़ता है। अभी आवागमन का सिद्धान्त नहीं निकला था। अहिंसा की चर्चा बहुत कम

थीं। अथर्ववेद की प्रार्थनाएँ प्रायः आयु, सन्तान, धन और प्रभुता के लिए ही हैं। एक स्थान पर प्रार्थना की गई है कि अग्नि और सूर्य इस मनुष्य को दीर्घ आयु प्रदान करें। बृहस्पति इसे गौरव और प्रतिष्ठा प्रदान करें। एक दूसरे स्थान पर प्रार्थना करने वाला कहता है कि हे काम! मेरे प्रतिद्वन्द्वियों का विनाश करो। हे अग्नि! उनके मकान भस्म कर दो। हे काम! प्रतिद्वन्द्वियों को मार डालो। उन्हें भयानक अन्धकार में गिरा दो। वे अचेत हो जायँ, निर्जीव हो जायँ, एक दिन भी और जीवित न रहें। एक स्थान पर शरीर के अङ्गों के रूप और उपयोगिता की बड़ी प्रशंसा की गई है। यजुर्वेद की प्रायः समस्त स्तुति और क्रिया इसी संसार के सुख के लिए है। इस युग में भी पहिले के ही समान आमोद-प्रमोद थे। जुए से सम्बन्ध रखने वाले नियम इतने कठोर बना दिए गए थे कि उनमें से किसी एक का उल्लंघन करने पर प्रायश्चित करना पड़ता था। साथ ही साथ उन दिनों लोगों में जुए का नशा ऐसा हो गया था कि कभी जुए के नशे में लोग अपना सर्वनाश तक कर डालते थे तथा अपने प्रिय जनों के सामने घोर अपमान के पात्र बन जाते थे। समाज के दृष्टिकोण में भी अधिक गिर जाते थे फिर भी जुए का नशा लोगों में बना रहता था।

इतना सब होते हुए भी जीवन के उल्लास में इस युग के निवासी थोड़ा बहुत परिवर्तन लाने लगते हैं। अब उनका ध्यान परलोक की ओर विशेष रूप से खिंच जाता है। उन सबों का यह विश्वास था कि मृत्यु के बाद सभी के माता-पिता एक ही मार्ग यमलोक में निवास करने के लिए गये हुए हैं। इसीलिए ऋग्वेद के दसवें मण्डल में किसी एक स्थान पर मृतक को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि तुम वहीं जाओ जहां हमारे पूर्वज गये हुए हैं। उसी मार्ग से जाना जिससे वे गये थे। उसी सुखमय स्वर्ग को जाओ और अपने पूर्वजों से भेंट करो। अथर्ववेद में भी इसी आशय का एक मंत्र मिलता है। उसमें कहा गया है कि स्वर्ग में हम अपने सम्बन्धियों से मिलें, फिर उस लोक से न गिरें। वहाँ अपने माता-पिता और अपने अन्य प्रियजनों से मिलें। मृत्यु के बाद अग्नि से पवित्र होकर मनुष्य वहाँ जाते हैं। पवित्र कार्य करने वाले मनुष्य देवताओं के समीप स्थान पाते हैं। और यम के साथ रहते हैं। सोम रस का पान करने वाले गंधर्वों के

साथ स्वर्गीय आनन्द का उपभोग करते हैं। स्वर्ग में भी घी, मधु, दूध, दही और भिन्न-भिन्न प्रकार के आसवों की अधिकता है।

स्वर्ग से ही विपरीत दिशा में नरक है जो कि अधिक नीचे है। वहाँ जादू-टोना करने वाली स्त्रियाँ जाती हैं और दूसरे पापी मनुष्य भी जाते हैं। पापी मनुष्यों को वहाँ रक्तमय स्थान पर बैठकर कष्ट भोगना पड़ता है। संसार, स्वर्ग और नरक की अधिक चिन्ता करने से ही इन सब का तात्पर्य जानने की इच्छा प्रबल हो उठती है। इसके साथ ही साथ विश्व क्या है और इसकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई ये सभी प्रश्न भी स्वभावतः उत्पन्न होने लगते हैं। एक स्थान पर किसी ऋषि ने प्रश्न किया है कि यह समस्त दृश्यमान् जगत् कहाँ से उत्पन्न हुआ — इस प्रश्न का उत्तर कौन दे सकता है? यदि कहा जाय देवता इस प्रश्न का उत्तर दे सकते हैं तो सर्वथा असत्य है क्योंकि उनकी भी उत्पत्ति संसार की उत्पत्ति के बाद ही हुई है। इस प्रकार इस समस्या से बढ़कर गम्भीर समस्या दूसरी कोई हो ही नहीं सकती। इस पर मनन करते-करते संसार के आदि कारण की कल्पना की गई। तत्वज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाले विचारों में जो उन्नति हुई उसके सम्बन्ध में हम आगे चलकर वर्णन करेंगे। इस स्थल पर केवल एक ही विचार का दिग्दर्शन करा देना पर्याप्त समझते हैं।

परिवर्तनशील विश्व चक्र में संसार क्षण-भंगुर-सा प्रतीत होता है इसीलिए इसमें चिरस्थायी सुख किसी को भी किसी भी दशा में नहीं प्राप्त हो सकता किन्तु इसके विपरीत दुःख असीम दिखाई पड़ता है अतएव साँसारिक समस्त बन्धनों को भी तोड़कर शान्ति लाभ करने की ओर प्रयत्न शील होना चाहिए। इस प्रकार की विचार-धारा थोड़े से मनुष्यों के अतःकरण में उत्पन्न हुई और परिणाम स्वरूप उन सबों ने शान्ति लाभ करने के उद्देश्य से साँसारिक नश्वर सुखों को ठुकराकर तप करना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार तप करने की परिपाटी का आरंभ होता है जो भारतवर्ष में आज तक प्रचलित है और जिसका समय-समय पर भारतीय संस्कृति के साथ ही साथ दूसरे देशों में भी प्रसार हुआ।

ऋग्वेद के प्रारंभिक नौ मण्डलों में तप का कहीं नाम तक नहीं है किन्तु दसवें मण्डल में इसका उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है कि गेरुए वस्त्र धारण

कर मुनि आकाश-मार्ग में भ्रमण किया करते हैं। इस प्रकार तप की महिमा क्रमशः बढ़ती ही जा रही थी । जब तपस्या में स्वार्थ त्याग आवश्यक है, वासनाओं को दबा देना अनिवार्य है, चिन्ताओं के प्रभाव से दूर रहना कर्तव्य है, मानसिक उन्नति ही प्रधान उद्देश्य है तब तपस्वी मनुष्य साधारण मनुष्यों से आत्मबल में श्रेष्ठ हो ही जायगा और उसी के तपोबल से तप की महिमा का बढ़ जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

ऋग्वेद का दसवाँ मण्डल और अथर्ववेद–दोनों ही एक स्वर से कहते हैं कि ऋत तप से उत्पन्न हुआ है, सत्य तप से उत्पन्न हुआ है। परलोक में जीव की क्या दशा होगी ? इस प्रश्न का भी अधिकाँश सम्बन्ध तप से ही है। तप के प्रभाव से ही मुनियों को अलौकिक शक्ति प्राप्त होती हैं। विद्यार्थी तप के ही द्वारा अभीष्ट विद्याएँ प्राप्त करते हैं। मनुष्यों की बात ही क्या है ? देवता तक तप करते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि तप के ही द्वारा ऋभुओं ने सोम रस पान करने का अधिकार प्राप्त किया था। तप और यज्ञ के प्रताप से ही देवताओं ने स्वर्ग में अपनी सत्ता स्थापित की थी। इतना ही नहीं स्वयं प्रजापति ने सृष्टि उत्पन्न करने के लिए तप किया था। अथर्ववेद में कहा गया है कि इस विश्व की स्थिरता के कारण ही तप, यज्ञ, ऋत और ब्रह्म आदि हैं।

उपर्युक्त विचार-धारा से यह प्रमाणित है कि इस युग में आर्यों का दृष्टिकोण बहुत कुछ बदल रहा था। प्रश्न उठ सकते हैं कि जो मनुष्य पहिले इस जीवन के सुखों को ही सब कुछ मानते थे वे अब उन सब से थोड़ा थोड़ा मुँह क्यों मोड़ने लगे ? अथवा वे इस जीवन के सुखों को तुच्छ मानकर तप की ओर क्यों अग्रसर होने लगे ? इस प्रकार के प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देने के लिए जो ऐतिहासिक सामग्री चाहिए, उसका सर्वथा अभाव है। केवल अनुमान से यही कहा जा सकता है कि संभवतः प्राकृतिक वायु मण्डल से ही ऐसा होने लगा हो अथवा प्रकृति की पराधीनता में आशावाद कम हो रहा हो, उल्लास घट रहा हो और परलोक की ओर दृष्टि अधिक जाने लगी हो तथा मनुष्यों को तप करने की लालसा व्याकुल बनाने लगी हो। यह भी हो सकता है कि अनार्यों के साथ रहते रहते और उनकी सभ्यता से प्रभावित होने से आर्यों के चित्त की प्रसन्नता कुछ कम होने लगी है। निस्सन्देह उस युग में अनेक मनुष्यों का जीवन दुःख पूर्ण

था इसीलिए वे परलोक के कल्पित सुख से सांसारिक सुख के अभाव की पूर्ति करने लगे थे। किन्तु भविष्य में प्राप्त होने वाले अलौकिक सुख का मार्ग सरल न था। केवल त्याग और तप के द्वारा मनुष्य वहाँ तक पहुँच सकता था। यह कोई अति मानवीय विचार शृंखला नहीं है। ऐसी विचार-शृंखला संसार के अनेक युगों में असंख्य वर्गों में देखी गई है। सम्भव है कि प्राचीन भारत में भी इसी श्रेणी का मानसिक परिवर्तन होने लगा हो। यह तो स्पष्ट है कि जो मनुष्य परलोक की अधिक चिन्ता करेगा उसकी दृष्टि में यह समस्त संसार तुच्छ हो ही जायगा। यह सभी स्वीकार करते हैं कि प्राचीन काल के भारतीयों में तर्क की मात्रा अधिक थी। प्रत्येक विचार को वे तर्क के अन्त तक पहुँचा देते थे और उसे व्यावहारिक रूप भी दे देते थे। यही कारण है कि परलोक की चिन्ता ने उन्हें तपस्या की ओर बढ़ा दिया।

आर्यों के दृष्टिकोण में धीरे-धीरे होने वाला यह परिवर्तन उनके समस्त साहित्य और सामाजिक संगठन पर प्रभाव डाल रहा था। परिणाम यह हुआ कि पुरोहितों अर्थात् ब्राह्मणों का विशेष प्रभाव बढ़ने लगा और संगठन से सम्बन्ध रखने वाले नवीन सिद्धान्त और व्यवहार के द्वार भी खुल गये। यह कहा जा चुका है कि ऋग्वेद के प्रारम्भिक नौ मण्डलों के युग में ही वर्णव्यवस्था का बीजारोपण हो चुका था। यों तो वर्णव्यवस्था कोई अद्भुत् वस्तु नहीं है। सभी देशों और सभी युगों में इसका अस्तित्व किसी न किसी रूप में अवश्य पाया गया है किन्तु उत्तर वैदिक काल में जो चातुर्वर्ण्य बना अर्थात् जाति-पाँति वाली जो व्यवस्था समाज के ऊपर लाद दी गई वह निस्संदेह एक आश्चर्य मयी संस्था है और किसी भी दूसरे देश में उसके समान कोई व्यवस्था है भी नहीं। स्वीकार करते हैं कि प्राचीन ईरानी, मीड़, मिस्री, कोल्चियन, आइबीरियन और एट्रूरियन जातियों में तथा दूरवर्ती अमेरिका के पेरू और मेक्सिको देशों के प्राचीन निवासियों में भारतीयों के समान सामाजिक संगठन अवश्य था किन्तु यह भी सत्य है कि भारतीय वर्ण-व्यवस्था के समस्त लक्षण उनमें भी नहीं पाये जाते। उत्तर वैदिक काल के बाद आगामी युगों में उसमें कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य हुए और आजतक भी उसमें आवश्यक परिवर्तन होते चले आ रहे हैं किन्तु उसके मूल सिद्धान्त और मुख्य लक्षण आज भी ज्यों के त्यों बने हुए हैं भारतीय राजनीति, सेना आर्थिक

दशा, साहित्य आदि पर इसका ऐसा विचित्र प्रभाव पड़ा है कि इसकी विवेचना करना अनिवार्य हो रहा है। कम से कम यह तो जानना है ही कि इसका विकास किस प्रकार और किन कारणों से हुआ ?

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सिन्धु और यमुना नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश में आर्यों और अनार्यों का नित्य होने वाला युद्ध ऋग्वेद के नौ मण्डलों के समय में ही एक प्रकार समाप्त हो गया होगा। किन्तु ज्यों-ज्यों आर्य पूर्व की ओर बढ़ने लगे त्यों-त्यों युद्ध की अग्नि पुनः प्रज्वलित होने लगी क्योंकि ऋग्वेद के दसवें मण्डल में भी पहिले के ही समान युद्ध का वर्णन पाया जाता है। एक ऋषि का कथन है कि हमको सभी ओर से दस्युओं ने घेर लिया है। वे यज्ञ नहीं करते किसी बात में विश्वास नहीं करते, उनके सिद्धान्त ही भिन्न हैं, वे मनुष्य नहीं हैं। हे शत्रुनाशक! तुम उन सबको मार डालो। दास जाति का नाश कर दो। एक दूसरे स्थान पर इन्द्र के द्वारा कहलाया गया है कि मैंने दस्युओं को आर्य नाम से वंचित कर दिया है। मैंने दासों के दो भाग कर दिये हैं। इसी के लिए वे उत्पन्न हुए थे। इन सबका वास्तविक अर्थ यह कि अनार्य कभी आर्य नहीं होसकते थे तथापि पराधीनता से विवस होकर वेबस आर्यों के साथ रहने लगे थे। तभी से वे सभी शूद्र कहलाने लगे जो संभवतः किसी विशाल अनार्य जाति का नाम रहा हो। शूद्रों ने आर्य-संस्कृति को बहुत कुछ अपना लिया किन्तु वर्ण और पराजय के कारण वे आर्यों के सामाजिक जीवन से दूर ही रहे तथापि कुछ न कुछ सम्मिश्रण हो ही गया और यह रोका भी नहीं जा सकता था क्योंकि साथ रहनेवालों में यह किसी न किसी प्रकार हो ही जाता है।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों शूद्र भी समाज के अंग माने जाने लगे ऋग्वेद के अन्तर्गत दसवें मण्डल के पुरुषसूक्त में शूद्रों की उत्पत्ति पुरुष के अंग से मानी गई है। वाजसनेयि संहिता में आर्यों के साथ,साथ शूद्रों के लिए भी प्रार्थना की गई है और धनवान् शूद्रों का भी उल्लेख किया गया है। तैत्तिरीय संहिता और काठक संहिता से भी स्पष्ट है कि समाज के अंगों में ही शूद्रों की गणना की जाती थी। अनार्यों की सामाजिक स्वीकृति हो गई और परिणाम स्वरूप सम्मिश्रण भी अधिक बढ़ गया। किन्तु यह कदापि न समझना चाहिए

कि इस सम्मिश्रण को आर्य-जाति के प्रमुख कर्णधार अच्छा । समझते थे । अपने रुधिर, चरित्र, मस्तिष्क और संस्कृति की पवित्रता की सुरक्षा के विचार से वे इस सम्मिश्रण को अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखते रहे । इतना ही नहीं, इस सम्मिश्रण की बढ़ती हुई प्रगति को देखकर उन सबों ने इसके विरुद्ध नियमों को और भी अधिक कठोर कर दिये । इसलिए वर्ण-व्यवस्था की नींव और भी अधिक दृढ़ होने लगी ।

आगामी युग के सूत्रों में तो इन कठोर नियमों पर इतना अधिक बल दिया गया है कि कोई आर्य-कन्या किसी भी दशा में किसी शूद्र से विवाह नहीं कर सकती । कदाचित् संहिताओं के युग में भी ऐसी ही व्यवस्था रही होगी । आर्य पुरुषों के लिए शूद्र कन्या के साथ विवाह करने की कोई भी रुकावट नहीं है फिर भी न तो उत्तर वैदिक काल में और न आगामी युगों में ही इस प्रकार के वैवाहिक सम्बन्ध अच्छे समझे जाते थे । आर्यों और अनार्यों के बीच न तो विवाह ही लोकमत को ग्राह्य था और न अनुचित सम्बन्ध ही । इस प्रकार जहाँ तक विवाह का सम्बन्ध था, आर्य और शूद्रों के दो भिन्न वर्ग बन गये । यों तो अनुचित सम्बन्ध कभी-कभी हो ही जाते थे । किन्तु इस प्रकार के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली सन्तान बहुत कुछ नीची ही मानी जाती थी । यदि बढ़ते-बढ़ते ऐसी सन्तानों की संख्या अधिक हो जाती थी तो उनकी भी एक नवीन जाति बन जाती थी । आगामी धर्म सूत्रों और धर्मशास्त्रों में वर्णसंकर के अनुसार ही उपजातियों की उत्पत्ति कही गई है । निस्सन्देह उनके कथनों में अनेक असंभव और व्यर्थ की बातें हैं किन्तु उनमें इतना ऐतिहासिक सत्य अवश्य है कि सम्मिश्रिण समुदाय कभी-कभी अपनी एक छोटी सी जाति बना लेते थे ।

साधारणतया इस स्थल पर कुछ लोग प्रश्न कर सकते हैं कि यह सब विभेद क्यों हुआ ? आर्यों ने अनार्यों को एकदम अपने में मिलाया क्यों नहीं ? दूसरे देशों में भी भिन्न-भिन्न जातियों के सम्पर्क हुए; जय-पराजय भी हुई किन्तु अन्त में सब का रुधिर मिलकर एक हो गया और टुकड़े-टुकड़े होने से समाज बच गया । इङ्गलैण्ड, फ्रान्स, इटली, ग्रीस आदि अनेक देशों में संघर्ष के बाद ही पूरा सम्मिश्रण हुआ फिर भारतीय संस्कृति ही निराले मार्ग पर क्यों चली ?

इन समस्त प्रश्नों के उत्तर में हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि अन्य

देशों की अपेक्षा भारत की सम्पर्कवाली जातियों में अधिक रंग का भेद था। इङ्गलैण्ड, फ्रान्स आदि देशों में आनेवाली जातियाँ मूल निवासियों के ही रंग की थीं। आधुनिक युग में भी जहाँ भिन्न-भिन्न रंग की जातियों का सम्पर्क हुआ है वहाँ या तो अधूरा सम्मिश्रण हुआ है अथवा अनुचित सम्बन्धों से सम्मिश्रण हुआ है। फिर भी उसे रोकने की निरन्तर चेष्टा की गई है। दक्षिण अफ्रीका या अफ्रीका के और भाग तथा अमेरिकन संयुक्त राज्य की रियासतें हमारे कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त हैं। भारतीय आर्यों ने तो रंग अर्थात् वर्ण के महत्व को पहिले से ही भली भाँति समझ लिया था, इसी लिए उन्होंने अपने नवीन सामाजिक संगठन का नामकरण वर्ण व्यवस्था कर दिया था।

साथ ही साथ यह भी हो सकता है कि कदाचित् आर्यों की संख्या अनार्यों से कम रही हो और इसीलिये उन्हें भय हो गया हो कि कहीं उनकी संस्कृति का लोप न हो जाय। संसार में अनेक मनुष्यों की यह धारणा रही है और आधुनिक युग में भी कुछ मनुष्यों की धारणा है कि उच्च श्रेणी की संस्कृति का अस्तित्व उच्च भावनायुक्त मस्तिष्क और चरित्र पर निर्भर है तथा उस प्रकार का मस्तिष्क और चरित्र कर्म से नहीं किन्तु जन्म से ही प्राप्त होता है। निम्न श्रेणी की संस्कृति के सम्मिश्रण से ही सब कुछ नष्ट हो जायगा। उन्नत विचार पतित हो जायँगे अतएव उच्च कोटि की संस्कृति के अनुयायियों को अपने ही अन्तर्गत विवाह करना चाहिए। भारतीय आर्य गुणों को विशेष रूप से जन्म सिद्ध ही स्वीकार करते थे इसीलिए विवाह की सीमाएँ निर्धारित करने में ही उन्होंने अपना कल्याण समझा किन्तु इससे उनकी एक निर्बलता का भी आभास मिलता है। संख्या की कमी के कारण अथवा दूसरी किसी बात के कारण आर्यों में यह आत्मविश्वास नहीं था कि सम्मिश्रण होने पर भी उनकी ही जय होगी। भारतीय संस्कृति में दूसरों पर प्रभाव डालने की विचित्र शक्ति थी। भारतवर्ष में उनसे क्रमशः समस्त मूल निवासियों को अपने अधीन कर लिया और बाहर चारों ओर के देशों पर छाप लगा दी भूमध्यसागर से लेकर जापान तक और साइबीरिया से लेकर जावा सुमात्रा तक कोई देश नहीं है जिसपर भारतीय धर्म, साहित्य अथवा कलाका प्रभाव न पड़ा हो। किन्तु दूसरे समुदायों को एकदम आत्मसात् कर जाने की, अपना रुधिर मिलाकर उनको अपना-सा ही बना लेने की और इस प्रकार भिन्न-भिन्न तत्वों को मिला कर सामा-

जिक एकता उत्पन्न करने की शक्ति भारतीय संस्कृति में कुछ कम थी। आगामी काल में जो कोई समुदाय भारतीय संस्कृति की सीमा के भीतर आया उसी की एक नवीन उपजाति बन गई।

इस स्थल पर हम जिस सामाजिक विभिन्नता पर विचार प्रकट कर रहे हैं उसका एक और मानसिक कारण भी था। प्राचीन काल के भारतीय बड़े तर्कशील थे। तर्क करते-करते प्रत्येक विचार को वे अन्तिम सीमा तक पहुंचा देते थे। भारतीय धर्म में तत्वज्ञान में, जिस प्रकार का तीक्ष्ण तर्क है उस प्रकार का संसार में अन्यत्र कहीं नहीं है। साँख्य या वेदान्त दर्शन में अथवा जैनमत के कर्मसिद्धान्त में तर्क की ऐसी पराकाष्ठा है कि असाधरण मस्तिष्क को भी उन तत्वज्ञानियों के के साथ चलने में कठिनाई होती है। इस तर्कशीलता का प्रभाव स्वभावतः सामाजिक विचारों पर भी दिखाई पड़ता है। सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले जितने भी सिद्धान्त निकले उनको प्राचीन भारतीयों ने धीरे-धीरे चरम सीमा तक पहुंचा दिया। प्रारम्भ में वर्ग व्यवस्था यहाँ भी अन्य देशों के समान ही उत्पन्न हुई थी। इसमें सन्देह नही कि वर्ग का भी आधार किसी न किसी श्रेणी की सामाजिक विभिन्नता ही है। अन्य देश तो वर्ग व्यवस्था से ही संतुष्ट हो गये किन्तु भारतीयों ने सामाजिक विभिन्नता के सिद्धान्त को अधिक महत्व देकर वर्ग व्यवस्था को वर्ण व्यवस्था में परिणत कर दिया।

अब प्रश्न यह उठ सकता है कि अभी तक जो कुछ कहा गया है वह सब आर्यों के उन कारणों से सम्बन्ध रखता है जिन्होंने उनको अनार्यों से पृथक रखा किन्तु क्या अनार्यों की ओर से भी ऐसे कोई कारण नहीं थे? इस प्रश्न के उत्तर में कहना पड़ता है कि अनार्यों में भी कुछ समुदाय रहे ही होंगे जिन्होंने अपने स्वाभिमान के कारण आर्यों से अथवा दूसरे अनार्यों से मिलकर अपने रुधिर को पवित्र करना उचित न समझा होगा। हो सकता है कि किसी प्रकार उनका वर्ग पार्थक्य भी और भी अधिक दृढ़ होने लगा हो। भौगोलिक कारणों से तो वे अवश्य भिन्न-भिन्न जातियों में विभक्त रहे होंगे। वे समस्त भारतवर्ष में बसे हुए थे अतएव एक प्रदेश के अनार्य दूरवर्ती प्रदेशों के अनार्यों से निस्सन्देह पृथक ही रहे होंगे। इस प्रकार अनार्यों में पहिले से ही अनेक भेद थे। आर्थिक कारणों से भी अन्य भेद अवश्य उत्पन्न हुए होंगे। शूद्र कहे जाने वाले

मनुष्य स्वभावतः अनेक प्रकार के उद्योग करते थे। पशु पालन, खेती, भिन्न-भिन्न प्रकार के शिल्प आदि के अनुसार प्रत्येक प्रदेश में प्रत्येक व्यवसाय के अनुयायियों के लिए पृथक-पृथक वर्ग बनाना स्वाभाविक था। भारतीय समाज के सम्बन्ध में यह नित्य स्मरण रखना चाहिए कि चातुर्वर्ण्य का सिद्धान्त एकदम कोरा ही था सत्य तो यह है कि प्रारंभ से ही अनेक प्रकार के वर्ग थे और जब वर्ण व्यवस्था आरम्भ की गई तब एक साथ ही चार नहीं, किन्तु आवश्यकता से कहीं अधिक जातियाँ और उपजातियाँ बनीं।

भारतीय समाज के अन्तर्गत शूद्रों और ऊँची जातियों के जिन भेदों और उपभेदों ने स्थान पा लिया था वे आगामी काल में कुछ सुधारकों के प्रभाव से और परिवर्तनशील आर्थिक परिस्थितियों के कारण कम अवश्य हो गये और दूसरे नवीन वर्गों के आजाने से उनमें कुछ उलट फेर भी हुए किंतु वे कभी मिटे नहीं। कहना तो यों चाहिए कि उत्तर वैदिक काल में और उसके बाद के युग में वे भेद और उपभेद ही अधिक प्रभावशाली रहे। साधारणतया समाज दो मुख्य भागों में विभक्त था। एक तो शूद्र और दूसरे अन्य लोग जो इस समय थोड़े-से धार्मिक संस्कारों के बल पर अपने को द्विज कहने लगे किंतु इन द्विजों में भी भेद बढ़ने लगे। ऋग्वेद के नौ मण्डलों के युग में ही ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ग बन चुके थे किंतु उत्तर वैदिक काल में ये तीनों ही वर्ग वर्ण हो गये और प्रत्येक वर्ण के अन्तर्गत उपजातियाँ बनने लगीं। जन्मसिद्ध गुणों में विश्वास, वर्गीय अभिमान, तर्कशील, भौगोलिक विस्तार और औद्योगिक भेद ही उन समस्त उपजातियों के बनने के मुख्य कारण कहे जा सकते हैं क्योंकि रंग अर्थात् वर्ण का तो कोई भेद था ही नहीं।

उत्तर वैदिक काल में ब्राह्मणों का पद-गौरव और प्रभाव अधिक बढ़ गया था। जिस किसी देश, समाज, अथवा युग में धार्मिकता अधिक होती है उसमें पुरोहितों का प्रभाव अवश्य बढ़ जाता है। ज्यों-ज्यों आर्यों की दृष्टि में परलोक ही अधिक महत्वपूर्ण स्थान पाने लगा और यज्ञों के विधान प्रबल होने लगे त्यों-त्यों ब्राह्मणों का महत्व अधिक बढ़ा और उनकी प्रतिष्ठा सर्वत्र होने लगी। ब्राह्मणों के पास यदि कोई बल था तो वह विद्या-बल था। ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि सब से बड़ा पुण्य विद्या ही है। जिसके पास विद्या है वह इस लोक और परलोक में अक्षय

सुख पाता है। समस्त इतिहास में मस्तिष्क का दल ही एक प्रधान सामाजिक शक्ति रहा है। पढ़ने, लिखने, उपदेश और यज्ञ में लगे रहने के कारण ब्राह्मण समाज के शिरोमणि हो गये थे। पंचविंश ब्राह्मण के एक वाक्य से यह प्रतिध्वनित होता है कि ब्राह्मण स्वयं ही ऐसी पवित्र वस्तु है कि उसके सम्बन्ध में अधिक छान-बीन नहीं करनी चाहिए। यद्यपि मैत्रायणी, तैत्तिरीय और काठक संहिताओं में लिखा है कि जन्म से ही कोई ऋषि नहीं होता, ऋषिपने की सच्ची कसौटी तो विद्या ही है तथापि ब्राह्मण ही सबसे अधिक विद्या प्राप्त करते थे। इस समय के लगभग अनेक ब्राह्मण दूसरों को शिक्षा देने के लिए देश भर में भ्रमण किया करते थे, वाद-विवाद किया करते थे और राजाओं से द्रव्य तथा सम्मान प्राप्त किया करते थे। इस प्रकार वे अपना जीवन निर्वाह किया करते थे।

प्राचीन काल में सभी जातियों के अन्तर्गत शास्त्रीय व्यवस्था (क़ानून) भी धर्म का ही एक अंग समझी जाती थी। आजकल क़ानून जानने वालों का जो प्रभाव है वह उस युग में अधिकतया पुरोहितों की पैतृक सम्पत्ति थी। विद्या और धर्म की महिमा ने ब्राह्मणों को समाज में इतना महत्वपूर्ण स्थान दे दिया कि वे दूसरों को नीचा समझने लगे और उनके वर्ग में विभिन्नता की मात्रा बढ़ने लगी। अभी तक भारतीय समाज में खाने-पीने की कोई रोट-टोक नहीं आरम्भ हुई थी किन्तु अब ब्राह्मण दूसरों के साथ अपनी कन्याओं का विवाह करना अनुचित समझने लगे थे। धर्मसूत्रों से स्पष्ट है कि ब्राह्मण अन्य वर्णों की कन्याओं से विवाह कर सकते थे। प्रमाण के लिए कहना पड़ता है कि च्यवन ऋषि ने क्षत्रिय राजा शर्यात की राजकुमारी सुकन्या के साथ विवाह किया था। इस प्रकार के थोड़े-बहुत सम्बन्ध प्राचीन भारतवर्ष के समाज में निरन्तर होते रहे हैं किन्तु आगे चलकर इन सबकी संख्या क्रमशः घटती ही गई।

धर्मसूत्रों में विधान है कि ब्राह्मण सबसे पहिले एक सजातीय कन्या से विवाह करने के बाद क्षत्रिय, उसके बाद वैश्य, शूद्र कन्या से विवाह कर सकता है। यदि संहिताओं के समय में भी ऐसा नियम था तो धनवान् ब्राह्मण ही इससे लाभ उठा सकते थे। साधारण स्थिति का मनुष्य तो एक से अधिक विवाह कर ही नहीं सकता। यह तो मानी हुई बात है कि स्त्री-पुरुषों की संख्या की प्राकृतिक समता भी बहु विवाह के

चलन को बहुत कुछ रोक देती है। जो धनवान् ब्राह्मण विवाह करते होंगे वे भी विशेषरूप से अपने ही वर्ण की कन्याएँ खोजते होंगे। दूसरे वर्ण की कन्याओं के साथ विवाह करने वाले ब्राह्मणों की संख्या अधिक नहीं हो सकती थी। ऐसा होना भी असम्भव था कि एक विवाह करने वाले ब्राह्मण ही क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र कन्या के साथ विवाह करें। यदि ऐसा प्रायः होता तो अनेक ब्राह्मण कन्याएँ कुमारी ही रह जातीं क्योंकि अन्य वर्णों के पुरुषों के साथ उनका विवाह हो ही नहीं सकता था। इन समस्त प्रवृत्तियों ने जन्म-सिद्धान्त और तर्कशीलता आदि अनेक कारणों से मिलकर यह परिणाम उत्पन्न कर दिया कि कभी-कभी ब्राह्मण दूसरे वर्ण की कन्याओं से तो विवाह कर लेते थे किन्तु शेष समस्त विवाह-सम्बन्ध क्रमशः बन्द हो गए। इधर ब्राह्मण वर्ण में ही भौगोलिक कारणों से अनेक भाग हो गए। प्रत्येक भाग स्वभावतः विवाह-सम्बन्ध प्रायः अपने ही भाग में करता था। धीरे-धीरे यह व्यवहार भी एक नियम-सा हो गया और ब्राह्मणों की अनेक जातियाँ हो गईं। आधुनिक काल में भी ब्राह्मणों की अनेक उपजातियाँ भिन्न-भिन्न प्रदेशों के नाम से प्रसिद्ध हैं।

ब्राह्मणों के बाद भारतीय समाज में क्षत्रियों का महत्वपूर्ण स्थान था। जिन कारणों से ब्राह्मण वर्ग ब्राह्मण वर्ण बन गया था उन्हीं कारणों से क्षत्रिय वर्ग भी क्षत्रिय वर्ण बन गया था। जिस प्रकार ब्राह्मणों के पास विद्या-बल था उसी प्रकार क्षत्रियों के पास सैन्य-बल था। साथ ही साथ राजनैतिक प्रभुता थी और विद्या-व्यसन भी था इसीलिए उनका पद-गौरव ब्राह्मणों से थोड़ा ही कम था। भारतीय साहित्य में बार बार यह उल्लेख दिखाई पड़ता है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय मिलकर संसार का भार उठाते हैं। राजनैतिक प्रभुता के कारण क्षत्रियों को अपने पद-गौरव का बड़ा अभिमान था। उन्होंने भी अनुलोम विवाह की प्रथा को अङ्गीकार कर लिया अर्थात् अपनी कन्याओं के साथ नीचे वर्ण वाले पुरुषों का विवाह करना अपने लिए अपमान का विषय समझते थे। क्षत्रिय सर्दारों और राजाओं में बहु-विवाह का प्रचलन औरों की अपेक्षा अधिक था इसलिए वे नीचे वर्ण वालों से कन्याएँ भी अधिक लेते थे किन्तु आगे चलकर यहाँ भी अपने ही वर्ण में विवाह करने की प्रथा-सी बन गई और भौगोलिक कारणों ने उनमें भी उपजातियों को उत्पन्न कर दिया। वैदिक साहित्य में कभी-कभी क्षत्रिय अथवा राजन्य शब्द का

ऐसा प्रयोग किया गया है, मानो राजवंशों के ही पुरुष इस नाम से पुकारे जाते हों। हो सकता है कि इन ऊँचे वंशों का एक स्वतन्त्र वर्ग रहा हो और सर्वप्रथम वही क्षत्रिय नाम से पुकारा जाता रहा हो। कुछ भी हो, आगे चलकर क्षत्रिय शब्द का अर्थ अधिक व्यापक हो गया किन्तु फिर भी भिन्न-भिन्न वर्ग बने ही रहे।

ब्राह्मण और क्षत्रिय हो जाने के बाद जो आर्य बच रहे वे सब विश् वर्ग के थे। इस समय वे ही विश्य अथवा साधारण रूप से वैश्य कहलाने लगे। इनका भी पृथक् वर्ण बन गया और भौगोलिक कारणों से ये भी अनेक उपजातियों में विभक्त हो गए। उपजातियों की प्रवृत्ति यहाँ और वर्णों की अपेक्षा कहीं अधिक थी। इसका मुख्य कारण यह था कि वैश्य लोग अनेक प्रकार के व्यवसाय करते थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण में रथकारों की भी एक पृथक् जाति मान ली गई है। चातुर्वर्ण्य की इस कल्पना के क्षेत्र में समस्त आर्य और अधिकांश अनार्य तथा सम्मिश्रित वर्ग आ गए। किन्तु कुछ अनार्य लोग जो बहुत ही नीची जाति के थे वे इस क्षेत्र में प्रवेश भी न कर सके। कदाचित् कुछ ऐसे अनार्य समुदाय रहे हों जो दूसरे अनार्यों की पराधीनता में रहते रहे हों और जो आर्य-विजय के बाद पराजितों के पराधीन अर्थात् अधिक नीचे जान पड़ते रहे हों। कुछ भी हो, चाण्डाल पौल्कस आदि जातियों को वर्ण-व्यवस्था से बाहर ही रखा गया। दास इस व्यवस्था के भीतर थे अथवा बाहर—यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। निस्सन्देह, इस युग में भी वे स्वामी की सम्पत्ति समझे जाते थे और इच्छानुसार प्रत्येक समय प्रत्येक व्यक्ति को दान में दिए जा सकते थे।

वैदिक साहित्य में वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति ईश्वर से मानी गई है। ऋग्वेद में कहा गया है कि सृष्टि के आदि में पुरुष प्रकट हुआ। उसके एक सौ मस्तक थे, एक सौ नेत्र थे और एक सौ पैर थे। उसने सभी ओर से पृथ्वी को ढक लिया और उसके बाहर भी दस अंगुल फैल गया। जो कुछ रहा है और जो कुछ होने को है, वह सब पुरुष ही है। उसके चतुर्थांश में समस्त प्राणी हैं और शेषांश में स्वर्ग का अक्षयजीवन है। समस्त प्रकृति पुरुष से ही उत्पन्न हुई है। जिस समय पुरुष के भाग किए गए उस समय ब्राह्मण उसका मुख था; उसकी दोनों भुजाओं से राजन्य अर्थात् क्षत्रिय बना था, उसकी जाँघें वैश्य बन गई थीं और उसके चरणों से शूद्र उत्पन्न हुआ था। भारत के आगामी साहित्य में यही कल्पना विशेष

रूप से पाई जाती है। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था ईश्वरीय बनादी गई इसीलिए यह समाज में अधिक मान्य हो गई।

संहिताओं और ब्राह्मणों को देखने से पता चलता है कि उनमें जातियों के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में जो विचार प्रकट किये गये हैं उनसे उस युग में क्षत्रियों की प्रधानता ही सिद्ध होती है। वैश्यों और शूद्रों का जीवन सर्वथा परतंत्र ही दृष्टिगोचर होता है। ऐतरेय ब्राह्मण में जैसा उल्लेख है वैसा अन्यत्र कहीं है अथवा नहीं, यह हम नहीं कह सकते। संभव है कि वह क्षत्रिय के दृष्टिकोण से लिखा गया हो। उसकी भावना किस वर्ण के प्रति कैसी हो सकती है, कदाचित् यही स्पष्ट किया गया हो। ब्राह्मण को आदायी अर्थात् दन देने वाला, आयायी अर्थात् सोमरस का पान करने वाला, आवसायी अर्थात् भोजन के लिए इधर उधर भ्रमण करने वाला कह कर यथाकामप्राय्य अर्थात् इच्छा करते ही मिल जाने वाला कहा है इससे प्रमाणित है कि राजा अपनी इच्छा के अनुसार बुला सकता था और हटा भी सकता था। इसी प्रकार वैश्य को अन्यस्यवलकृत् अर्थात् दूसरों को कर देने वाला अन्यस्याद्य अर्थात् दूसरों के द्वारा भोग किया जाने वाला और यथाकामज्येय अर्थात् दूसरों का दूत, कामोत्थाप्य अर्थात् जब चाहे निकाल दिया जाने वाला और यथा कामवध्य अर्थात् इच्छानुसार रखा जाने वाला कहा है। शूद्र के सम्बन्ध में अन्यस्यप्रेष्य अर्थात् जब चाहे मार दिया जाने वाला कहा है। कह नहीं सकते कि यह कल्पना कहाँ तक व्यवहार के आधार पर थी। काठक संहिता और मैत्रायणी संहिता में कोई शूद्र अग्निहोत्र के लिए भी गाय दुहने का अधिकारी नहीं है।

भारतीय समाज के अन्तर्गत वर्ण-व्यवस्था के अनुसार ज्यों-ज्यों जाति-पाँति के नियम कठोर होते गये त्यों-त्यों स्त्रियों का पद-गौरव गिरता गया। यदि युवावस्था प्राप्त स्त्री-पुरुष स्वतन्त्रता के साथ परस्पर मिलते रहें तो उनका पारस्परिक प्रेम और वैवाहिक सम्बन्ध कदापि नहीं रोका जा सकता। प्रेम अन्धा और पागल होता है। अवसर पाते ही वह जाति-पाँति के सभी नियमों का उल्लंघन कर जाता है। यदि प्रेम और विवाह की सीमा निर्धारित कर दी जाय तो उसी के अनुसार स्त्रियों को स्वतन्त्रता को भी निर्धारित करना पड़ेगा। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था के कारण और विशेषतया अनार्यों की उपस्थिति के कारण स्त्रियों

का पुरुषों से स्वतन्त्रता पूर्वक मिलना कम होने लगा। यद्यपि पर्दा-प्रथा का आरम्भ नहीं हुआ था तथापि स्त्रियाँ पुरुषों की गोष्ठियों से कुछ दूर ही रहने लगीं। इस प्रकार दूर रहने से उनका ज्ञान और अनुभव सीमित होने लगा, परिणाम यह हुआ कि उनका आदर भी कम होने लगा। ऋग्वेद में उन्हें जो विवाह सम्बन्धी स्वतन्त्रता प्राप्त थी वह भी दिन-प्रति दिन घटने लगी। माता-पिता ही उनके विवाह का प्रबन्ध करने लगे। स्त्रियों का पद गिरने का एक और कारण अनुलोम प्रथा भी है। जो वैश्य कन्या क्षत्रिय या ब्राह्मण के घर में जाती थी अथवा जो शूद्र-कन्या किसी ऊँचे वर्ण के कुटुम्ब में जाती थी वहाँ उसका उतना आदर-सन्मान नहीं हो सकता था, जितना कि सम-वर्ण की कन्याओं का या ऊँचे वर्ण की कन्याओं का हो सकता था। इस प्रकार असंख्य स्त्रियों का पद-गौरव नष्ट हो जाने से स्त्री-मात्र के पद-गौरव पर विशेष रूप से अनिष्टकारी प्रभाव पड़ा।

इन समस्त कारणों के अतिरिक्त एक और विशेष कारण था जिसने इस अनिष्टकारी प्रभाव को अधिक भयानक बना दिया। यह कहा जा चुका है कि इस समय ऋग्वेद के समय की अपेक्षा जीवन का उल्लास कम हो गया था और तपस्या की प्रवृत्ति अधिक बढ़ रही थी। जब संसार त्याग एक आदर्श होने लगा तब स्त्री, जो इस त्याग में सबसे बड़ी बाधा समझी गई है, अनादर की दृष्टि से देखी जाने लगी। निस्सन्देह काम-प्रवृत्ति मानवी प्रकृति की सबसे अधिक बलवती प्रवृत्ति है। इस पर विजय पा सकना बड़ा ही कठिन कार्य है किन्तु जब तक यह न पराजित की जाय तब तक त्याग असम्भव है। इसीलिए काम-प्रवृत्ति की निन्दा सर्वत्र होने लगी। साथ ही साथ इस प्रवृत्ति की ध्येय स्त्री की भी निन्दा की जाने लगी। उत्तर वैदिक काल में मैत्रायणी संहिता स्त्रियों को जुआ और मदिरा के समान निन्दा के योग्य समझती है। एक दूसरे स्थान पर यही संहिता स्त्री को अनृत कहती है और उसे निर्ऋति अर्थात् आपत्ति से जोड़ती है। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि स्त्री एक अधम शूद्र से भी अधिक अधम है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार पुत्र स्वर्ग तुल्य सुख है और कन्या घोर विपत्ति है। ऐतरेय ब्राह्मण यह भी चाहता है कि स्त्री कभी अपने स्वामी को उत्तर न दे। तात्पर्य यह कि निरंतर आज्ञा का पालन करती रहे।

यह सत्य है कि स्त्रियों की निन्दा और परतन्त्रता की प्रवृति का आरम्भ संहिताओं और ब्राह्मणों से ही होता है फिर भी यह न समझना चाहिए कि उनका पद-गौरव एकदम नष्ट हो गया था क्योंकि इस प्रकार के परिवर्तनों में शताब्दियों का समय लग जाता है और एक प्रकार की प्रवृत्तियाँ दूसरे प्रकार की प्रवृत्तियों से कुछ कटती रहती हैं। संहिताओं और ब्राह्मणों से ही सिद्ध होता है कि उस समय भी स्त्रियों का पद आदर और सन्मान के दृष्टिकोण से किसी भी अंश में कम न था। ऐसी अनेक स्त्रियाँ थीं जो तत्वज्ञान के तर्क में पुरुषों की समानता करती थीं। ऐतरेय ब्राह्मण और कौषीतकि ब्राह्मण में विदुषी स्त्रियों का भी उल्लेख है। आगामी उपनिषदों के युग में भी अनेक विदुषी स्त्रियाँ मिलती हैं। बृहदारण्य उपनिषद् में स्त्री-शिक्षकों का उल्लेख है। याज्ञवल्क्य की एक स्त्री को ब्रह्म-विद्या अधिक प्रिय थी। ऐसी स्त्रियाँ भी थीं जो लड़ाई-झगड़े में अपने पतियों की सहायता किया करती थीं। ऋग्वेद के युग में जिस समय ऋषि मुद्गल ने हथियार लेकर गाय चुराने वाले डाकुओं का पीछा किया उस समय उसकी स्त्री भी उसकी सहायता कर रही थी।

अनेक स्थलों के वाक्यों से यह भी सिद्ध होता है कि प्रेम और विवाह की स्वतन्त्रता यद्यपि कम हो रही थी तथापि आगामी समय की अपेक्षा कहीं अधिक थी। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में भी युवक और युवतियों के मिलने और प्रेम करने की बातों का उल्लेख है। एक स्थान पर कहा गया है कि सम्पत्तिशाली व्यक्तियों की कन्याओं के साथ विवाह करना लोग अधिक भाग्य का विषय समझते हैं। यदि किसी सम्पत्तिशाली व्यक्ति की कन्या सुशील और सुन्दर हो तो अनेक मनुष्य उसके मित्र बन जाते हैं। इतना ही नहीं, ऋग्वेद से यह भी ज्ञात होता है कि कुरूप, यहाँ तक अन्धी कन्याओं को भी अपने अन्य गुणों के कारण विवाह करने का अवसर रहता था। अथर्ववेद से प्रमाणित है कि युवक और युवतियाँ अपने प्रेम के प्रयत्नों में सफल होने के लिए यन्त्र-मन्त्र तथा जादू का भी सहारा खोजा करते थे। अथर्ववेद में प्रेमी कहता है---"तुम मेरे वश में आओ। मैं मधु से भी अधिक मधुर हूँ। मधु की डाली के समान तुम मुझ से अवश्य प्रेम करोगी। घेरने वाला गन्ना लेकर मैं तुम्हारे समीप आता हूँ जिससे कि हमारे बीच कोई ग्लानि न रहे और तुम मुझसे प्रेम करो तथा मुझ से दूर न जाओ।"

एक दूसरे स्थान पर प्रेमी कहता है—"जिस प्रकार वायु के चलने से धरती पर की घास हिल जाती है उसी प्रकार मेरे मन की भावनाएँ भी तुम्हारे मन को हिला दें जिससे कि तुम मुझसे प्रेम करो और कहीं दूर न जाओ। हे अश्विन्! तुम दोनों लाकर उसे अपने प्रेमी से मिला दो। यहाँ यह स्त्री पति की आकांक्षा करती हुई आई है और मैं पत्नी की आकांक्षा करता आया हूँ।" एक मन्त्र में प्रेमी चाहता है कि वह अपनी प्रेयसी के हृदय को तीर के समान भेद दे। एक स्थान पर प्रेमी कहता है कि 'जिस प्रकार लतिका वृक्ष से लिपट जाती है उसी प्रकार तुम भी मुझसे लिपट जाओ। किसी दूसरे स्थल पर प्रेमी कहता है कि मैं तुम्हें अपनी भुजाओं से चिपटाता हूँ। तुम भी मेरे हृदय से चिपट जाओ। इतना ही नहीं, अथर्ववेद में प्रीति उत्पन्न करनेवाली एक वनस्पति को लेकर प्रेमी कहता है कि उस स्त्री को और मुझे मिला दो। उसके और मेरे हृदय को एक कर दो। प्रेयसी को पाने के लिए प्रेमी क्या-क्या करता है इन सबका वर्णन अथर्ववेद में विशेष रूप से किया गया है।

इतना ही नहीं, प्रेम के कारण युवतियों के हृदय में कैसे भाव उत्पन्न होते हैं इसका भी दिग्दर्शन कराया है। एक मंत्र में युवती कहती है कि हे देवताओ! प्रेम भेजो, वह पुरुष मुझ पर मरे, वह मुझे प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखे, मुझसे प्रीति करे, प्रियतम बनकर मुझसे प्रेम करे, वह मेरे लिए पागल हो जाय। हे मरुत्! वह मेरे लिए अवश्य पागल हो जाय। हे अग्नि! वह मुझ पर पागल होकर मुझ पर ही मरे। अन्यत्र एक युवती अपना दृढ़ विश्वास प्रकट करती है कि प्रेमी चाहे जितनी दूर चला जाय किन्तु अन्त में अवश्य लौट आयेगा और उससे विवाह करेगा। इन समस्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि उस समय तक बाल-विवाह का नाम व निशान तक नहीं था और विवाह के योग्य अवस्था प्राप्त करने पर अनेक स्त्री-पुरुष अपनी इच्छा के अनुसार विवाह करते थे। ऋग्वेद आदि में विवाह के बाद ही जो कर्म होता है, वह भी कम अवस्था के बालक-बालिकाओं में सम्भव नहीं है। इतना ही नहीं, कुटुम्ब में भी अनेक स्त्रियाँ अपना बड़ा महत्व और प्रभुत्व रखती थीं तथा अपने पतियों तक को अपने दबाव में रखने के लिए डाँट भी देती थीं। ऋग्वेद में एक जुआरी खेद प्रकट करता है कि मेरी स्त्री मुझको दूर रखती है और उसकी मा मुझसे घृणा करती है।

इस समय साधारणतया कुटुम्ब का जीवन शान्त और मधुर जान पड़ता है किन्तु जो सम्पत्तिशाली व्यक्ति एक से अधिक विवाह कर लेते थे वे कभी-कभी स्वयं बड़ी कठिनाइयों का सामना करते थे तथा अपनी पत्नियों के जीवन को भी मिट्टी में मिला देते थे। उस समय एक पुरुष किस संख्या की सीमा तक विवाह कर सकता था — इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता वैदिक साहित्य के अनेक स्थलों पर राजा की चार स्त्रियाँ हैं। मैत्रायणी संहिता में मनु की दस पत्नियाँ हैं। सौतों के देवासुर संग्रामों का उल्लेख साहित्य में कई आया बार है। एक वनस्पति के द्वारा एक पत्नी अपने पति को एकदम अपने वश में करना चाहती है तथा सौत को मिटा देना चाहती है। वह कहती है—"सौत को उड़ा दो। मेरे स्वामी को केवल मेरा ही बना दो मैं उस सौत का नाम तक नहीं लेती। सौत को दूर से दूर भगा दो।" किसी दूसरे स्थल पर एक पत्नी देवताओं को बलि देती है और सौतों से पीछा छुटाना चाहती है। सौतों का नाश करना चाहती है, उनकी समस्त प्रतिष्ठा नष्ट कर देना चाहती है जिससे कि अकेली वह प्रभुता कर सके। अथर्ववेद में एक पत्नी सौत को शाप देती है-"तेरे कभी संतान न हो, तू बांझ हो जाय।"

उस समय की प्रचलित सामाजिक व्यवस्था के अनुसार एक पुरुष के एक ही समय अनेक पत्नियाँ हो सकती थीं किन्तु भारतीय साहित्य में एक स्त्री के एक ही समय अनेक पति होने का एकमात्र उल्लेख महाभारत में द्रौपदी का है। निस्सन्देह द्रौपदी की समस्या को हल कर सकना सरल कार्य नहीं है किन्तु कुछ अर्वाचीन रचनाओं के बाद इस पर बल देना आवश्यक है कि अनेक पति-प्रथा का नाम व निशान वैदिक साहित्य में कहीं नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण में स्पष्ट कहा गया है कि एक पुरुष अनेक पत्नियाँ रख सकता है किन्तु एक स्त्री एक ही समय अनेक पति नहीं रख सकती। "किन्तु एक स्त्री एक ही समय" इन शब्दों से यह भी प्रकट होता है कि भिन्न-भिन्न समयों पर एक ही स्त्री के कई पति हो सकते थे अर्थात् विधवाओं का विवाह होता था। इसके प्रमाण वैदिक साहित्य में अन्यत्र भी प्राप्त होते हैं। कहा जा चुका है कि ऋग्वेद और अथर्ववेद के जिन मंत्रों में सती का विधान देखा गया है, वे भी यथार्थ में विधवा-विवाह का ही समर्थनकरते हैं। अथर्ववेद में तथा दूसरे स्थानों में दिधुपू शब्द के प्रयोगों से भी ज्ञात

होता है कि विधवा अपने देवर से विवाह करती थी। इसी प्रकार दूसरे मंत्रों से भी पता चलता है कि उस समय विधवा विवाह का प्रचलन अवश्य था। परपूर्वा शब्द से भी स्पष्ट है कि स्त्री दूसरा पति कर सकती थी। पौनर्भव शब्द स्त्री के दूसरे पति से पुत्र का सूचक है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के एक मन्त्र में उर्वशी की कथा है। उसने कुछ प्रतिज्ञाएँ करा कर पुरूरवस से विवाह किया था प्रतिज्ञाओं का पालन न करने पर उसने अपने पति का त्याग कर दिया। पुरूरवस ने उसे प्रसन्न करने के लिए विशेष रूप से प्रार्थना की किन्तु उर्वशी ने उसकी प्रार्थना पर ध्यान तक न दिया। इस कथा से एक ऐसी ध्वनि निकलती है कि कदाचित् किसी समय किसी समुदाय में इसी नियम के अनुसार ही विवाह होता रहा हो।

आगामी युग के धर्मशास्त्रों में पाये जाने वाले स्त्री धन का उल्लेख वैदिक साहित्य में कहीं भी नहीं है। इसका कारण यह हो सकता है कि उस समय तक स्त्रियाँ इतनी अबला नहीं हुई थीं कि धर्म के विधायकों को उनके अधिकारों के संरक्षण की विशेष चिन्ता हो। कुछ भी, हो ऋग्वेद के ही समान अथर्ववेद में भी कन्याओं को पिता की सम्पत्ति का कोई भी भाग नहीं मिलता और उनके पालन-पोषण का भार उनके भाइयों पर पड़ता है। अथर्ववेद में अन्य शापों के साथ-साथ बहिन के शाप का भी वर्णन आया है। उससे जान पड़ता है कि बहिनें पालन-पोषण न करनेवाले भाइयों से अधिक रुष्ट हो जाया करती थीं।

आगामी युगों में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए गोत्रों के जितने निषेध किये गये उतने अभी तक नहीं किये गये थे। इसी समय के लगभग शत-पथ ब्राह्मण की रचना की गई थी। वह तीसरी अथवा चौथी पीढ़ी में विवाह करने की आज्ञा प्रदान करता है। इसके आधार पर टीकाकार हरिस्वामी कहता है कि काण्व तीसरी पीढ़ी में और सौराष्ट्र चौथी पीढ़ी विवाह करने की आज्ञा प्रदान करते हैं, दाक्षिणात्य मामा की कन्या से अथवा फूफा के पुत्र से भी विवाह करना उचित कहते हैं। मौसी की कन्या अथवा चाचा के पुत्र से विवाह करना तो कोई उचित नहीं कहता। गोत्र के भीतर विवाह करना अभी सब वर्गों में पूर्ण रूप से निषिद्ध नहीं माना गया था। विवाह की समस्त प्रथाए प्रायः वैसी ही थीं जैसी कि पहिले कही जा चुकी हैं। कभी-कभी दहेज दिया जाता था और

इसके विपरीत कभी-कभी दामाद ससुर को द्रव्य देता था। सदा की भाँति इस समय में भी विवाह एक महत्वपूर्ण कार्य माना जाता था। इसमें स्वयं देवता आकर भाग लेते थे। जहाँ तक विश्वास किया जा सकता है, कहना पड़ता है कि विवाह से स्त्री का पद गौरव बढ़ जाता था। अथर्ववेद में एक स्थल पर अर्यमन से कहा गया है कि विवाह से पहिले यह कन्या दूसरी स्त्रियों के समाजों में जाती थी और अब विवाह के बाद दूसरी स्त्रियाँ इसके समाज में आयेंगी।

ऋग्वेद के युग में जैसा कुटुम्ब का जीवन था, लगभग वैसा ही उत्तर वैदिक काल में भी था। सम्मिलित परिवार वैसा ही था जैसा कि ऋग्वेद के युग में था अथवा जैसा आगामी युगों में रहा। इस विषय में यूरुप और भारतवर्ष का सामाजिक विकास एक दूसरे के सर्वथा विपरीत हुआ। यूरुप में सम्मिलित परिवार छिन्न-भिन्न हो गया अर्थात् विवाह होते ही पुत्र अपने माता-पिता से पृथक रहने लगा और भाई भी पृथक्-पृथक् रहने लगे। भारतवर्ष में कदाचित् कुटुम्ब का स्नेह विशेष प्रबल था और व्यक्तित्व का भाव कुछ निर्बल था। सम्मिलित परिवार से कदाचित् खेती-बारी में भी सहायता मिलती थी किन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि सम्मिलित परिवार में नित्य मनमुटाव का भय बना रहता है। पारिवारिक कलह से व्याकुल होकर कोई-कोई स्त्रियाँ ससुराल छोड़कर मायके भाग जाती थीं। कदाचित् इसीलिए अथर्ववेद में कुटुम्ब की शान्ति के लिए बड़ी भावुकता के साथ प्रार्थनाएँ की गई हैं सदा की। भाँति कुटुम्ब में सबसे बड़े व्यक्ति का अधिक सम्मान होता था। माता का भी अधिक आदर था। पति और पत्नी जन्म भर के लिए धर्म और लोक के साथी माने जाते थे। कई मन्त्रों में पति-पत्नी के प्रेम का चित्ताकर्षक चित्र खींचा गया है। पत्नी घर की देख-रेख करती थी और सुव्यवस्थित परिवारों में सास, ससुर, देवर, ननद सब उसका प्रभाव मानते थे। भोजन वस्त्र, सम्पत्ति और सन्तान के सुख में परिवार मग्न रहता था। इतना ही नहीं, वह एक ऐसा मंगलमय युग था कि भारतवर्ष का प्रत्येक घर सत्य और धर्म का पवित्र स्थान माना जाता था।

भारतीय संस्कृति के अन्य युगों के समान इस युग में भी आतिथ्य एक बड़ा धर्म माना जाता था। अथर्ववेद में आतिथ्य को यज्ञ के समान कहा गया है तथा आतिथ्य की भिन्न-भिन्न क्रियाओं की तुलना यज्ञ की भिन्न-भिन्न रीतियों से की गई

है। सामाजिक शान्ति व्यवस्था और सहयोग का आदर्श स्पष्ट भाषा में वर्णन किया गया है। अथर्ववेद में इसके लिए अनेक प्रार्थनायें हैं। समस्त वैदिक साहित्य में ऋत अर्थात् सत्य अथवा धर्म पर अधिक बल दिया गया है। देवताओं से अथवा मनुष्यों से जितनी भी प्रतिज्ञाएँ की गई हों उन सबको अवश्य पूरी करनी चाहिए, नहीं तो बड़ा प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। ऋण चुकाना भी अत्यन्त आवश्यक है; न चुकाना बड़ा पाप है जिसके लिए भी अवश्य प्रायश्चित्त करना चाहिए।

निसन्देह उत्तर वैदिक काल में राजनैतिक परिस्थिति पहिले की अपेक्षा अधिक बदल गई थी। फिर भी इस युग में संग्राम अधिक हो रहे थे। अथर्ववेद में युद्ध के लिए बड़ी उत्तेजना दिखाई पड़ती है। किन्तु ज्यों-ज्यों आर्य लोग पूर्व और दक्षिण की ओर फैले और बड़े-बड़े मैदान उनके अधिकार में आये त्यों-त्यों राज्यों के क्षेत्र भी बढ़ते गये। उत्तरी भारतवर्ष में नदियों को पार कर सकना बड़ा सरल है। दूसरी कोई प्राकृतिक रुकावट भी नहीं है। इसीलिए यहाँ बड़े राज्यों की स्थापना स्वाभाविक प्रवृत्ति थी। किन्तु रेल, तार आदि के युग के पहिले कहीं भी बड़े राज्यों के दूरवर्ती प्रदेशों पर शासन करना सरल नहीं था। इसलिए उन समस्त प्रदेशों को अधिक से अधिक स्वाधीनता प्रदान करना भी आवश्यक था। इस प्रकार भारतीय राजनीति में दो प्रतिकूल शक्तियों का संघर्षण निरन्तर होता रहा। एक तो योजक शक्ति थी जो विशाल राज्य की प्रेरणा को उत्तेजित करती थी और दूसरी विभाजक शक्ति थी जो प्रादेशिक स्वाधीनता की प्रेरणा को प्रबल बनाना चाहती थी। इस संघर्षण से एक विचित्र प्रकार के राजनैतिक संगठन की उत्पत्ति हुई। इसमें राज्य तो बड़े-बड़े थे किन्तु राज्य के अन्तर्गत अनेक छोटे-छोटे राज्य थे और कभी-कभी इनके भीतर भी अनेक छोटे राज्य थे। यह एक प्रकार का संघ शासन था। बड़े राज्य को साम्राज्य आदि शब्दों से सम्बोधित करते थे और उसके स्वामी को सम्राट्, अधिराज आदि उपाधियाँ प्राप्त होती थीं। वाजसनेयि संहिता में सभ्राज् शब्द आया है। अनेक ग्रन्थों में अधिराज शब्द का प्रयोग किया गया है। एक राज शब्द जो ऋग्वेद में रूपक के समान आया है उसका प्रयोग अथर्ववेद में राजनैतिक अर्थ में किया गया है।

शुक्ल यजुर्वेद में राजाओं की प्रधानता के लिए देवताओं से अनेक प्रार्थनाएँ

की गई हैं किन्तु काठक संहिता और मैत्रायणी संहिता में स्वाराज्य का भी उल्लेख है। कोई-कोई राज्य बहुत छोटे थे। कहीं-कहीं केवल एक ग्राम पर विजय प्राप्त करने के लिए बड़ी-बड़ी प्रार्थनाएँ की गई हैं। बड़े-बड़े संघ शासन-मूलक साम्राज्यों में छोटे-छोटे शासक अनेक होते थे। ये सब राजा अथवा राजन्य कहे जाते थे और वास्तव में राजनैतिक अधिकार रखने वाले जमींदार थे। इस समय के ग्रन्थों को देखने से ज्ञात होता है कि उत्तरी भारतवर्ष में छोटे-छोटे राजाओं की संख्या सैंकड़ों की नहीं किन्तु हजारों की थी। सम्राट् और आधीन राजाओं के सम्बन्धों का कोई विशेष विवरण नहीं प्राप्त होता। सम्भव है कि युद्ध-नीति और परराज्य-नीति में सम्राट् की आज्ञा सबको माननी पड़ती हो और शेष घरेलू विषयों के लिए वे पूर्ण स्वतन्त्र रहे हों। इसीलिए कभी-कभी सम्राट् और अन्य राजाओं के बीच में विद्वेष भी हो जाता था। अथर्ववेद और तैत्तिरीय संहिता में जिन राजनैतिक उपद्रवों का उल्लेख है, सम्भव है कि वे सब इसी प्रकार के विद्वेषों के कारण होते रहे हों।

इस युग में सम्राट् अथवा राजा प्रायः एक ही वंश-परम्परा के होते थे किन्तु नवीन राजा के आरोहण के लिए जनता की स्वीकृति आवश्यक थी। स्वीकृति के बाद अभिषेक होता था जिसके लिए दूर-दूर से नाना प्रकार के जल मँगाये जाते थे। अभिषेक के कुछ क्षण पहिले राजा उज्ज्वल वस्त्र पहिनकर तथा सिंह के चर्म पर बैठ कर सभी दिशाओं की ओर जाता था यह प्रभुता का एक विशेष लक्षण माना जाता था। इसी प्रकार की और भी अनेक प्रथाएँ प्रचलित थीं। इसके बाद शक्ति, प्रभुता और प्रधानता की प्रार्थना के मन्त्र पढ़ते-पढ़ते पुरोहित जल से अभिषेचन करते थे। अभिषेक के समय प्रायः राजसूय यज्ञ होता था जिसकी विधियाँ बढ़ते-बढ़ते इतनी अधिक होगई थीं कि उनको यथाविधि करने में पूरा एक वर्ष लग जाता था और आगामी युग में तो इससे भी अधिक समय लगने लगा था। राजसूय के समय राजा को मित्र, वरुण आदि देवताओं के नाम से सम्बोधित करते थे। वैदिक मन्त्रों में कहा गया है कि राजा को पृथिवी, पर्वत, आकाश और विश्व के समान तथा वरुण, बृहस्पति, इन्द्र और अग्नि के समान प्रत्येक समय प्रत्येक परिस्थिति में दृढ़ रहना चाहिए।

यद्यपि यह सत्य है कि राजा को प्रायः सभी प्रकार के अधिकार प्राप्त थे

और शक्ति की भी अधिक प्रबलता थी तथापि वह निरंकुश नहीं था और न मन-मानी ही कर सकता था। समाज के धर्म और आदर्शों के अनुसार ही वह शासन कर सकता था। इसके अतिरिक्त जनता की समिति थी जिसे शासन-सम्बन्धी विषयों में अधिक अधिकार प्राप्त था और जो समस्त महत्वपूर्ण विषयों के निर्णय में भाग लेती थी। राजा के लिए आवश्यक था कि समिति को अपने अनुकूल बनाये रखे। अथर्ववेद में राजा प्रार्थना करता है कि प्रजापति की पुत्रियाँ, सभा और समिति मेरे ऊपर कृपा करें। एक मन्त्र में राजा के लिए अनेक प्रकार के अनुग्रहों की प्रार्थना की है। एक अनुग्रह यह भी है कि समिति अनुकूल रहे। इतना ही नहीं अन्य वैदिक वाक्यों से भी समिति पर प्रभाव स्थापित करने की आवश्यकता प्रकट होती है।

अथर्ववेद में इस प्रकार की प्रार्थनाओं के अतिरिक्त अनेक प्रकार के जादू-टोनों का भी उल्लेख है जो समिति को वश में करने के लिए प्रयोग किये जाते थे। यह तो मानी हुई बात है कि प्रत्येक जन-सभा में मत-भेद के कारण कभी-कभी अधिक वैमनस्य हो जाता है और परिणाम स्वरूप अव्यवस्था तक हो जाती है। संभव है कि वैदिक समिति भी इस साधारण दोष से मुक्त न रही हो। ऋग्वेद में समिति की शान्ति, सहयोग और एकता के लिए बड़ी मार्मिक प्रार्थना की गई है। अथर्व-वेद में समिति को नरिष्टा भी कहा गया है। समिति भिन्न-भिन्न प्रकार के विषयों पर विचार करती थी। युद्ध, सन्धि, आय-व्यय और साधारण अभ्युदय—ये समस्त समिति के सम्मुख उपस्थिति किये जाते थे। इन सबके अतिरिक्त समिति थोड़ा-बहुत न्याय का भी काम करती थी। अनुमान किया जाता है कि जमीन, जुआ ऋण दायभाग, चोरी, चोट और हत्या सम्बन्धी अभियोगों का न्याय समिति के द्वारा ही होता था। इसमें सन्देह नहीं कि विशाल राज्यों की स्थापना से समिति को अवश्य ही एक बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा होगा। वास्तव में बात यह थी प्राचीन काल में न तो यूरुप में और न एशिया में राजनैतिक प्रतिनिधित्व का प्रचलन था। जनता को जो अधिकार प्राप्त थे उनका सदुपयोग जनता के एकत्र होने पर ही हो सकना संभव था। छोटे राज्यों में समिति का अधिवेशन हो सकना सुगम था किन्तु विशाल राज्यों में जन-संख्या के कारण और दूरी के कारण हो सकना असंभव था। अतएव ज्यों-ज्यों विशाल राज्य अर्थात् साम्राज्य बनते गये त्यों-त्यों समिति की

प्रथा टूटती गई, साथ ही साथ जनता को भी अपने अधिकारों से हाथ धोना पड़ा।

राज्य सम्बन्धी शासन-व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिये राजा को स्वभावतः अनेक मनुष्यों के सहयोग की आवश्यकता थी। ज्ञात होता है कि राजा के कुछ सम्बन्धी भी शासन-कार्य में योग प्रदान करते थे और राज्य के वीरों या रत्नियों में गिने जाते थे। इनके अतिरिक्त अनेक कर्मचारी थे जिनमें से विशेष महत्व वालों की गणना भी वीरों अथवा रत्नियों में होती थी। पंचविंश ब्राह्मण में आठ वीर गिनाये गये हैं। (१) राजा का भाई (२) राजा का पुत्र (३) राजा का पुरोहित (४) राजा की महिषी (५) सूत (६) ग्रामणी (७) क्षत्र अर्थात् रक्षा करने वाला और (८) संग्रहीतृ अर्थात् कर जमा करने वाला अथवा कोषाध्यक्ष। दूसरे स्थान पर वीरों में राजन्य, सेनानी, भागदुध अर्थात् कर संग्रह करने वाला और अक्षावाय अर्थात् जुए के अध्यक्ष की भी गणना की गई है। इन सबके साथ-साथ मैत्रायणी संहिता में तक्ष अर्थात् बढ़ई रथकार और गोविकर्त अर्थात् शिकारी अथवा पशुओं को मारने वाले वीरों में गिनाये गये हैं। ग्रामों में ग्रामणी राज्य का काम करते थे। वैदिक ग्रन्थों में जिन पूतों अथवा प्रोहितों का उल्लेख है वे सब राज्य की ओर से गुप्तचर अर्थात् जासूस अथवा शान्ति-रक्षक अर्थात् पुलिस का काम करते थे।

न्याय के विषयों में सभा के अतिरिक्त राजा भी कुछ अभियोगों का निर्णय करता था। शुक्ल अजुर्वेद में न्याय को अत्यधिक आवश्यक माना गया है। काठक संहिता में एक राजन्य भी अध्यक्ष के पद से दण्ड का काम कर रहा है। तैत्तिरीय संहिता में और अन्य ग्रन्थों में भी ग्राम्यवादिन् ग्राम का न्यायाधीश जान पड़ता है। वाजसनेयि संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में पुरुषमेध अथवा अश्वमेघ के सम्बन्ध में प्रशिनन् और प्रश्नविवाक का उल्लेख है जो वादी, प्रतिवादी और पंच जान पड़ते हैं कई ग्रन्थों में मध्ययशी शब्द का प्रयोग किया गया है। उसका भी अर्थ पंच ही जान पड़ता है। संभव है कि अनेक प्रकार के जगड़ों का निपटारा पंचायत से ही होता रहा हो। दण्ड के विषय में पंचविंश ब्राह्मण से पता चलता है कि राजद्रोह सर्वापेक्ष भीषण अपराध माना जाता था। उसके लिए पुरोहित तक को प्राण दण्ड दिया जाता था। जुए में हारकर ऋणी हो जाने पर मनुष्य दास बनाया जा सकता था राज्य के कार्यों को सुचारु रूप से चलने के लिए राजा

प्रजा से, विशेषतया सम्पत्ति शाली मनुष्यों से कर लेता था।

वैदिक संस्कृति का अन्तिम युग

अब वैदिक काल का शेष भाग आता है। इसे हम वैदिक काल का तीसरा भाग अथवा वैदिक काल की संस्कृति का अन्तिव युग कह सकते हैं। इस युग में भी अधिक साहित्य रचा गया। भारतीयों की वर्ग-व्यवस्था अथवा वर्ण-व्यवस्था ने ब्राह्मण समुदाय को धर्म और विद्या-व्यसन के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया -। वे प्राचीन काल में ही नहीं किन्तु भारतीय इतिहास के मध्य काल में भी अर्थात् तेरहवीं शताब्दी की मुसलमानी विजय के बाद भी निरन्तर ग्रन्थों की रचना करते रहे।

क्षत्रियों में भी विद्या के अध्ययन की प्रवृत्ति बनी रही और वे भी धार्मिक विचारों में और धार्मिक तथा साधारण साहित्य की रचना में भाग लेते रहे। इन सब के अतिरिक्त कभी-कभी दूसरे मनुष्य भी लिखने-पढ़ने के काम में यश प्राप्त करते थे। कुछ भी हो, भारतवर्ष में असंख्य ग्रन्थ लिखे गये। अनेक नष्ट हो गये किन्तु जो बचे हैं वे पुस्तकालय के पुस्तकालय हैं। वैदिक काल की संस्कृति के अन्तिम युग में ऐतरेय ब्राह्मण का उत्तर भाग रचा गया। इसी समय विशाल शत-पथ ब्राह्मण बना जिसमें अनेक प्रकार के यज्ञों के सूक्ष्म वृत्तान्त हैं जिनसे यज्ञों की परियाटी और प्रचार का पता भली भाँति लग जाता है। किन्तु दूसरे ग्रन्थों से यह भी सिद्ध होता है कि भारतीय मस्तिष्क को केवल यज्ञ के विधानों से ही सन्तोष नहीं था। वह विश्व के रहस्य को, जीवन के अन्तिम रहस्यपूर्ण क्षण को उद्घाटन करने का भी ऐसा घोर प्रयत्न कर रहा था जैसा आज तक संसार में कहीं। हुआ ही नहीं। आरण्यकों में और उपनिषदों में इस प्रतिभामयी विचार-शृंखला का संग्रह अथवा यों कहना चाहिए कि संक्षेप है। यह सत्य है कि आगामी युगों में अनेक उपनिषदों की रचना हुई है किन्तु छान्दोग्य, बृहदारण्यक आदि उपनिषद वैदिक युग में ही बन चुके थे। इस युग में अथवा इसके समीपवर्ती युग में कुछ और भी रचनाएं हुई हैं जो कि अपने समय की सामाजिक-व्यवस्था और राज-नैतिक परिस्थिति पर भी उचित प्रकाश डालती है हैं। शौनक के रचे हुए बृहद्देवता नामक ग्रन्थ से वैदिककालीन देवताओं के सम्बन्ध से अधिक ज्ञान प्राप्त होता है। वैदिक शब्दों की समीक्षा के लिए निरुक्त का अनुशीलन अथवा अध्ययन आज भी आवश्यक समझा जाता है।

तत्वज्ञान की चर्चा ही इस युग की सब से अधिक महत्वपूर्ण बात है। जिस समय समस्त देश में तत्वज्ञान की प्रबल लहरें उठीं उस समय उनमें समस्त विचार-शृंखलाओं की प्राचीन पद्धतियों का समावेश हो गया और फिर वहीं आगामी सिद्धान्तों की उत्पत्ति का मूल आधार बन गईं। इस देश के प्राकृतिक दृश्य, जीवन-निर्वाह की सुगमता, जनता का साधारण रहन-सहन, समाज का मानसिक चरित्र—इन सबों के कारण तत्वज्ञान की ऐसी प्रबलता हुई जैसी कि आज तक किसी दूसरे देश में किसी भी युग में नहीं हुई। असंख्य मनुष्यों ने अपना समस्त जीवन इसी में लगा दिया, असंख्य मनुष्यों ने इस पर अधिक मनन किया और असंख्य मनुष्यों ने इसी को लेकर जीवन के आदर्श को बनाना आरम्भ कर दिया।

विवेचनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने पर तत्वज्ञान के दो मुख्य प्रयोजन स्पष्ट सामने आजाते हैं। पहिले तो स्वाभाविक ज्ञान की तृष्णा को शान्त करना था। संसार, आत्मा, परमात्मा, मन, बुद्धि आदि के सम्बन्ध में एक निश्चयात्मक धारणा को स्थिर करना था। साथ ही साथ जनता की अव्यवस्थित मानसिक परिस्थिति में व्यवस्था लाने के लिए अपनी स्थिर धारणा के आधार पर जन साधारण में उपदेश करना भी था जिससे कि सभी की ज्ञान-पिपासा शान्त होकर अपना एक नवीन दिव्य रूप प्रदर्शित कर सके। दूसरा प्रयोजन मनुष्य को लोक और परलोक का यथार्थ मार्ग बतलाना, कष्ट निवारण कर परम सुख लाभ कराना, आत्मा की उन्नति करना तथा मुक्ति का द्वार खोलना था। इन्हीं दो प्रयोजनों के कारण भारतीय तत्वज्ञान प्रधानतया आध्यात्मिक है, सामाजिक नहीं किन्तु इसमें कट्टरता अथवा संकीर्णता नहीं है। विचारों के लिए पूर्ण रूप से स्वतन्त्रता है और तर्क की विशेष रूप से प्रधानता है। परिणाम यह होता है कि नवीन सिद्धान्त उत्पन्न होते हैं, नवीन और प्राचीन विचारों के संयोग से भिन्न-भिन्न प्रकार की पद्धतियों का विकास होता है। कहने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है कि इस युग में तत्वज्ञान की ऐसी प्रधानता थी कि उसने धर्म पर पूर्ण रूप से अपना अधिकार स्थापित कर लिया और उसका आवश्यक अंग बन गया। भारतवर्ष में धर्म और तत्वज्ञान का ऐसा विचित्र सम्मिश्रण है कि वे पृथक् नहीं किये जा सकते। इसीलिए तत्वज्ञान की अनेक पद्धतियों का आदि स्रोत ईश्वर अथवा दूसरा कोई आप्त स्वीकार कर

लिया गया है और प्रायः समस्त पद्धतियों का सम्बन्ध किसी देवता अथवा ऋषि के नाम से अवश्य है।

यह हम पहिले ही कह चुके हैं कि ऋग्वेद के समय में धार्मिक भाव अधिक प्रबल नहीं था और न तत्वज्ञान की ही विशेष चर्चा थी। यदि कोई चर्चा थी तो केवल इतनी ही कि कहीं-कहीं किसी ऋषि को चिन्ता होने लगती कि संसार क्या है? इसका आधार क्या है? इसका प्रमाण क्या है? कौन जानता है? देवता तो अनेक थे किन्तु आदि देवता कौन था? इस प्रकार के प्रश्नों का परिणाम यह होता है कि एक परमेश्वर का सिद्धान्त उत्पन्न होता है। वैदिक साहित्य को देखने से पता चलता है कि उस युग में प्रत्येक देवता को ही परमेश्वर मान लिया गया था। हम यह भी कह चुके हैं कि उसी युग में ऋत का भी सिद्धान्त निकाला गया था। ईश्वर और ऋत के ही विचारों पर आगामी युग का तत्वज्ञान स्थिर है। पिछली संहिताओं और ब्राह्मणों के युग में वेद स्वतः प्रमाण माने गये और उनके वाक्यों को तत्वज्ञानियों ने अपने-अपने अर्थ में प्रयोग करना आरम्भ कर दिया। यज्ञ और कर्म की प्रधानता के इस युग में मनुष्यों का जीवन कर्त्तव्यों का एक चक्र मान लिया गया। नित्य पालन किये जाने वाले कर्तव्यों की शृंखला में देवता, ऋषि, पितृ मनुष्य और समस्त प्राणी बाँध दिये गये। यज्ञ में ही कर्तव्य के एक बहुत बड़े भाग का समावेश होना स्वीकार कर लिया गया था। ब्राह्मण ग्रन्थों में बार-बार यही कहा गया है कि जो मनुष्य भलीभाँति यज्ञ करता है वह स्वर्ग में देवताओं के साथ मिलकर अमर हो जाता है।

निःसन्देह तत्वज्ञान की पराकाष्ठा उपनिषदों के समय में ही हुई है। इस समय के तत्वज्ञानियों ने जितने भी सिद्धान्त निकाले उन्हीं सबको लेकर, जैन, बौद्ध आदि धर्मों की स्थापना हुई और शेष भारतीयों में भी अनेक प्रकार के सम्प्रदाय स्थापित हो गये। यह नित्य स्मरण रखना चाहिए कि उपनिषदों में कोई एक विचार-शृंखला अथवा सिद्धान्त नहीं है। उनमें अनेक प्रकार के ऐसे विचार हैं जो कहीं-कहीं परस्पर एक से जान पड़ते हैं और कहीं कहीं परस्पर टकरा भी जाते हैं। उपनिषदों से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि इस समय मनुष्य का मस्तिष्क सत्य की सीमा तक पहुंचने का अथक परिश्रम कर रहा है और अपने उद्देश्य में सफल होने के लिए सभी दिशाओं में तर्क तथा कल्पना के घोड़े दौड़ाने में अधिक तत्पर है।

उपनिषदों की गम्भीर मननशीलता तथा तर्क-प्रधानता से यही निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य के जीवन का मूल तत्व वह आत्मा है जिसका कभी विनाश नहीं होता, जो कदापि मृत्यु को नहीं प्राप्त होता और न जो कभी जरा-ग्रस्त होता है। आत्मा समस्त जड़ पदार्थों से भिन्न है और न उनके किसी प्रकार के सम्मिश्रण से ही कभी उत्पन्न हो सकता है। विश्व में जितने भी आत्मा प्रतीत होते हैं वे समस्त एक ही ब्रह्म के रूपान्तर हैं, और एक ब्रह्म के अंश हैं। चिदानन्द ब्रह्म विराट् है। उसमें समस्त विश्व मिला हुआ है। ब्रह्म अनादि है अनन्त है, अकारण है तथा समय और स्थान से परे है। इस ब्रह्म का पता बतलाने में समस्त ग्रन्थ असमर्थ हैं। आत्मा के प्रकाश से ही इसका पता लगाया जा सकता है। यह निश्चय ध्यान में रखना चाहिये कि ब्रह्म को जानना ही जीवन का परम ध्येय है और ब्रह्म में तल्लीन हो जाना ही मोक्ष है। ब्रह्म स्वयं सिद्ध है। किसी ने उसे नहीं बनाया है। वह आप ही आप बना हुआ है। समस्त संसार और समस्त जीवन ब्रह्म से प्रकट हुआ है। ब्रह्म का विकास ही सृष्टि है। ब्रह्म का व्यक्त होना ही विश्व का निर्माण है। ब्रह्म विश्व में है किन्तु विश्व का नहीं है, वह उससे परे है।

आत्मा में जितने प्रकार की शक्तियाँ हैं उन सबका मूल कारण ब्रह्म है और उन्हीं समस्त शक्तियों को बढ़ाकर ब्रह्म के समीप पहुंचना नीति और सदाचार है। मनुष्य को साधारण भौतिक कामनाओं में जीवन नष्ट न करना चाहिए। साधारण स्वार्थ और इन्द्रियों के सुख में लीन न होना चाहिए। ये सभी नश्वर हैं, क्षणभंगुर हैं अतएव अनादि, अनन्त, सनातन ब्रह्म का चिन्तन करो, ध्यान करो और उसे जानो। जो मनुष्य ब्रह्म को जानता है अथवा इस प्रकार कहना चाहिए कि आत्मा को यथार्थ रूप से पहिचानता है, वह समस्त स्वार्थों को छोड़ देता है और संन्यास ग्रहण कर लेता है। आत्मा को जानने वाला सभी प्रकार के शोकों को पार कर जाता है; इतना ही नहीं, ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म के ही समान हो जाता है।

उपनिषदों में यह भी कहा गया है कि वेदों का अध्ययन करने से अथवा विद्याओं का निरन्तर अभ्यास करने से या ज्ञान की चरम सीमा तक पहुंचने से ही सिद्धि नहीं हो सकती। सदाचार भी होना चाहिए, धर्म का पालन करना चाहिए, हृदय को पवित्र करना चाहिए तथा ब्रह्म का ध्यान करना चाहिए। कहीं-कहीं ऐसा भी कहा गया है कि ज्ञान और आचार एक दूसरे से निरन्तर बँधे हुए हैं। जब

तक आचार ठीक नहीं है, हृदय में शान्ति नहीं है; चित्त में स्थिरता नहीं है तब तक आत्मा का ज्ञान हो सकना सर्वथा असंम्भव है और न आध्यात्मिक सत्य को ही पकड़ा जा सकता है। आश्चर्य की बात तो यह है कि उपनिषदों के अन्य भागों में इसको भी पर्याप्त नहीं माना है। कहा गया है कि केवल सदाचार से ही उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती और न केवल यज्ञ, दान आदि से ही मुक्ति मिल सकती है अतएव परमेश्वर की भक्ति करनी चाहिए अपने को परमेश्वर में तल्लीन कर देना चाहिए तथा निष्कपट भाव से परमेश्वर को आत्म-समर्पण कर देना चाहिए। यह सभी जानते हैं कि अहंकार जीव को प्रत्येक दशा में नीचे गिरा देता है इसीलिए अहंकार को छोड़ कर ब्रह्म की ओर बढ़ना चाहिए। उपनिषदों में कहीं-कहीं ऐसा भी कहा गया है कि जीव आत्मा और ब्रह्म ये तीनों वास्तव में एक ही हैं। मुक्ति लाभ करने पर आत्मा का अन्त नहीं होता। जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में मिल जाती हैं उसी प्रकार आत्माएं भी ब्रह्म में मिल जाती हैं।

अब यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि यदि जीव, आत्मा और ब्रह्म तीनों ही एक हैं अथवा आत्मा चिदानन्द मय ब्रह्म है तो संसार में दुःख और पाप का अस्तित्व क्यों माना गया है अथवा दुःख और पाप क्यों दिखाई पड़ते हैं? इस जटिल प्रश्न के उत्तर में उपनिषद् कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। निस्सन्देह ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मण आदि में कर्म का थोड़ा-सा उल्लेख पाया जाता है किन्तु इसका विशेष वर्णन सर्व प्रथम उपनिषदों में ही मिलता है। कर्म के ही सिद्धान्त के अनुसार देवता, मनुष्य, जन्तु, वनस्पति, सभी की आत्मा कर्म के कठोर नियम के आधीन मान ली गई है। प्रत्येक अभिलाषा आकाँक्षा अथवा क्रिया का प्रभाव-उचित अथवा अनुचित-आत्मा पर पड़ता है। यह प्रभाव एक जीवन तक ही सीमित नहीं है, मृत्यु के बाद भी पुनः कर्म के अनुसार जन्म ग्रहण करना पड़ता है तथा कर्म का फल भोगना पड़ता है। इस दूसरे जीवन के कर्मों का फल तीसरे जीवन में होता है और इसी प्रकार चक्र चलता रहता है। किसी भी जन्म के पहिले असंख्य बार जन्म हो चुके हैं। यह कर्म-संसार-चक्र ब्रह्म में लीन होने तक चलता रहता है। इसलिए जीव को चाहिए कि उत्तम कर्म करे और सर्वापेक्षा श्रेष्ठ कर्म तो यह है कि ब्रह्म को प्राप्त करने का प्रयत्न करे।

उपनिषदों में सर्व प्रथम योग के ही विषय पर अधिक बल दिया गया है।

उनकी धारणा है कि योग की क्रियाओं से चित्त का बहुमुखी वृत्तियों का निरोध है, चंचल मन स्थिर होता है, हृदय पवित्र होता है, आत्मा भौतिक जीवन के ऊपर आसन ग्रहण कर लेता है और ब्रह्म को समझने में विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। कौषीतकि उपनिषद् में कहा गया है कि प्रतर्दन ने संयमन का एक नवीन मार्ग निर्धारित किया था जो अन्तर अग्निहोत्र अर्थात् आभ्यन्तकिर यज्ञ मान लिया गया है। तात्पर्य यह है कि राग, द्वेष, भावना, वृत्ति का दमन पूर्ण रीति से करना चाहिए। प्राण वायु को रोकने से भी चित्त को एकाग्र करने में सहायता मिलती है। ओ३म् ,तद्वनम् , तज्जलान, आदि शब्दों पर चित्त को एकाग्र करना चाहिए। यह निश्चित है कि सांसारिक समस्त विषयों को छोड़ कर केवल एक पदार्थ पर मन को एकाग्र करने से चित्त में स्थिरता आती है। इस प्रकार योग का अभ्यास करते-करते पूर्ण एकाग्रता और पूर्ण स्थिरता प्राप्त होती है। मुण्डक उपनिषद् में एक स्थान पर न्याय का उल्लेख है किन्तु न्याय की सम्पूर्ण पद्धति इस समय तक नहीं बनी थी।

उपनिषदों में सत्य का अनुसंधान किया जा रहा है, विश्व का सम्पूर्ण रहस्य जानने का निरन्तर उद्योग दृष्टिगोचर हो रहा है तथा परमसुख, परमशान्ति और परमपद लाभ करने का सरल मार्ग निश्चित किया जा रहा है। भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार उत्पन्न हो रहे हैं, चारों ओर स्वतंत्रता पूर्वक तर्क-वितर्क किये जा रहे हैं तथा बिना किसी प्रकार के भय के नवीन-नवीन सिद्धान्त प्रकट किये जा रहे हैं। इसी लिए उपनिषदों में अधिक मत-भेद हैं किन्तु अन्त में कुछ बातों पर सब एक मत हो गये हैं। ब्रह्म ही सत्य है, विद्या और योग से वह जाना जा सकता है। विद्या से ही मुक्ति होती है। ब्रह्म-विद्या समस्त पापों का नाश कर देती है। विश्व-व्यापी परमात्मा से उत्पन्न होकर यह जीवात्मा शरीर धारण करता है, अपने कर्मों के अनुसार अपने संसार की रचना करता है तथा एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। इस प्रकार के आवागमन में अनेक प्रकार के दुःखों को सहन करना पड़ता है। इन समस्त दुःखों से तभी छुटकारा मिल सकता है जब कि आत्मा पुनः ब्रह्म में पूर्ण रूप से लीन हो जाय। इसी का नाम मुक्ति है। विद्या और योग से ही यह प्राप्त की जाती है। आवागमन और मोक्ष के जितने भी सिद्धान्त इस युग में निकले वे सब आगे चलकर बौद्धों और जैनियों द्वारा भी अपनाये गये तथा

आज तक भी समस्त भारतीयों को मान्य हैं । ब्रह्म, विद्या और योग के सभी सिद्धान्त किसी न किसी रूप में प्रायः समस्त भारतीय सम्प्रदायों ने भी अंगीकार किये हैं।

कर्म और संसार का सिद्धान्त बड़ा विचित्र है। यह जीवन पर अनेक प्रकार के प्रभाव डालता है और कभी-कभी विपरीत प्रभाव भी डाल देता है। यह सत्य है कि इसने कर्म को ही प्रधान माना है और उत्तम कर्म करने का ही आदेश प्रदान किया है। इसकी घोषणा है कि जो जैसा कर्म करेगा वह वैसा ही फल पायेगा। प्रत्येक प्राणी अपने अपने कर्म के लिए उत्तरदायी है । इसीलिए उपनिषदों का सिद्धान्त विद्या पर भी पूर्ण रूप से बल देता है और सब को ज्ञान प्राप्त करने के लिए विशेष रूप से प्रेरित करता है। इतना सब होते हुए भी आवागमन के सामने इस जीवन की महिमा नष्ट हो जाती है। एक बड़ी लम्बी यात्रा में यह केवल एक पान्थशाला या केवल एक क्षण है। इस संसार का समस्त सुख-वैभव क्षण-भंगुर है, असार। बृहदारण्यक उपनिषद् में क्षुधा, पिपासा, पुत्र की अभिलाषा, सम्पत्ति की कामना आदि की बड़ी निन्दा की गई है और एक मात्र ब्रह्म को ही सब कुछ मान लिया है। साधारण स्वभाव के मनुष्य इन सिद्धान्तों के कारण बड़ी सरलता से बहक सकते थे और संसार का व्यवस्थित जीवन अस्तव्यस्त हो सकता था। समाज की इस उच्छृंखलता को रोकने के लिए ही ऐतरेय आरण्यक, और छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कौषीतकि आदि उपनिषदों में स्पष्ट कहा गया है कि यह विद्या परम गोपनीय है। प्रत्येक मनुष्य से कहने योग्य नहीं है। परम श्रद्धालु शिष्यों और यथार्थ अधिकारी मनुष्यों को ही बतानी चाहिए। किन्तु जिस समय किसी न किसी प्रकार ये समस्त नवीन सिद्धान्त सभी दिशाओं में फैल गये उस समय जीवन के लिए उन्हीं के अनुसार मार्ग निश्चित करना आवश्यक हो गया। इस लोक और परलोक के अभ्युदय को मिलाने से अर्थात् मनुष्य के लौकिक और पारलौकिक हितों को एक साथ संयुक्त करने की अभिलाषा से आश्रमों के सिद्धान्त ने जन्म ग्रहण किया।

यह पहले कहा जा चुका है कि ऋग्वेद के दसवें मण्डल के युग में ही कुछ मुनियों की उत्पत्ति हो चुकी थी। वे सब निरन्तर तप किया करते थे। उपनिषदों के युग में मुनियों की संख्या अधिक बढ़ गई थी। यह भी कहा जा चुका है कि

विद्या का अध्ययन करने की परिपाटी ऋग्वेद के समय में आरम्भ हो गई थी। ज्यों-ज्यों साहित्य और विद्या की उन्नति होती गई त्यों-त्यों पठन-पाठन की रीति भी बढ़ती गई। तैत्तिरीय संहिता का वचन है कि ब्रह्मचारी होकर विद्या का अभ्यास करना ब्राह्मण का कर्त्तव्य है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि नाभानेदिष्ट ब्रह्मचारी होकर अपने गुरु के घर में रहा करता था। छान्दोग्य उपनिषद में बालपन की सीमा सोलह वर्ष तक निश्चित कर दी गई है किन्तु ब्रह्मचर्य का समय इससे भी अधिक होता था। इस प्रकार ब्रह्मचर्य और तपस्या के प्रचार से जीवन की दो अवस्थायें स्पष्ट हो गईं। तीसरी अवस्था गृहस्थ जीवन की थी जो तप आदि की प्रशंसा होते हुए भी नित्य आवश्यक थी। उपनिषदों में मुनि और गृहस्थ का भेद भलीभाँति समझाने का प्रयत्न किया गया है। इसके बाद परमार्थ अवस्था के दो भाग कर दिए गए। उपनिषदों में ही श्रमण और तापसों का भेद कर दिया गया है। दूसरे स्थानों में मुनियों और प्रव्राजिनों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है तथा आत्मा के ज्ञान को यज्ञ और तप से सर्वथा भिन्न कहा गया है। इस प्रकार चार अवस्थाएँ अर्थात् चार आश्रम बना दिए गए जिनका सिद्धान्त सर्व प्रथम उपनिषदों में ही दृष्टिगोचर होता है। ज्ञात होता है कि अनेक दिनों तक तीसरा और चौथा आश्रम एक ही माना जाता था। छान्दोग्य उपनिषद से तो यहाँ तक ध्वनि निकलती है कि मनुष्य चाहे तो ब्रह्मचर्य के बाद जीवन भर गृहस्थ बना रह सकता है किन्तु इसी उपनिषद के दूसरे स्थान में तप को तीसरा आश्रम कहा गया है। इस प्रकार उपनिषदों में जितने भी सिद्धान्त हैं वे सब कुछ-कुछ अनिश्चित-से ही हैं फिर भी अन्त में यही निष्कर्ष निकलता है कि द्विज का जीवन चार भागों में विभक्त हो जाना चाहिए।

अरुणेय उपनिषद्, आश्रम उपनिषद् और संन्यास उपनिषद् में चारों आश्रमों का स्पष्ट वर्णन है। इस प्रकार इस युग में आश्रमों का सिद्धान्त उत्पन्न हुआ जो आगे चलकर सदा के लिये भारतीय शास्त्रों को मान्य हो गया किन्तु फिर भी यह समझ लेना भूल होगी कि आश्रमों के नियमों का पालन सभी मनुष्य करते थे।

ब्रह्मचर्य आश्रम में बालक विद्या का अध्ययन करते थे। इस युग में शिक्षा की चर्चा अधिक बढ़ गई थी। ऋग्वेद में वेद के पाठकों का वर्णन आ चुका है। अथर्ववेद में ब्रह्मचारी के पठन-पाठन की बड़ी महिमा कही गई है। शतपथ ब्राह्मण

में भी कहा गया है कि वेदों के पढ़ने और पढ़ाने से सुख, स्वाधीनता, धन, बुद्धि तथा यश आदि की प्राप्ति होती है। अनेक गुरुओं का वर्णन है जो एक दूसरे के बाद यज्ञों की विद्या को चलाते रहते थे। छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों से ज्ञात होता है कि अनेक ब्राह्मण अपने पुत्रों को घर पर ही पढ़ाते थे किन्तु अनेक बालक गुरुओं के यहाँ जाकर विद्या प्राप्त करते थे। बृहदारण्यक उपनिषद् में कुछ परिषदों का उल्लेख पाया जाता है। वे एक प्रकार के विद्यापीठ थे। वहाँ अनेक विद्यार्थी एकत्र हुआ करते थे। कभी-कभी गुरु बिना किसी रीति के ही पढ़ाना आरम्भ कर देते थे किन्तु शतपथ ब्राह्मण से प्रमाणित है कि साधारणतया विद्याध्ययन के पूर्व अनेक प्रकार की रीतियाँ होती थीं। ब्रह्मचारी के लिए गुरु द्वारा किये गये अनेक प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक था। सन्तोषजनक उत्तर पा जाने के बाद गुरु ब्रह्मचारी को प्रजापति, द्यौः, पृथिवी आदि देवताओं के अधीन कर देता था। श्वेतकेतु आरुणेय बारह वर्ष की आयु में गुरु के यहाँ जाता है और चौबीस वर्ष की आयु तक वेदों का अध्ययन करता है। छान्दोग्य उपनिषद् में नारद और सनत्कुमार की बातों से ज्ञात होता है कि इस समय और भी अनेक विषयों का पठन-पाठन आरम्भ हो गया था। उन समस्त विषयों में इतिहास, पुराण, व्याकरण, पित्र्य, राशी, दैव, निधि, वाकोवाक्य, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, शिक्षा, कल्प, छन्दस्, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या और देवजन-विद्या को ही प्रधान समझना चाहिए। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान का उल्लेख पाया जाता है। अन्य ग्रन्थों में भी इतिहास का उल्लेख है। ज्ञात होता है कि इस युग में अनेक धार्मिक और लौकिक विषयों की शिक्षा दी जाती थी तथा अनेक ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी किन्तु आगे चलकर वे सब बड़े-बड़े ग्रन्थों में मिल गये। वैदिक अध्ययन की सहायता के लिए क्रमशः छः वेदांगों ने स्पष्ट रूप ग्रहण किया। शिक्षा, छन्दस्, व्याकरण, निरुक्त, कल्प और ज्योतिष--यही उन वेदांगों के नाम हैं। विद्यार्थियों की संख्या अधिक थी क्योंकि प्रत्येक कुटुम्ब का प्रत्येक बालक अवश्य विद्याध्ययन करता था।

शतपथ ब्राह्मण से भी पता चलता है कि असंख्य बालकों को विद्याध्ययन की ओर विशेष रुचि थी। छान्दोग्य उपनिषद् में सत्य काम जाबाल जिसके पिता का

पता न था, स्वयं पढ़ने के लिए जाता है। ब्राह्मणों और उपनिषदों में कहा गया है कि इन्द्र, भरद्वाज आदि अनेक वर्षों तक यहाँ तक कि जन्म-जन्मान्तर तक विद्याध्ययन करते हैं। कभी-कभी विद्यार्थी अनेक दूर के स्थानों से चलकर सुप्रसिद्ध गुरुओं के समीप विद्याध्ययन करने आते थे। कुछ शिक्षक भी इधर-उधर भ्रमण किया करते थे। बृहद्देवता का कथन है कि पटन-पाठन से मनुष्य देवताओं के समान हो जाता है।

भारतीय संस्कृति की शिक्षा में ज्ञान से भी अधिक बल चरित्र पर दिया जाता था। ब्रह्मचर्य और संयम सर्वापेक्षा अधिक आवश्यक थे। ब्रह्मचारी गुरु के साथ रहा करते थे और इसीलिए अन्तेवासी भी कहलाते थे। वे गुरु की सेवा करते थे, आज्ञा पालन करते थे, उसके घर-द्वार की रक्षा करते थे और उसके लिए तथा अपने लिए ईंधन, भोजन आदि माँग कर लाते थे। कभी-कभी विद्यार्थी गुरु के साथ इधर-उधर जाया करते थे। शिक्षा समाप्त होने पर गुरु शिष्य को उपदेश देता था कि सर्वदा सत्य बोलना, अपने कर्तव्यों का पालन करना, वेदों का पाठ निरन्तर करना तथा गृहस्थ बनना। किन्तु छान्दोग्य उपनिषद् से ज्ञात होता है कि कोई-कोई नव युवक गृहस्थ आश्रम को अस्वीकार कर सीधे वन की ओर चले जाते थे।

ब्रह्म विद्या के साथ ही साथ तपस्या की भी महिमा बढ़ती ही गई। तैत्तिरीय ब्राह्मण का कथन है कि देवताओं ने तपस्या के द्वारा ही देवत्व पाया था। तैत्तिरीय उपनिषद् में वरुण अपने पुत्र भृगु से कहता है कि तप से ब्रह्म को जानो क्योंकि तप ही ब्रह्म है। मैत्रायणी उपनिषद् में कहा गया है कि तप के बिना ज्ञान नहीं होता और कर्म का भी फल नहीं होता। उपनिषदों में ही सर्व प्रथम श्रमणों का उल्लेख पाया जाता है। अनेक स्थानों पर सांसारिक जीवन की निन्दा की गई हैं। किन्तु इसके ही विपरीत ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि बिना स्नान किये, दाढ़ी बढ़ाये और बकरी का चमड़ा पहिन कर रहने से कुछ भी लाभ नहीं है। साथ ही साथ तपस्या करना भी व्यर्थ है। हे ब्राह्मण! पुत्र की कामना करो।

निस्सन्देह अन्तिम वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था पहिले की अपेक्षा कुछ और कड़ी हो गई थी किन्तु उतनी कड़ी नहीं हुई थी जितनी कि आगामी युगों में होगई थी। भेद-भाव बड़ी शीघ्रता के साथ बढ़ने लगे थे किन्तु कभी भेद भावों का अनादर

भी होने लगता था। शतपथ ब्राह्मण में पुरुष मेध यज्ञ के अवसर पर भिन्न-भिन्न वर्णों के मनुष्य भिन्न-भिन्न देवताओं को दीक्षित किये गये हैं। इतना ही नहीं, उनके लिए पृथक्-पृथक् सम्बोधन बनाये गये हैं और उनके लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के मृतस्मारकों का विधान किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर तो सोमयज्ञ में शूद्र को स्थान दिया गया है किन्तु दूसरे स्थान पर कहा गया है कि दीक्षित पुरुष को शूद्र से बात भी न करनी चाहिए। अनेक बार यह भी कहा गया है कि संसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का है। यहाँ भी शूद्रों को एकदम भुला दिया गया है। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि ब्राह्मणों और क्षत्रियों को मिलकर जनता पर शासन करना चाहिए। श्रोत्रिय और राजा मिलकर धर्म की रक्षा किया करते हैं किन्तु इस समय से लेकर भारतीय स्वतन्त्रता के अन्तिम क्षण तक ब्राह्मण ग्रन्थों में पुरोहित अथवा ब्राह्मण को राजा से भी अधिक बढ़ा देने की प्रवृत्ति देखी गई है। शतपथ ब्राह्मण स्वयं कहता है कि राजा की शक्ति पुरोहित की शक्ति से निकली है। ऐतरेय ब्राह्मण पुरोहित को राजगोप अर्थात् राजा की रक्षा करने वाला कहता है। इसी समय के लगभग ब्राह्मणों ने यह कहना आरम्भ किया कि उनसे कर न लिया जाय। शतपथ ब्राह्मण इसका समर्थन करता है किन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि व्यवहार में ब्राह्मणों के साथ इस प्रकार की कृपा होती थी या नहीं। सर्वप्रथम इसी समय में खान-पान की भी रोक-टोक आरम्भ होती है। ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि जो क्षत्रिय दूसरे वर्ण वालों के साथ भोजन करता है वह उसी वर्ग का हो जाता है।

किन्तु इसके विपरीत वर्ण-व्यवस्था की शिथिलता के भी अनेक उल्लेख इसी समय में प्राप्त होते हैं। शतपथ ब्राह्मण स्वयं यह स्वीकार करता है कि राजा जनक क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गये थे। साधारणतया राजा क्षत्रिय अवश्य होते थे किन्तु यह भी संभव है कि कभी-कभी वर्ण-व्यवस्था के प्रतिकूल अन्य वर्णों के मनुष्य भी होते रहे हों। शतपथ ब्राह्मण में राजा मरुत्त आविक्षित को आयोगव कहा है। आगामी काल के लेखक मनु, कौटल्य और विष्णु के अनुसार आयोगव एक मिश्रित जाति थी। वह क्षत्रिय नहीं थी। इस युग में अन्तर्जातीय विवाह के भी कई उदाहरण मिलते हैं यद्यपि इन सबको हम अनुलोम विवाह ही कह सकते हैं बृहद्देवता में क्षत्रिय रथवीति की कन्या ब्राह्मण श्यावाश्व से विवाह करती है। राजा स्वनय

अपनी कन्या का विवाह अंगिरा वंश के एक युवक से करता है। दीर्घतमस् की माता उषिज् एक दासी है। इस प्रकार के अनुलोम विवाह तो साधारण ही माने गये हैं। समाज के मानसिक और आध्यात्मिक जीवन के दृष्टिकोण से यह भी कहना आवश्यक है कि कम से कम क्षत्रियों में विद्या और तत्वज्ञान का अनुशीलन अधिक हुआ करता था। क्षत्रियों ने बड़े-बड़े सिद्धान्त निकाले। बिना किसी संकोच के के ब्राह्मण लोग क्षत्रिय विद्वानों को अपना गुरु मानते थे और उनसे शिक्षा ग्रहण करते थे ब्राह्मण गार्ग्य बालाकि का गुरु क्षत्रिय राजा अजातशत्रु था। केकय राज अश्वपति प्राचीनशाल तथा दूसरे ब्राह्मणों को शिक्षा देता था। इसी प्रकार के अनेक प्रमाण उपनिषदों में हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में तो यहाँ तक दृढ़तापूर्वक कहा गया है कि ब्रह्म विद्या केवल क्षत्रियों की ही विद्या है। दूसरे स्थानों पर यह मनोरंजक कथन है कि क्षत्रियों की राजनैतिक प्रधानता का कारण यही ब्रह्म विद्या है।

ऊपर कहे गये वर्ण-व्यवस्था की कठोरता और शिथिलता के उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि यह भी परिवर्तन का युग था और परस्पर टकराने वाली शक्तियों का भयानक संघर्षण हो रहा था। फिर भी समस्त बातों पर विचार करने से यही परिणाम निकलता है कि पहले की अपेक्षा कुछ अधिक कठोरता ही हो रही थी। आश्रमों की स्थापना और वर्ण-व्यवस्था के नियमों की कठोरता को छोड़ कर इस युग में विशेष कोई सामाजिक परिवर्तन नहीं हुआ। शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि पत्नी पति के साथ यज्ञ में भाग लिया करती थी। बृहदारण्यक उपनिषद् का कथन है कि पत्नी से ही पुरुष की पूर्णता होती है। उपनिषदों और बृहद्देवता में बहुधा ऋषियों के विवाह करने का भी उल्लेख है। बहुधा देवरों के साथ विधवाओं का विवाह हुआ करता था। शतपथ ब्राह्मण से पता चलता है कि राजा प्रायः चार विवाह करता था।

निरुक्त से पता चलता है कि सपत्नियों (सौतों) में नित्य कलह हुआ करता था और उस कलह के कारण पति को कभी शान्ति नहीं मिलती थी। उसके जीवन का सारा सुख यों ही नष्ट हो जाता था। पुत्र की कामना प्रबल थी। बृहदारण्यक उपनिषद का वचन है कि पुत्र उसे कहना चाहिये जिसके कारण पवित्रता के भावों का संचार हो अर्थात् जीवन को पवित्र करने वाले को ही पुत्र कहना चाहिये।

जिसके पुत्र न हो वह अपनी कन्या को नियुक्त कर सकता था अर्थात् विवाह के बाद उसके पुत्र को श्राद्ध आदि के लिये अपना मान सकता था। किन्तु इससे कन्या के पति के श्राद्ध में बाधा पड़ जाने की अधिक संभावना थी, इसीलिये निरुक्त का कथन है कि जिस कन्या के भाई न हो उसके साथ विवाह न करना चाहिए। गार्गी और मैत्रेयी के समान अनेक स्त्रियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त करती थीं और पुरुषों से ब्रह्मविद्या पर बराबर तर्क किया करती थीं। निरुक्त में स्त्रियों के दायभाग के अधिकार का पहिला उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। इसके विपरीत शतपथ ब्राह्मण कहता है कि पति और पत्नी को पृथक भोजन करना चाहिए। पत्नी को पति के भोजन कर लेने के बाद भोजन करना चाहिए स्त्रियों की बुद्धि बड़ी दुर्बल होती है और वे विद्वान् पुरुषों की अपेक्षा नृत्य-गीत से सम्बन्ध रखने वाले पुरुषों को अधिक प्रिय समझती हैं। यही कारण था कि शतपथ ब्राह्मण जैसे ग्रन्थ स्त्रियों को सच्चरित्र वाली बनाने के लिये अधिक बल दिया करते थे। साधारण नैतिक गुणों में संयम, उदारता, आतिथ्य, नम्रता तथा सत्यता आदि गुण अधिक महत्वपूर्ण माने जाते थे।

इतना ही नहीं, इस युग में राजनैतिक अवस्था में भी थोड़ा-ही परिवर्तन हुआ है। निस्सन्देह इस युग में राज्यों का क्षेत्र अधिक बढ़ गया था और जमींदारी संघ-प्रथा पहिले की अपेक्षा अधिक दृढ़ हो गई थी। ऐतरेय ब्राह्मण में राज्य, साम्राज्य, भौज्य- स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य, माहाराज्य, आधिपत्य और स्वावश्य शब्दों का प्रयोग किया गया है जो भिन्न-भिन्न प्रकार के अधिकारों के और संघ-प्रथा की भिन्न-भिन्न श्रेणियों के द्योतक हैं। यहाँ समुद्र तक विस्तृत राज्य की भी उल्लेख है। इससे पता चलता है कि शक्तिशाली राजा अपना आधिपत्य दूर-दूर तक बढ़ा रहे थे। राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध और ऐन्द्रमहाभिषेक नामक चार महायज्ञ आधिपत्य के सूचक थे। ये चारों महायज्ञ अनेक ब्राह्मणों के द्वारा अनेक दिनों में पूर्ण किये जाते थे और इनमें अनेक प्रकार की प्रथाएँ काम में लाई जाती थीं तथा शक्ति प्रभुता, धर्म आदि की वृद्धि के लिए अनेक मंत्र पढ़े जाते थे। पुनरभिषेक और सर्वमेध में भी अनेक प्रथाएँ थीं जो बड़ी विजय के बाद की जाती थीं। ऐतरेय ब्राह्मण में अभिषेक के समय राजा के शपथ लेने का भी उल्लेख है। उस समय राजा शपथ पूर्वक कहता है कि यदि मैं आप लोगों पर अत्याचार करूँ तो मेरा समस्त पुण्य, मेरा लोक और परलोक तथा मेरी सन्तान सब कुछ खो जाय। दूसरे

स्थान में भी कहा गया है कि शासन से सम्बन्ध रखने वाले समस्त कार्य धर्म के ही अनुसार होने चाहियें क्योंकि धर्म ही वास्तविक शासक है। ऐसी परिस्थिति में न्याय करना राजा का प्रधान कर्तव्य हो गया था। छान्दोग्य उपनिषद् का कथन है कि हत्या, चोरी, व्यभिचार और मद्यपान से बढ़ कर दूसरे कोई अपराध नहीं हो सकते। अपराध का निर्णय करने के लिये अग्नि और तुला (तराजू) आदि की परीक्षाएँ होने लगी थीं। राजा पहिले के ही समान जनता से कर लेता था। समिति का संगठन इस युग में भी था किन्तु राज्य का विस्तार अधिक होने से जनसमूह का एकत्र होना कठिन हो गया था इसलिए समिति का प्रभाव कम होने लगा था।

६—सूत्रकालीन भारतीय संस्कृति

साधारणतया अध्ययन की सुगमता के लिए ही इतिहास में युगों का विभाजन किया जाता है। यह तो मानी हुई बात है कि बड़े-बड़े परिवर्तन किसी एक वर्ष में नहीं हो सकते। वे अनेक वर्षों में, कभी-कभी कई शताब्दियों में होते हैं और किसी एक वर्ष का जीवन आगामी अथवा पूर्ववर्ती वर्ष से अधिक भिन्न नहीं हो सकता। ऐतिहासिक परम्परा का यही एक मुख्य सिद्धान्त है। प्राचीन भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त को अवश्य स्मरण रखना चाहिये। वास्तव में बात यह है कि यहाँ परिवर्तन क्रमशः हुए और प्राचीन काल की अनेक बातें सर्वदा बनी ही रहीं। उदाहरण के लिए इतना ही कहना पर्याप्त है कि वेद, ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषदों का प्रभाव कभी नष्ट नहीं हुआ। फिर भी हम उस समय युग परिवर्तन मान सकते हैं जिस समय संस्कृति के कुछ महत्वपूर्ण अंगों पर नवीन प्रभाव पड़ने लगें और समाज, राजनीति, धर्म, साहित्य अथवा कला में कुछ नवीन लक्षणों का प्रादुर्भाव होने लगे। इस विचार धारा के अनुसार वैदिक काल का अन्त ईसवी पूर्व की सातवीं शताब्दी में अथवा उससे भी पूर्व माना जा सकता है।

इस समय तक जिस धार्मिक साहित्य की रचना हो चुकी थी वह श्रुति के नाम से प्रसिद्ध हो गया। आगामी युग के धार्मिक ग्रन्थ यद्यपि अधिक प्रभावशाली थे तथापि श्रुति के बराबर नहीं माने गये। साहित्य रचना की शैली भी इस युग में बहुत कुछ परिवर्तित हो चुकी थी। उपनिषद् अवश्य बनते रहे किन्तु नवीन वेद अथवा ब्राह्मण नहीं रचा गया। कई अन्य शैलियों की प्रधानता हुई जो पूर्व काल

में थीं तो अवश्य किन्तु अपना अधिक महत्व नहीं रखती थीं। इस युग में अनेक वीर-काव्य रचे गये जो अन्त में रामायण और महाभारत के रूप में जनता के सम्मुख प्रकट हुए। दूसरी ओर अनेक कथाएँ लिखीं गईं जो कुछ संस्करणों के बाद बौद्ध जातक आदि के रूप में दृष्टिगोचर होने लगीं। तीसरी ओर स्मरण की सुगमता के लिए प्राचीन सिद्धान्त अनेक प्रकार की नवीन बातों के साथ अत्यन्त संक्षेप से पूर्वा पर सम्बन्धी सूत्रों में प्रकट किये गये।

यदि इन समस्त ग्रन्थों की रचना का समय ठीक-ठीक ज्ञात हो सकता तो भारतवर्ष का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक इतिहास क्रमपूर्वक समस्त विवरणों के साथ लिखा जा सकता था। किन्तु अभाग्यवश किसी भी रचना का ठीक-ठीक समय नहीं ज्ञात हो रहा है। इसीलिए वैज्ञानिक ऐतिहासिक समालोचना के सिद्धान्तों के अनुसार इन सब का प्रयोग एक साथ नहीं किया जा सकता। एक-एक करके इन समस्त रचनाओं से ऐतिहासिक सामग्री निकालनी चाहिए। समय के विषय में साधारणतया यही कहा जा सकता है कि इस प्रकार के सिद्धान्तों का अथवा संस्थाओं का प्रचार ईसवी पूर्व की सातवीं अथवा छठी शताब्दी से लेकर तीन-चार शताब्दियों तक था। इस विशाल साहित्य पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि समाज में अनेक प्रकार के परिवर्तन हो रहे थे और सब मिलाकर वे इतने महत्वपूर्ण थे कि ईसवी पूर्व की सातवीं या छठी शताब्दी से एक नवीन युग का अभ्युदय होना स्वीकार किया जा सकता है।

पठन -पाठन की सुगमता के कारण समस्त देश में सूत्र-शैली का प्रचार हो गया और प्रायः समस्त विषयों के लिए उसका प्रयोग किया गया। अनेक सूत्र-ग्रंथ तो लुप्त हो गये हैं किन्तु जो शेष रह गये हैं वे भी मात्रा में कम नहीं हैं। धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोण से कल्प सूत्रों का अधिक महत्व है। ये ईसवी पूर्व की लगभग छठी शताब्दी से ईसवी पूर्व की लगभग दूसरी शताब्दी तक रचे गये थे। प्रत्येक कल्पसूत्र किसी न किसी संहिता अथवा ब्राह्मण को प्रधान करके मानता है और इस प्रकार श्रुति को अपना अवलम्बन स्वीकार करता है। ज्ञात होता है कि इस समय प्रधान ऋषियों या गुरुओं के पृथक्-पृथक् चरण चलने लगे थे और प्रत्येक चरण अथवा शाला में सिद्धान्त और कर्मकाण्ड पृथक्-पृथक् लिखे गये।

पिछले सूत्रों में भी प्राचीन सिद्धान्त ही अधिक हैं। स्थूल दृष्टि से वह जीवन जिसकी झलक सूत्रों में है ईसवी पूर्व की छठी शताब्दी से लेकर ईसवी पूर्व की तीसरी शताब्दी तक का माना जा सकता है।

श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र ये ही कल्पसूत्र के तीन भाग हैं। शाँखायन, आश्वलायन, लाट्यायन, कात्यायन, आपस्तम्ब और बौद्धायन आदि अनेक श्रौतसूत्र हैं। इन सब में केवल यज्ञों का विधान है। इनके द्वारा ऐतरेय, शतपथ आदि ब्राह्मणों के यज्ञों को सुलझाया गया है तथा असंख्य नगण्य बातों को व्यवस्थापूर्वक लिखने का प्रयत्न किया गया है। इनसे स्वतः प्रमाणित है कि इस समय धर्म में सामाजिक जीवन में, यहाँ तक कि राजनैतिक जीवन में भी यज्ञों की मात्रा विशेष रूप से बढ़ रही थी। अनेक प्रकार की प्रथाएँ चलने लगी थीं और चारों ओर ब्राह्मणों का प्रभाव बढ़ रहा था। इतिहास के दृष्टिकोण से श्रौतसूत्रों की अपेक्षा गृह्यसूत्र, अधिक महत्व के हैं। पाराशर, पारस्कर, गोभिल, हिरण्यकेशिन्, शाँखायन, बौद्धायन, आपस्तम्ब आदि नामों के गृह्यसूत्रों में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों का वर्णन है। यह नित्य स्मरण रखना चाहिए कि सूत्रग्रन्थों में सिद्धान्त लिखा है, व्यवहार नहीं है किन्तु सिद्धान्तों में व्यवहार की जो झलक दिखाई पड़ती है, उससे स्पष्ट है कि ब्राह्मणों के नियम घर के जीवन को जकड़ रहे थे। प्रथाएँ और पद्धतियाँ अनेक होने लगी थीं तथा दान भी अधिक दिया जाता था।

सिद्धान्त में तो वर्णाश्रम धर्म के नियम अब अटल माने जाते थे और व्यवहार में भी कुछ कठोर होते जाते थे। गौतम, बौद्धायन आपस्तम्ब और वशिष्ठ के धर्म सूत्रों से भी यही निष्कर्ष निकलता है। गृह्यसूत्रों में विशेष रूप से ग्राम्य जीवन का ही उल्लेख हैं, नागरिक जीवन का उल्लेख एक प्रकार है ही नहीं। इनमें तथा धर्मसूत्रों, धर्मशास्त्रों और पुराणों में स्नान तथा शौच के जो नियम हैं उनमें से कुछ तो स्वास्थ्य के आधार पर हैं और कुछ यों ही पवित्रता के आधार पर हैं। गृह्यसूत्रों में जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त पारिवारिक जीवन की समस्त प्रथाएँ लिखी हुई हैं और सब प्रथाओं को पूर्ण करने की पद्धति भी दे दी गई है। भिन्न-भिन्न वर्णों के लिए नामकरण, उपनयन शिक्षा, गुरुचर्या, विवाह आदि के नियम पृथक पृथक हैं।

जिस प्रकार अनेक श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र बने थे उसी प्रकार अनेक धर्मसूत्र भी बने थे किन्तु उनमें से कुछ लुप्त हो गये हैं और कुछ बहुत दिनों के पीछे तैयार किए गये हैं। लुप्त धर्मसूत्रों में एक मानव धर्मसूत्र भी है। संभव है कि लोक-प्रसिद्ध मनुस्मृति नामक ग्रन्थ की रचना उसी के आधार पर की गई हो। शंख के बनाये हुए धर्मसूत्र का पता आज तक नहीं लगा है यद्यपि इधर उधर उसके कुछ अंश देखने को मिल जाते हैं वैखानस धर्मसूत्र और विष्णु तथा हिरण्यकेशिन् के धर्मसूत्र अनेक समय बाद के हैं इसलिए सूत्रकालीन भारतीय संस्कृति से उनका कोई विशेष सम्बन्ध रहता ही नहीं है। शेष रहे चार धर्मसूत्र जो कि गौतम, बौद्धायन, आपस्तम्ब तथा वसिष्ठ के नाम से विख्यात हैं। इन चारों में सबसे अधिक प्राचीन और महत्व पूर्ण गौतम धर्मसूत्र हैं। इनकी रचना उत्तर में की गई थी। उनके पीछे बौद्धायन धमसूत्र की रचना होती है और जिसकी रचना का स्थान दक्षिण माना जाता है। यही कारण है कि उसमें समुद्र तथा सामुद्रिक व्यापार का उल्लेख है। इसका पूर्व भाग उत्तर भाग से प्राचीन है। यथा समय आपस्तम्ब नामक तीसरे धर्मसूत्र की रचना होती है। यह आंध्र प्रान्त में रचा गया था। अन्तिम धर्मसूत्र जो वसिष्ठ का है, उत्तर का बना हुआ-सा जान पड़ता है। देश काल और चरण के भेदों के कारण इन धर्मसूत्रों में अति साधारण बातों में कुछ भिन्नता अवश्य दृष्टिगोचर होती है किन्तु जहाँ तक सिद्धान्त का सम्बन्ध है, सभी का मत एक है। धर्मसूत्रों की तुलना से स्पष्ट हो जाता है कि इस समय समस्त देश में एक ही संस्कृति का अखण्ड राज्य था। एक ही प्रकार के धार्मिक और सामजिक सिद्धान्तों तथा व्यवहारों का प्रचलन था एवं एक ही प्रकार का राजनैतिक संगठन भी था। कहीं भी किसी प्रकार भिन्नता नहीं थी।

गौतम धर्मसूत्र ब्राह्मणों को संकट काल में क्षत्रिय अथवा वैश्य का काम करने की आज्ञा प्रदान करता है और कहता है कि कुछ और धर्माचार्यों ने शूद्र के काम के लिए भी आज्ञा प्रदान की थी। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य भी अपने से नीचे वर्ण वाले मनुष्यों का काम कर सकते हैं। गौतम का भी यही कथन है कि ब्राह्मण अपने लिए दूसरों से खेती, व्यापार अथवा दूसरा धन्धा करा सकता है। सम्भव है कि व्यवहार में ऐसा ही होता रहा हो। वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में गौतम के कुछ और नियम शूद्रों के लिए आवश्यकता से अधिक कठोर हैं। गौतम के अनुसार

शूद्रों को उच्च वर्ण वाले मनुष्यों के जूठे भोजन खाना चाहिए, उनके उतारे हुए वस्त्रों को पहिनना चाहिए, उनके छोड़े हुए छाते, चटाई और जूते काम में लाना चाहिए। यदि शूद्र कभी कहीं वेद सुन ले तो उसके कान में लाख भर देनी चाहिए। यदि शूद्र कभी कहीं वेद के मन्त्र उच्चारण करे तो उसकी जीभ काट लेनी चाहिए। यदि शूद्र कभी वेद के मंत्र कण्ठस्थ करना चाहे तो उसके शरीर के दो भाग कर देने चाहिए। किन्तु इस स्थल पर सन्देह यह होता है कि पुरोहितों द्वारा निर्धारित किये गए ये नियम कभी व्यवहार में आते थे या नहीं। दूसरी ओर गौतम का यह विधान है कि श्रौत्रिय राजदण्ड से सर्वथा मुक्त रहने चाहिए। दूसरे स्थलों पर उसने ब्राह्मणों को राजा की प्रभुता से भी एकदम स्वतन्त्र घोषित कर दिया है। किन्तु मनन करने के पश्चात कहना पड़ता है कि ये सब सिद्धान्त केवल कहने और सुनने के लिए थे। व्यवहार में समस्त ब्राह्मण केवल धर्म, यज्ञ अथवा पठन-पाठन में ही नहीं लगे हुए थे। बौद्धायन से प्रमाणित है कि कुछ ब्राह्मण किसान, गड़रिया, कारीगर, नौकर और नट का काम अवश्य किया करते थे। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ये सब कर से मुक्त थे अथवा राज्याधिकार के बाहर थे। धर्मसूत्रों के ऐसे उल्लेखों से एक और महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि उस समय सिद्धान्तों के अनुसार वर्ण-व्यवस्था के नियम सभी ओर से अधिक कठोर हो रहे थे। व्यवहार में विवाह के सम्बन्ध में भी उन समस्त कठोर नियमों का पालन दृढ़ता के साथ होने लगा था किन्तु उद्योग धन्धों के विषय में उसे जीवन संग्राम के सामने पराजित होना पड़ा। उदर-पोषण के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य, जो व्यवसाय जिस समय पाते थे, वे उस समय उसे तुरंत अपना लेते थे। जब वर्णों की संख्या अधिक बढ़ गई तब वर्ण-व्यवस्था में और भी अधिक शिथिलता आने लगी। परिणाम यह हुआ कि सूत्रकाल से लेकर आज तक व्यवसाय के विषय में वर्ण-व्यवस्था के नियम पूर्ण रूप से कभी व्यवहार में नहीं लाये जा सके। पुरोहितों के कल्पनाजनित अमानवीय सिद्धान्त ज्यों के त्यों धर्मसूत्रों के ग्रन्थों में ही अपना समस्त महत्व प्रदर्शित करते रहे।

यह पहिले कहा जा चुका है कि सूत्रों में अनुलोम विवाह की व्यवस्था है। उस व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक वर्ण के पुरुष को अपने वर्ण की कन्या के साथ विवाह करने के बाद अपने से नीचे वर्ण वालों से क्रमानुसार एक-एक कन्या विवाह

ने की आज्ञा प्रदान कर दी गई है। इस प्रकार के नियम चारों धर्मसूत्रों में ही लिखे हुए हैं और आगामी काल में रचे गये अनेक धर्मशास्त्रों तथा पुराणों में भी दुह-राये गये हैं। साहित्य मे अनुलोम विवाह के अनेक उदाहरण भी पाये जाते हैं किन्तु जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं कि इस प्रकार के विवाह अधिक नहीं हो सकते थे, वही कथन यहाँ भी सत्य समझना चाहिए।

धर्मसूत्रों तथा अन्य समस्त भारतीय ग्रन्थों में कहा गया है कि राजा को अपने आप ही समस्त राजकार्य का संचालन करना चाहिए और यथाविधान वर्णाश्रम धर्म का पालन करना चाहिए। किन्तु गौतम स्वीकार करता है कि देश, जाति और कुटुम्ब के नियम जो धर्म के विरुद्ध न हों राजा को स्थिर रखने चाहिए और किसान व्यापारी, महाजन, कारीगर आदि के अपने लिए बनाये हुए नियमों को भी राज-नियमों के ही समान मानने चाहिए। प्राचीन भारतवर्ष में ग्रामों तथा कुटुम्बों को उद्योग-धन्धे करने वाले मनुष्यों के गणों और श्रेणियों को अधिक स्वतन्त्रता थी।

न्याय के लिये सूत्रकारों ने दीवानी और फ़ौजदारी क़ानून के अनेक नियम दिए हैं तथा साक्षियों के सम्बन्ध में भी अनेक नियमों का उल्लेख किया है किन्तु यह कह सकना कठिन है कि उन सबका पालन कहाँ तक होता था। यदि कुछ कहा जा सकता है तो केवल इतना ही कि इस समय न्याय में वर्ण का कुछ विचार अवश्य किया जाता था। एक ही अपराध के लिए नीचे वर्ण वालों को ऊँचे वर्ण वालों से अधिक कठोर दण्ड दिया जाता था और शूद्रों के साथ विशेष रूप से अधिक कठो-रता का व्यवहार किया जाता था।

गौतम के अतिरिक्त न्याय के सम्बन्ध में आपस्तम्ब से भी यही निष्कर्ष निकलता है। बौद्धायन तो प्राचीन सिद्धान्त के आधार पर कहता है कि क्षत्रिय की हत्या करने पर एक हज़ार गाय और एक बैल देना चाहिए तथा शूद्र को अथवा मोर, कौआ, उल्लू, कुत्ता आदि जीवों को मारने पर दस गाय और एक बैल देना चाहिए किन्तु बौद्धायन में राज्य की ओर से न्यायालय भी हैं। वेद, स्मृति और शिष्टों के चरित्रों का भी शास्त्रीय व्यवस्था के समान ही मान लिया गया है तथा संदेह-निवा-रण के लिए एक-एक वेद के एक-एक पण्डित, एक मीमांसक और अन्य ब्राह्मण विद्वान्--इस प्रकार दस विद्वानों के परिषद् का विधान भी बना दिया गया है और

न्याय में प्रदेश के अन्तर्गत प्रचलित प्रथाओं का अनुसरण करने के लिए भी कहा गया है।

वसिष्ठ इस बात पर अधिक बल देता है कि न्याय करते समय आस पास के मनुष्यों से भी बातें करके सत्य विषय का अनुसन्धान करना चाहिए। आपस्तम्ब का कथन है कि जो मनुष्य अपने खेतों में खेती न करे वह राजा को उन खेतों में उत्पन्न होने वाले अनाज का मूल्य दण्ड स्वरूप प्रदान करे। साथ ही साथ यह भी कहा है कि जो पशु खेती को हानि पहुंचाते हों, किसान उन सब को बन्द कर सकता है। वसिष्ठ ने यह भी विचार प्रकट किया है कि जिस ग्राम के निवासी कर्तव्य हीन ब्राह्मणों को भिक्षा देते हों, उस ग्राम के निवासियों को राजा के द्वारा अवश्य दण्ड मिलना चाहिए। आपस्तम्ब में ग्राम और नगर के अधिकारियों का भी उल्लेख मिलता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि इस समय प्रादेशिक शासन पूर्ण रूप से व्यवस्थित हो गया था।

गौतम का कथन है कि खेतों की उपज का छठा, आठवाँ अथवा दसवाँ भाग कर के रूप में लेना चाहिए। पशु और सोने का पचासवाँ भाग; फल, फूल, मधु, मांस आदि का साठवाँ भाग लेना चाहिए व्यापारियों को अपने व्यापार की एक वस्तु प्रति मास कम मूल्य पर राजा को देनी चाहिए। कारीगरों को एक दिन राजा के लिये काम करना चाहिए। इसके अतिरिक्त जिस माल का कोई अधिकारी नहीं होता था वह भी राजा का ही होता था। गौतम तथा अन्य समस्त भारतीय लेखकों के विचारों के अनुसार कर उस रक्षा का मूल्य है जो राजा प्रजा की नित्य किया करता है। राजा का यह भी कर्तव्य है कि ब्रह्मचारी, ब्राह्मण श्रोत्रिय तथा दीन-हीन व्यक्तियों का पालन करे। बौद्धायन में भूमिकर उपज का छठा भाग बताया गया है और समुद्र से आये हुए माल पर दसवाँ भाग चुंगी के रूप में लेने के लिए कहा गया है। आपस्तम्ब का कथन है कि ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, मुनि, स्त्री बालक, अन्धे, बहरे, बीमार तथा दूसरों के पैर धोने वाले शूद्रों से कर न लेना चाहिए। उसका यह भी कथन है कि जिस सम्पत्ति का कोई अधिकारी नहीं है वह भी राजा की ही हो जानी चाहिए। वसिष्ठ का कहना है कि कारीगरों से मासिक कर लेना चाहिए। नदी, पहाड़, जंगल और सूखी घास के प्रयोग पर कर न लेना चाहिए। जब गुरु अथवा शिष्य-इन दोनों में से कोई भी न रह जाये तब उनकी समस्त सम्पत्ति राजा

के पास आजानी चाहिए। राजा को चाहिए कि नपुंसकों और पागलों का पालन करे। जब वे मर जायँ तब उनका समस्त धन अपने अधिकार में कर ले।

कुछ वेद-विरुद्ध रीतियों को भी आचार के आधार पर आपस्तम्ब प्रामाणिक स्वीकार करता है किन्तु बौद्धायन की सम्मति इसके अनुकूल नहीं है। कुमारिल-भट्ट ने समस्त धर्म सूत्रों और शास्त्रों को समान रूप से प्रामाणिक स्वीकार किया है तथा पुराणों को भी मानने में किसी भी प्रकार का संकोच नहीं किया है। साधारण जीवन के सम्बन्ध में सूत्रों से स्पष्ट होता है कि इस समय नाटक-मण्डलियाँ और नृत्य-गीत से सम्बन्ध रखनेवाले मनुष्यों की टोलियाँ अनेक थी।

७—इतिहास काव्य कालीन संस्कृति

भारतवर्ष के दो बड़े प्रसिद्ध इतिहास काव्य रामायण और महाभारत का रचना काल सूत्र-काल के समीप ही माना जाता है। यों तो ऋग्वेद में ही लौकिक वीर काव्य का संकेत मिलता है और संभव है कि आगे चलकर इसकी धारा पुरोहितों के साहित्य की धारा के साथ-साथ ही चलती रही हो। महाभारत की मूल कथा का बीज तो ब्राह्मण ग्रन्थों में ही दृष्टिगोचर होता है। शाम्बव्यसूत्र और आश्वलायन गृह्यसूत्र में भारत और महाभारत ग्रंथ का नाम पाया जाता है किन्तु कथा का जो आधुनिक रूप है उसका समय ईसवी पूर्व की चौथी शताब्दी से लेकर ईसवी पूर्व की दूसरी शताब्दी तक माना जाता है। ऐसा भी कहा जाता है कि ईसवी पूर्व की दूसरी शताब्दी से लेकर ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी तक के समय में और अनेक कथानक मिला दिये गए तथा धर्म के उपदेश भी जोड़ दिये गए। परिणाम यह हुआ कि उन सब के आधार पर महाभारत पंचमवेद, धर्म शास्त्र मोक्षशास्त्र और अर्थशास्त्र भी कहलाने लगा। कुछ विद्वानों का यह भी कथन है कि एक लाख श्लोकों के वर्तमान ग्रन्थ के कुछ भाग ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी के बाद के हैं और इसकी समाप्ति ईसवी सन् की चौथी शताब्दी में होती है फिर भी इसके मूल रचयिता महर्षि वेदव्यास ही माने जाते हैं।

निस्सन्देह संस्कृत साहित्य में महाभारत एक अद्वितीय ग्रन्थ है। काव्य के ओज, प्रसाद और चमत्कार आदि सभी गुण इसमें अधिकता से मिलते हैं। इसकी समानता काव्य की विशेषता के दृष्टिकोण से केवल रामायण से ही हो सकती है। मध्यदेश के उस समय के जीवन के लिए भी इसका अधिक मूल्य है। भिन्न-

भिन्न समयों पर भिन्न-भिन्न कवियों के द्वारा रचा जाने के कारण महाभारत में विचारों अथवा व्यवहारों की भिन्नता विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है किन्तु इस भिन्नता से ऐतिहासिक उपयोगिता अधिक बढ़ जाती है । महाभारत में अनेक ऐसे उपाख्यान संवाद, गीता आदि जुड़े हुए हैं जिनकी रचना संभवतः मूल कथा के रचना काल के आसपास हुई थी और जो बाद में सम्मिलित किये गये हैं। यह सभी स्वीकार करते हैं कि महाभारत भारतीय धर्म, नीति- सामाजिक सिद्धान्त और कथाओं का विश्वकोष-सा है। इसीलिए कहना पड़ता है कि उसके निर्माता अथवा संकलनकर्ता ने जो यह कहा है कि जो कुछ है वह सब महाभारत से निकला है और जो महाभारत में नहीं है, उसका कहीं भी अस्तित्व नहीं है- सर्वथा सत्य है ।

ऐसा ही कोई भारतीय होगा जिसे महाभारत की मूल कथा न विदित हो। यह सभी जानते हैं कि पाण्डु के पाँच पुत्र युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव ने अपने चचेरे भाई कौरव अर्थात् धृतराष्ट्र के एक सौ पुत्रों से अधिक अनबन, निर्वासन और सन्धि प्रस्तावों के असफल होने पर कुरुक्षेत्र में महायुद्ध किया था तथा भयानक रूप से रक्त पातात्मक युद्ध करने के बाद विजयी हुए थे। महाभारत में यह कथा कुरुवंश की उत्पत्ति से लेकर युद्ध क्षेत्र में मारे गये वीरों की अन्त्येष्टि क्रिया तक तथा विजेताओं के स्वर्गारोहण तक अट्ठारह पर्वों में लिखी गई है। कथा का क्षेत्र प्रधानतया मध्यदेश का पश्चिमी भाग है केन्द्र हस्तिनापुर है किन्तु कौरव अथवा पाण्डवों की ओर से युद्ध करने वाले राजाओं के वर्णन समस्त देश का विवरण आ गया है। महाभारत की कथा में कहाँ तक ऐतिहासिक घटनाएँ हैं और कहाँ तक कवियों की कल्पनाएं हैं यह निश्चयपूर्वक कह सकना सर्वथा असंभव है। हो सकता है कि मूल कथा की स्थूल घटनाओं में ऐतिहासिक सत्य हो और शेष समस्त बातों तथा कथानकों में कवियों का ही चमत्कार हो । इस स्थल पर हमें यह कहना पड़ रहा है कि महाभारत के वर्णन चाहे ऐतिहासिक हों अथवा कल्पित हों किन्तु उनसे उस समय की संस्कृति सम्बन्धी अनेक बातों का ज्ञान अवश्य प्राप्त होता है। भारतीय राजनीति का समस्त क्रमबद्ध विवरण सर्वप्रथम महाभारत में ही मिलता है। उस समय की सामाजिक संस्थाएँ व्यवहार में किस प्रकार की थीं इस बात का पूरा ज्ञान रामायण

और महाभारत से ही होता है। इन समस्त बातों के अतिरिक्त उस समय के मनुष्य तत्वज्ञान के अनुशीलन में कहाँ तक उन्नति कर सके थे इसका भी दिग्दर्शन हो जाता है।

महाभारत में सामाजिक संगठन का सिद्धान्त वर्णव्यवस्था के सिद्धान्तों के ही अनुसार है फिर भी व्यवहार में वर्ण व्यवस्था के नियमों का प्रायः उल्लंघन हुआ करता था। वनपर्व में युधिष्ठिर ने कहा है कि जातियों का सम्मिश्रण इतना अधिक हो गया है कि अब जन्म के स्थान में चरित्र की ही प्रधानता रह गई है। आदि पर्व से भी पता चलता है कि कोई राजा शूद्र की कन्याओं से विवाह करते थे। सभा पर्व में पश्चिमी तट पर शूद्र राजाओं के राज्य करने का भी उल्लेख है। शान्ति पर्व में ब्राह्मणों का पद सर्वापेक्षा श्रेष्ठ मान गया है किन्तु कथा में क्षत्रियों की ही प्रभुता का वर्णन किया गया है। साथ ही साथ ब्राह्मणों की अवहेलना का भी अधिक प्रसंग आया है। शान्ति पव में क्षत्रियों को उपदेश दिया गया है कि वे ब्राह्मणों से मिल जुल कर काम किया करें किन्तु आदि पर्व में उद्योग पर्व में तथा दूसरे स्थानों में ऐसा भी उल्लेख है कि महत्वपूर्ण विषयों में क्षत्रिय ब्राह्मणों की कुछ भी पर्वाह नहीं करते थे। महाभारत में शूद्रों का स्थान व्यवहार में धर्म शास्त्रों की अपेक्षा अधिक सन्तोषजनक है। सभा पर्व में राजा के अभिषेक के समय शूद्रों के भी बुलाये जाने का उल्लेख है। शान्ति पर्व में भी शूद्रों को तीन उच्च राजकीय पद दिये जाने का वर्णन है।

अन्तर्जातीय विवाह के अनेक उदाहरण भी मिलते हैं। जब परशुराम ने समस्त क्षत्रिय पुरुषों की हत्या कर डाली थी तब क्षत्रियों ने ब्राह्मणों के साथ विवाह किया था। एक ब्राह्मण ने निषाद की उस स्त्री से विवाह किया था जिसे वह अधिक प्रेम की दृष्टि से देखा करता था। एक आर्य ने अपनी कन्या का विवाह एक अनार्य राक्षस के साथ करने का वचन दिया था किन्तु जब उसने उस कन्या का विवाह भृगु के साथ कर दिया तब उस राक्षस ने अग्नि देवता की शरण ली। शंतनु एक कन्या से प्रेम करने के कारण बिना वंश का परिचय जाने ही उससे विवाह करता है और धीवर की कन्या से यह वचन देकर वियाह करता है कि उसके पुत्र को ही राज्याधिकार प्राप्त होगा। महाप्रस्थानिक पर्व में युधिष्ठिर के वैश्य स्त्री से उत्पन्न एक चचेरे भाई को राज्य सौंपने का उल्लेख पाया

जाता है। भीम के एक राक्षसी से विवाह करने का भी उल्लेख एक स्थान पर मिलता है। बनपर्व में भी राजा परीक्षित एक कन्या को देखते ही मुग्ध हो जाता है और वंश की परिचय जाने बिना ही उसके साथ विवाह कर लेता है। द्रौपदी के स्वयंवर में अर्जुन को ब्राह्मण समझ लेने पर भी क्षत्रिय राजा द्रुपद उसके साथ अपनी कन्या का विवाह करना सहर्ष स्वीकार करता है।

महाभारत के आनुशासिक पर्व में इस बात का अधिक मत भेद है कि ब्राह्मण को शूद्र कन्या के साथ विवाह करना चाहिए अथवा नहीं। एक स्थान पर इस प्रकार के विवाह की बड़ी निन्दा की गई है किन्तु ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र पत्नियों से उत्पन्न पुत्रों में ब्राह्मण की सम्पत्ति का विभाजन करने के नियमों का वर्णन अवश्य मिलता है साथ ही साथ यह भी कहा गया है कि इन समस्त स्त्रियों में ब्राह्मण स्त्री ही मुख्य है। चारों वर्णों के पारस्परिक विवाह सम्बन्ध से अन्य जातियों की उत्पत्ति कही गई है। इन समस्त कथनों से प्रमाणित है कि अन्तर्जातीय विवाह अवश्य होते थे।

जहाँ तक व्यवसाय का सम्बन्ध है, कहना पड़ता है कि वर्ण-व्यवस्था के नियमों का अधिक उल्लंघन होता था। भीष्म का कथन है कि जो ब्राह्मण न्यायालय में लोगों को बुलाने का काम करते हैं, जो ब्राह्मण वैश्यों और शूद्रों के यहाँ यज्ञ कराते हैं, जो ब्राह्मण समुद्र-यात्रा करते हैं और जो ब्राह्मण द्रव्य लेकर पूजा कराते हैं, वे सभी ब्राह्मण चंडाल के समान हैं। जो ब्राह्मण मंत्री, दूत, वाहक आदि का काम करते हैं वे सब ब्राह्मण क्षत्रियों के समान हैं। जो ब्राह्मण हाथी घोड़े या रथ हाँकते हैं अथवा सेना के पैदल सिपाही हैं वे समस्त ब्राह्मण वैश्यों के समान उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि अनेक ब्राह्मण इन समस्त कामों को भी किया करते थे। स्वयं भीष्म ने आपत्ति काल में क्षत्रिय अथवा वैश्य काम करने की आज्ञा ब्राह्मणों को प्रदान कर दी है। साथ ही साथ यह भी स्वीकार किया है कि कठिनता के समय में वैश्य अथवा शूद्र राजा भी हो सकता है। इन समस्त बातों के अतिरिक्त यह भी मान लिया गया है कि संकट काल में वर्ण व्यवस्था के नियम शिथिल हो सकते हैं।

आनुशासिक पर्व से यह भी सिद्ध होता है कि उन दिनों अनेक ब्राह्मण वैद्य, महाजन, गायक, नर्तक, पहलवान आदि हुआ करते थे। अनेक ब्राह्मण जीव-जन्तुओं

को बेचकर जीवन-निर्वाह करते थे, द्रव्य लेकर जिस किसी के यहाँ पूजा-पाठ कराते थे अथवा विद्या पढ़ाया करते थे। इतना ही नहीं, शूद्र स्त्रियों से विवाह भी कर लेते थे। इसी पर्व में युधिष्ठिर के प्रश्न करने पर भीष्म उत्तर देते हुए बतलाते हैं कि किस प्रकार विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गए थे यद्यपि किसी दूसरे स्थान में यह भी कहा गया है कि ब्राह्मण तो जन्म से ही हो सकता है। शान्तिपर्व में चारों वर्णों की उत्पत्ति उसी प्रकार बताई गई है जिस प्रकार ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में वर्णन किया गया है। यद्यपि शूद्र को यज्ञ करने का निषेध किया गया है तथापि साधारण धर्म का पालन करने की आज्ञा भी दे दीगई है। पाराशर का कथन है कि धर्मका पालन करने वाला शूद्र ब्रह्म के समान है, साक्षात् विष्णु है और समस्त संसार में सब से श्रेष्ठ है। वनपर्व में कहा गया है कि कलिकाल में ब्राह्मण शूद्रों का काम करेंगे, क्षत्रिय यज्ञों का अनुष्ठान करेंगे, शूद्र बिना किसी विघ्न के अधिक से अधिक धनोपार्जन करेंगे और म्लेच्छ राजा पृथिवी का शासन करेंगे। इतना ही नहीं, ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य अपने-अपने वर्णोचित कामों को छोड़ देंगे, शूद्र ब्राह्मणों का अनादर करेंगे और ब्राह्मण शूद्रों का आदर करेंगे।

उपर्युक्त कथनों से यही सिद्ध होता है कि वर्ण-व्यवस्था के नियम व्यवहार में नित्य नहीं माने जाते थे। आनुशासिक पर्व के एक स्थान पर वह स्पष्ट स्वीकार कर लिया गया है कि गुण और कर्म के अनुसार जन्म का वर्ण बदल जाता है। ब्राह्मण शूद्र के स्थान तक गिर सकता है और शूद्र ब्राह्मण की पदवी तक पहुंच सकता है। एक श्लोक में तो यहाँ तक कहा गया है कि न जन्म से कुछ होता है और न यज्ञ से अथवा ज्ञान से ही; वास्तव में चरित्र ही मुख्य वस्तु है। जिस शूद्र का चरित्र उत्तम है वास्तव में वही ब्राह्मण है। शान्तिपर्व में भी यह स्वीकार किया गया है कि गुण और कर्म के ही अनुसार वर्ण होता है।

जो सभी प्रकार का आहार करता हो, जो प्रत्येक कर्म करने को सर्वदा तैयार रहता हो और करने में भी संकोच न करता हो, जो वेदों का अध्ययन न करता और जिसका आचरण पवित्र न हो, सत्य कहा जाय तो वही शूद्र है। जिसमें इस प्रकार के दोष न हों वह शूद्र होने पर भी शूद्र नहीं है और जिसमें ये सब दोष पाये जाते हों वह ब्राह्मण होने पर भी ब्राह्मण नहीं है। इसके विपरीत शान्तिपर्व में यह भी कहा गया है कि शूद्र को नित्य सेवा ही करनी चाहिए और कुछ करने

की आवश्यकता नहीं है। वनपर्व में यह भी कहा गया है कि राक्षस भी धर्मात्मा हो सकते हैं। पहले तो धर्म के सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता राक्षस ही थे। आनुशासिक पर्व में एक ऋषि के द्वारा ब्राह्मण कहे जाने पर ही एक क्षत्रिय राजा वैतहव्य के ब्राह्मण हो जाने का उल्लेख मिलता है। वनपर्व में मांस बेचने वाला एक बहेलिया किसी ब्राह्मण तपस्वी का गुरु बतलाया गया है।

महाभारत का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति का जो वर्णन ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में किया गया है उससे उस समय के विद्वानों को पूर्णरूप से सन्तोष नहीं था, इसीलिए वे स्वयं मनोरंजक धारणाएँ निकालने लगे थे। शान्तिपर्व के एक स्थान पर कहा गया है कि जिस समय ब्रह्मा ने देव, दानव, गन्धर्व, दैत्य, असुर, पिशाच, राक्षस और नाग आदि के साथ मनुष्यों का सृजन किया उस समय चारों वर्ण पृथक् पृथक् रंग के थे अर्थात् श्वेतवर्ण रक्त वर्ण, पीतवर्ण और कृष्ण वर्ण। भरद्वाज ने प्रश्न किया कि यदि रंग के आधार पर ही भेद था तो इसमें सन्देह नहीं कि ये सब जातियाँ परस्पर अवश्य मिल गई होंगी। मनुष्यों के शरीर तो एक समान हैं। ऐसी दशा में फिर भेद किस प्रकार हो सकता है? भृगु ने उत्तर दिया कि वास्तव में कोई भेद नहीं है। पहिले समस्त संसार में केवल ब्राह्मण ही रहा करते थे। कर्मों के कारण उनके भिन्न-भिन्न वर्ण हो गये। चारों वर्णों को समान रूप से धर्म और यज्ञ का अधिकार है।

इसके विरुद्ध आनुशासिक पर्व में कहा गया है कि ब्राह्मण को शूद्र से कदापि भोजन नहीं लेना चाहिए। शूद्र का भोजन समस्त संसार के मल के समान है। समस्त मनुष्यों को अपने 'अपने नियत कर्म का ही पालन करना चाहिए। इसी पर्व में निषिद्ध भोजन ग्रहण करने पर अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त बताये गये है। वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में भगवद्गीता के अन्तर्गत भी दो प्रकार के मत दृष्टिगोचर होते हैं। एक ओर तो अध्याय अट्ठारह में चारों वर्णों के धर्म का वर्णन कर श्रीकृष्ण ने कहा है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने ही धर्म का पालन करना चाहिए। अपने धर्म में मरना उत्तम है क्योंकि दूसरे का धर्म भया वह है। दूसरी ओर वहीं श्रीकृष्ण कहते है कि गुण, कर्म के विभाग से मैंने चातुर्वर्ण्य को उत्पन्न किया है।

भारतीय संस्कृति के सिद्धान्तों में वर्ण-व्यवस्था के साथ आश्रम-व्यवस्था को जोड़कर सम्पूर्ण वर्णाश्रम धर्म की कल्पना की गई है। आश्रम के व्यवहारिक रूप

पर महाभारत कुछ प्रकाश अवश्य डालता है। यों तो महाभारत में अनेक ऋषियों का वर्णन है किन्तु वे संसार से विरुक्त नहीं हैं। वे शिक्षा देने का काम करते हैं, अपने शिष्यों से अनेक प्रकार के काम लेते हैं, उनके स्त्री और पुत्र भी हैं तथा गाय और बैल भी हैं। कभी कभी वे दूसरों के बालको को भी बड़े स्नेह के साथ पालते हैं और उनके विवाह में आनन्दोत्सव मनाते हैं कहीं-कहीं ऐसे ऋषियों का भी उल्लेख मिलता है जो सम्पत्ति के विभाजन में साधारण गृहस्थों के ही समान झगड़े करते थे और कभी-कभी इधर उधर की स्त्रियों पर मुग्ध होकर उनसे विवाह अथवा अनुचित सम्बन्ध कर लेते थे। कोई-कोई नियोग के लिए भी सहमत हो जाते थे। कोई-कोई ऋषि बड़े क्रोधी होते थे। अनेक ऋषि सर्वत्र भ्रमण किया करते थे और राजा, प्रजा सभी को समान रूप से उत्ताम उपदेश दिया करते थे।

महाभारत में अनेक ऐसे परिव्राजकों का उल्लेख है जो वनों के अतिरिक्त ग्रामों और नगरों में भी भ्रमण किया करते थे और उपदेश देते रहते थे। महाभारत के अनेक स्थलों पर संन्यास की अधिक प्रशंसा की गई है किन्तु उसके प्रतिकूल शान्ति पर्व में कहा गया है कि धर्म, अर्थ और काम गृहस्थ आश्रम में ही है। यही समस्त आश्रमों का मूल है, आधार है। इसके बिना न तो ब्रह्मचर्य संभव है और न वान-प्रस्थ ही हो सकता है तथा तथा संन्यास भी असंभव है। यह भी कहा गया है कि गृहस्थ आश्रम में मनुष्य अनेक प्रकार के भोजन, वस्त्र, आभूषण, माला-फूल, सुगंध, नृत्य और गीत का आनन्द विशेष रूप से प्राप्त कर सकता है। आगे चल कर शान्तिपर्व में आश्रमों के साधारण नियमों का भी वर्णन है। प्रवृत्ति और निवृत्ति की व्याख्या की गई है। आनुशासिक पर्व में वानप्रस्थ जीवन का जो चित्र खींचा गया है वह बड़ा ही आकर्षक है। किन्तु सभी मनुष्य वानप्रस्थ को आवश्यक नहीं समझते थे। महाप्रस्थानिक पर्व में पाण्डवों के त्याग को जनता ने अच्छा नहीं कहा है। वनपर्व में भीम का युधिष्ठिर से कथन है कि वन में रहकर तप करना क्षत्रियों का कर्तव्य नहीं है। दूसरे स्थलों में भी भीम, अर्जुन और व्यास युधिष्ठिर को ऐसा ही समझाया है। शान्ति पर्व में यह भी कहा गया है कि संभव है कि मनुष्य वन में भी गृहस्थ ही रह जाय और यह भी संभव है कि संसार में रहते हुए भी संन्यासी के बराबर हो जाय।

जिस प्रकार महाभारत में वर्णाश्रम धर्म के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रकार की

सम्मतियाँ हैं उसी प्रकार स्त्रियों के सामाजिक पद के सम्बन्ध में भी हैं। इतना ही नहीं, व्यवहार में भी भेद दिखाई पड़ते हैं। ज्ञात होता है कि भिन्न-भिन्न समयों और वर्गों में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रथाओं के प्रचलन तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के आदर्श अवश्य थे। आनुशासिक पर्व के कुछ अध्यायों में स्त्रियों के प्रति अधिक कठोर तथा कटु वचनों का प्रयोग किया गया है। कहा गया है कि स्त्री सबसे अधिक पापी है, माया है, अग्नि है, सर्प है, विष है, मिथ्या और छलना है, विचारहीन है, चंचल है, अपवित्र चरित्र वाली है और कृतघ्न हैं। सुक्रतु का कथन है कि स्त्रियाँ किसी भी दशा में स्वतन्त्रता के योग्य नहीं हैं। संभव है कि इस प्रकार भावनाएँ निवृत्ति मार्ग के बढ़ने पर प्रकट हुई हों।

महाभारत के अनेक स्थलों पर स्त्रियों की अधिक प्रशंसा की गई है और उनका पद भी अधिक गौरव शाली दर्शाया गया है। स्त्रियाँ पुरुषों को कर्म तथा वीरता का उपदेश देती हैं। पतियों की कीर्ति और शूरता के मार्ग पर ले जाने का प्रयत्न करती हैं। अकर्मण्यता अथवा दुराचार पर उन्हें विशेष रूप से फटकारती हैं। देवयानी अपने दोषी पति ययाति को छोड़ देती है और अपने पिता के घर चली जाती है। जिस समय राजा नल जुए के नशे में मग्न हो गया था उस समय रानी दमयन्ती ने राजकार्य को सम्हाला, मन्त्रियों की सम्मितियों पर विचार किया और बाल-बच्चों की रक्षा का भी उचित प्रबन्ध किया। संभव है कि उच्चवंश की स्त्रियाँ अधिक बाहर न निकलती रही हों। स्त्री पर्व में विलाप किया गया है कि वे स्त्रियाँ जिन्हें कभी देवताओं ने भी न देखा था, अब साधारण लोगों की दृष्टि के सामने निकल रही हैं किन्तु इसके विरुद्ध वृष्णि और अन्धकों के मेले में स्त्रियाँ भी स्वतन्त्रतापूर्वक घूमती हैं। यहीं से अर्जुन सुभद्रा को लेकर भाग जाता है। आश्रम वास पर्व में धृतराष्ट्र युधिष्ठिर से प्रश्न करते हैं कि तुम्हारे घर में स्त्रियों का उचित आदर सम्मान होता है या नहीं? शान्तिपर्व में कहा गया है कि स्त्री ही घर है। जिस घर में स्त्री नहीं है वह घर नहीं है चाहे उसमें कन्या, पुत्र, नाती, पोते तथा अन्य कुटुम्बी जन क्यों न हों। धर्म, अर्थ और काम में, देश और परदेश में, सुख और दुःख में अर्थात् जीवन के प्रत्येक दृष्टिकोण से देखने पर इस संसार में एक मात्र स्त्री ही साथ दे सकती है। आदि पर्व में शकुन्तला दुष्यन्त से कहती है कि स्त्री धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की मूल है, सबसे बड़ी मित्र है, आनन्द में मित्र है,

उत्सव में पिता के समान है, रुग्न अवस्था में माता के समान है, मृत्यु के बाद भी पति-पत्नी मिलते हैं, इसीलिए विवाह करना आवश्यक माना गया है। क्रुद्ध होने पर भी पुरुष को कभी अपनी स्त्री को असंतुष्ट नहीं करना चाहिए।

इसी प्रकार आनुशासिक पर्व में कहा गया है कि दस आचार्यों से बड़ा उपाध्याय है। दस उपाध्यायों से बड़ा पिता है। दस पिताओं से बड़ी और समस्त संसार से बड़ी माता है। माता से बड़ा कोई नहीं है। बड़ी बहिन को और बड़े भाई की स्त्री को भी माता के ही समान मानना चाहिए। नित्य बड़ों की आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। अनुशासन पर्व में कुछ ऐसे श्लोक हैं जो मनुसंहिता में पाये जाते हैं और जिनका अर्थ यह है कि जहाँ स्त्रियाँ सम्मान प्राप्त करती हैं वहाँ देवता भी आकर निवास करते हैं। जहाँ स्त्रियों की अवहेलना की जाती है वहाँ के समस्त कर्म निष्फल हो जाते हैं। जहाँ स्त्रियाँ नित्य शोक ग्रस्त रहती हैं वहाँ वंश का नाश हो जाता है। स्त्रियों के आदर सम्मान, और पूजन से समस्त कर्म सफल हो जाते हैं। इसके विपरीत यह भी कहा गया है कि स्त्रियाँ स्वतन्त्रता की अधिकारिणी नहीं हैं। पिता, पति और पुत्र को उनकी रक्षा करनी चाहिए। शान्तिपर्व में कहा गया है कि स्त्री को प्रत्येक समय पति की आज्ञाओं का पालन करना चाहिए तथा उसे निरन्तर प्रसन्न रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

महाभारत में विवाह की जो प्रथा दृष्टिगोचर होती है वह स्त्रियों के पद के अनुकूल ही है। विवाह प्रायः बड़ी अवस्था में होता है। माता-पिता की अनुमति प्रायः ली जाती है किन्तु कभी-कभी युवक और युवतियाँ अपने भाग्य का निर्णय आप ही आप कर डालते हैं। शकुन्तला से दुष्यन्त कहता है कि मनुष्य स्वयं अपना मित्र है अतएव तुम अपना विवाह आप ही कर सकती हो। इस प्रकार दोनों ही पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ विवाह-सम्बन्धी बातों पर मनन करते हैं। शकुन्तला सभी दृष्टिकोणों से विचार करती है, सभी प्रकार की ऊँची और नीची बातों को सोचती है। इसके बाद राजा से वचन लेती है फिर अन्त में उसके साथ गांधर्व पद्धति के अनुसार विवाह कर लेती है।

क्षत्रिय कन्याओं का प्रायः स्वयंवर हुआ करता था अर्थात् एकत्रित क्षत्रियों के समुदाय में से वे आप ही आप स्वतन्त्रता पूर्वक अपने पति का निर्वाचन कर लिया करती थीं किन्तु कभी-कभी पिता की ओर से ऐसा नियम लगा दिया जाता था कि

स्वयंवर में कन्या का वह स्वतन्त्र अधिकार छिन जाता था जैसा कि द्रौपदी के स्वयंवर में हुआ था। एक ओर आदि पर्व में कहा गया है कि पति के मरने पर स्त्री का जीवन-धारण करना भी मरने के ही समान है। इस कथन के प्रमाण में इतना ही कहना पर्याप्त है कि माद्री अपने पति पाण्डु के साथ मर जाती है। दूसरी ओर यह भी ज्ञात होता है कि पति के मरने अथवा खो जाने पर स्त्री का दूसरा विवाह हो सकता था। इसके प्रमाण में कहना पड़ता है कि दमयन्ती के दूसरे स्वयंवर की घोषणा से केवल नल को छोड़कर दूसरे किसी को आश्चर्य नहीं हुआ और न किसी ने निन्दा ही की।

महाभारत से यह भी प्रमाणित है कि उस समय में किसी न किसी प्रान्त के अन्तर्गत नियोग की प्रथा भी प्रचलित थी जो कि पति के मरने पर अथवा निकम्मे होने पर काम में लाई जाती थी। आदिपर्व में सत्यवती अपनी पतोहू का नियोग भीष्म से कराती है और स्वतन्त्रतापूर्वक इस विषय पर बातें करती है। आदि पर्व में पाण्डु अपनी पत्नी को स्त्रियों की प्राचीन उच्छृङ्खलता का इतिहास सुनाकर कहता है कि जो स्त्री पति की आज्ञा का पालन करके नियोग नहीं करती वह पापात्मा है। वह नियोग के अनेक उदाहरण देता है देवताओं से नियोग करके कुन्ती ने कई पुत्र लाभ किये। पाण्डु की आज्ञा और कुन्ती की सहायता से माद्री ने भी नियोग किया कभी-कभी बिना आज्ञा के भी नियोग हो जाता था। इस प्रकार के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले पुत्र को प्रसृतज कहते थे।

जहाँ तक कुटुम्ब के जीवन का सम्बन्ध है, कहना पड़ता है कि पहले की अपेक्षा विशेष कोई परिवर्तन नही दिखाई पड़ता पुत्र की लालसा भी पहिले के ही समान प्रबल है। लोगों का विश्वास है कि घर में पुत्र का होना लोक और परलोक दोनों के लिये आवश्यक है। आदिपर्व में पुत्रवती शकुन्तला अपने क्षणिक तिरस्कार से विह्वल और उद्विग्न होकर दुष्यन्त से कहती है कि पुत्र पित्रों का नरक से उद्धार करता है, पुत्र के द्वारा मनुष्य तीनों लोकों में विजय प्राप्त करता है, पौत्र के द्वारा अमर हो जाता है और प्रपौत्र से समस्त पूर्व पुरुष तर जाते हैं। पुत्र स्ववंश बना रहता है, पुत्र से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। एक सौ कुएँ बनवाने की अपेक्षा एक तालाब के बनवाने में अधिक पुण्य है। तालाब के बनवाने की अपेक्षा अधिक पुण्य यज्ञ करने में है। यज्ञ की अपेक्षा अधिक पुण्य पुत्र में है। महाभारत के

आरम्भ में ही यायावर ऋषि का वर्णन मिलता है। वे विरण रस्सी से उलटे लटक रहे हैं और एक गहरे गढ़े में गिरने ही वाले हैं। सहसा उसी मार्ग से जरत्कारु आ जाते हैं। पूछने पर पता चलता है कि वे तो उसी के पूर्वज हैं और उसके तपस्या में लगे रहने के कारण विवाह के द्वारा संतति न उत्पन्न करने से उनकी यह दशा हुई है। उन्होंने कहा कि हे वत्स ! पुत्र उत्पन्न करके हमारा वंश चलाओ। इसीसे हमारे और तुम्हारे-दोनों के लिए ही पुण्य होगा। पिता होने से जो पुण्य होता है वह न धर्म के नियमों का पालन करने से होता है और न वन में जाकर तपस्या करने से ही होता है। संभव है कि वानप्रस्थ और संन्यास के प्रचार के कारण से ही कौटुम्बिक जीवन पर इस प्रकार अधिक बल देना आवश्यक समझा गया हो।

आतिथ्य की जैसी महिमा वैदिक काल में थी वैसी ही महिमा इस समय भी साधारण सामाजिक जीवन में थी। एक स्थान पर कहा गया है कि अतिथि इन्द्र के समान है।। अतिथि को भोजन कराने से ऐसा पुण्य होता है जो कि कभी किसी भी दशा में क्षीण नहीं होता। गृहस्थ के लिए अतिथि से बढ़कर दूसरा कोई देवता नहीं है। अतिथि का आशीर्वाद सौ यज्ञों के पुण्य से भी बढ़कर है। विशेषतया ब्राह्मणों का आदर सत्कार करना सबसे बड़ा पुण्य है। महाभारत के अनेक स्थलों पर श्राद्ध की बड़ी महिमा कही गई है। इस समय मांस भोजन की प्रथा अधिक प्रचलित थी राजा रन्तिदेव के यहाँ प्रतिदिन दो हजार पशु मारे जाते थे और उनका मांस जनता को बाँट दिया जाता था। किसी दूसरे स्थान में संयम पर अधिक बल दिया गया है। आत्म संयम सबसे बड़ा धर्म कहा गया है। एक स्थान पर भी उसने किसी एक ब्राह्मण की बात कही है। वह कहता है कि जब मैंने निर्धनता और प्रभुता को तुलापर चढ़ाकर तौला तब निर्धनता को ही भारी पाया किन्तु दूसरे एक स्थान पर अर्जुन युधिष्ठिर से कहते हैं कि निर्धरता पाप है। धन से ही पुण्य होता है, सुख होता है स्वर्ग होता है और सब कुछ होता है। यह भी कहा गया है कि संसार में जो कुछ है वह सब बलवानों का भोजन ही है। आनुशासिक पर्व में धन की देवी लक्ष्मी कहती है कि मैं संतोषी पुरुष के पास कदापि नहीं रहती।। महाभारत में आनन्द बिहार की परिपाटी के भी अनेक उल्लेख पाये जाते हैं। हरिवंश में कृष्ण, बलदेव और अर्जुन हजारों स्त्री-पुरुषों को लेकर बन

को जाते हैं। मांस, मदिरा, नृत्य, गीत तथा सभी प्रकार के मनोरंजनों से आमोद प्रमोद का आनन्द लाभ करते हैं। महाभारत के समय में भी दासता की प्रथा कुछ न कुछ अवश्य थी। सभापर्व में जुए में जीतने पर कौरव द्रौपदी को दासी समझते हैं और निर्दयता के साथ उसका अपमान करते हैं। वनपर्व में राजकुमारी दमयन्ती के पास सैकड़ों दासियाँ होने का उल्लेख है।

महाभारत के समय में पहिले की अपेक्षा राजनैतिक परिस्थिति अधिक परिवर्तित अवस्था में दृष्टिगोचर होती है। यहाँ सर्व प्रथम भारत अथवा भारतवर्ष शब्द का प्रयोग किया गया है। स्पष्ट है कि इस समय देश की एकता का भाव उत्पन्न हो रहा था। संहिताओं और ब्राह्मणों के साम्राज्य का आदर्श इस समय और भी अधिक बढ़ गया है और सभी ओर समान रूप से दिखाई पड़ता है। सभापर्व में कहा गया है कि राजा तो घर-घर में दिखाई पड़ते हैं किन्तु सम्राट् शब्द कठिनता से मिलता है। जब कोई राजा साम, दाम, दण्ड अथवा भेद से अनेक राजाओं द्वारा अपनी प्रभुता स्वीकार करा लेता था, जब वह दिग्विजय कर लेता था तब वह सम्राट्, अधिराज अथवा ऐसी ही कोई उपाधि करता था, अपना अभिषेक धूम-धाम से करता था और अश्वमेध आदि यज्ञ करता था। राजा लोग प्रायः भीतरी कार्यों में स्वतन्त्र बने रहते थे किन्तु कभी-कभी उनमें और अधिराज में अधिक मनोमालिन्य हो जाता था ' प्रत्येक राजा या अधिराज के आस पास उच्च वंश के क्षत्रिय महारथी रहा करते थे। वे सर्वदा अपने राज या अधिकार के पक्ष को लेकर युद्ध में मरने-मारने को प्रस्तुत रहा करते थे। महाभारत के समय में राजा या अधिराज के चरित्र और कर्तव्य का आदर्श तथा उसका पद गौरव देवता के समान रहा है। राजा का पद प्रायः वंश-परम्परा का था किन्तु नवीन राजा के लिए प्रजा की स्वीकृति आवश्यक थी और कभी कभी ऐसा भी होता था कि यदि राजा कुरूप अथवा चरित्र हीन हुआ तो उसको राज्याधिकार से च्युत कर जनता स्वयं नवीन राजा का निर्वाचन कर लेती थी। इतना ही नहीं यदि कोई महत्व पूर्ण विषय उपस्थिति हो गया तो उस अवसर पर भी जनता बड़ा आन्दोलन करती थी और जनता के द्वारा किये गए उस आन्दोलन का प्रभाव उस समय की राजनीति पर अधिक पड़ता था। यद्यपि राजा का पद सभी दृष्टिकोणों से अधिक ऊँचा था तथापि वह निरंकुश नहीं था। धर्म और अर्थ के विषयों में राजा ही प्रजा का नेता था। वनपर्व तथा

अन्य स्थानों में कहा गया है कि राजा देवता है, इन्द्र है, शुक्र और बृहस्पति है, सभी के लिए मार्ग-प्रदर्शक है और सब का पूजनीय है। शान्तिपर्व में कहा गया है कि जैसा राजा होता है वैसी ही उसकी प्रजा भी होती है।

इसमें सन्देह नहीं कि महाभारत के समय तक सुव्यवस्थित शासन-पद्धति का विकास हो गया था। प्रत्येक राजा के अनेक मन्त्री होते थे। राजमंत्रियों में सेना, न्याय तथा धर्म आदि का प्रबन्ध करने वाले सात मन्त्री प्रधान होते थे। सभापर्व में अट्ठारह अधिकारियों का उल्लेख मिलता है। उनमें युवराज और राजभवन, कारागार, जंगल और सीमाप्रान्त के अधिकारी भी सम्मिलित हैं। शान्तिपर्व में खान, नमक, शुल्क और नदी के तथा सेना के भिन्न-भिन्न अंग हाथी, सवार, पैदल रथों के अधिकारियों का भी उल्लेख पाया जाता है। शान्तिपर्व में यह भी कहा गया है कि मुख्य स्थानों पर राजा को चार ब्राह्मण, तीन क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य तीन शूद्र और एक सूत नियत करना चाहिए। जब राजा राजकार्य के लिए असमर्थ हो जाता था तब मन्त्री रानी से परामर्श करके अथवा स्वयं ही प्रबन्ध करते थे। राजधानी में एक बड़ी सभा भी हुआ करती थी जिसमें जमींदार, पुरोहित, अधिकारी, कवि, दूत और अन्य प्रतिष्ठित पुरुष सम्मिलित हुआ करते थे।

ग्रामाधिपति ग्राम के निवासियों से परामर्श करके ग्राम का प्रबन्ध किया करता था। सभापर्व में नारद ने युधिष्ठिर को समझाते हुए कहा है कि ग्राम में पाँच अधिकारी रखने चाहिए। शान्तिपर्व के अनुसार दस, सौ और हज़ार गाँवों के समूहों पर एक के ऊपर एक अधिकारी होना चाहिए जो अपने से बड़े अधिकारी का आदेश मानकर शासन करे। प्रत्येक नगर का प्रबन्ध एक सर्वार्थचिन्तक के हाथ में होना चाहिए। रक्षा के लिये राज्य की सीमाओं पर और नगरों में सेना रहनी चाहिए। छोटे छोटे राजा, जमींदार, राजकर्मचारी और दूसरे राजाओं के दूतों पर सतर्क दृष्टि रखने के लिये; प्रजा के भाव और विचार जानने के लिए तथा राजद्रोही एवं अन्य अपराधों का पता लगाने के लिये अनेक गुप्तचर नियुक्त किये जाते थे। इन सबके अतिरिक्त राज्य की सेवा में अनेक कारीगर भी होते थे जो राज के कर्म स्थानों (कारखानों) में काम किया करते थे।

महाभारत के समय में भी खेतों की उपज का छठा भाग कर रूप में लिया

जाता था। व्यापार के माल पर और कारीगरों के परिश्रम पर मूल्य के अनुसार कर लगता था। न्यायालय के अर्थ-दण्ड से भी अधिक आय होती थी। कभी-कभी लोगों से प्रीतिदान भी लिये जाते थे। संकट-काल में सम्पन्न व्यक्तियों की सम्पत्ति अधिकार में कर ली जाती थी। शान्तिपर्व की सम्मति के अनुसार ब्राह्मणों से कर लेना चाहिए। करों के बदले राजा को चाहिए कि वह खेती के लिए नई जमीन तैयार करा दे, तालाब बनवाकर सिंचाई का उत्तम प्रबन्ध करा दे, आवश्यकता पड़ने पर किसानों की आर्थिक सहायता करे, मार्ग बनवाकर पौंशाले का उचित प्रबन्ध करा दे, डाकुओं के भय से प्रजा को मुक्त करा दे, राजसूय आदि के अवसरों पर अधिक से अधिक दान दे, प्रजा को धर्म, नीति और विद्या के मार्ग पर चलाये तथा सबके लिए संसार को सुखमय बना दे।

यह कहा जा चुका है कि महाभारत के समय में राजनैतिक जीवन पर प्रजा का प्रभाव अधिक पड़ा करता था किन्तु राज्यों की सीमा बढ़ जाने से तथा जन-संख्या में वृद्धि होने से अधिकांश प्रदेशों में प्राचीन काल की वैदिक समिति का लोप हो गया। कहना तो यों चाहिए कि वैदिक काल के अन्तिम युग से ही उसका ह्रास होने लगता था, उस पर इतिहास काव्य के समय में परिस्थिति उसके और भी प्रति-कूल हो गई थी। परिणाम यह हुआ कि वह तो मिट गई और केवल उसका नाम शेष रह गया।

महाभारत के समय में यह स्वीकार कर लिया गया था कि साम्राज्य बनाना शासक का प्रधान कर्तव्य है जिसके लिये साम, दाम, दण्ड, भेद, सत्य, मिथ्या, बल और दम्भ आदि का प्रयोग किया जा सकता है। शान्तिपर्व आपद्धर्म पर अपने विचार प्रकट करते हुए भीष्मपितामह ने कहा है कि शत्रु की सेना और प्रजा में फूट फैलानी चाहिए। साथ ही साथ शत्रु को लोभ और विश्वास दिलाकर नाश करना चाहिए। किन्तु रणक्षेत्र में क्षत्रिय को कभी उस शत्रु पर आक्रमण न करना चाहिए जो आत्म-समर्पण कर रहा हो, घायल हो गया हो, बन्दी बना लिया गया हो, अस्त्र और शस्त्र से हीन हो गया हो, थक गया हो, सो रहा हो अथवा क्षुधा और तृष्णा से व्याकुल हो रहा हो। राजदूतों को कभी किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचानी चाहिए। बन्द की गईं राजकुमारियाँ यदि विवाह करने के लिए सहमत न हों तो उन्हें लौटा देना चाहिए। राजा को चाहिये कि युद्ध में वीरता दिखाने वाले

सैनिकों का वेतन दुगना कर दे, उत्तम प्रकार के भोजन दे, अच्छे से अच्छे वस्त्र दे तथा उनकी पद-वृद्धि कर दे।

इस समय अधिकांश प्रदेशों का शासन राजत्व की शासन-पद्धति पर अवलम्बित था अर्थात् एक राजा अपने अधिकारियों के सहयोग से राजकार्य का संचालन किया करता था। किन्तु कहीं-कहीं भिन्न प्रकार की शासन-पद्धति के अनुसार शासन होता था। महाभारत के समय में कुछ प्रजातन्त्र हैं जिनको गण कहते थे और जो अपने शासक आप ही चुना करते थे। भीष्म पितामह ने कहा है कि गण के लोगों को परस्पर अधिक मेल रखना चाहिए, प्रतिष्ठित व्यक्तियों को तुरन्त ही फूट का अन्त कर देना चाहिए, शासकों पर विश्वास करना चाहिए, कोष में धन अधिक होना चाहिए और सब से बड़ी बात यह है कि एकता की रक्षा करनी चाहिए।

महाभारत के समय में कुछ श्रेणियाँ भी थीं। उनको सैनिक, व्यापारी अथवा कारीगर अपनी रक्षा के लिये बनाते थे और उनके द्वारा भी अनेक प्रबन्ध के कार्य किये जाते थे। अपने व्यवसाय में आभ्यंतरिक विषयों में, आर्थिक संगठन में और सामाजिक जीवन में ये समस्त श्रेणियाँ प्रायः स्वतन्त्र होती थीं। इस प्रकार की संस्थाओं से आत्मशासन का भाव जीवित रहता था। श्रेणी बनाने की प्रथा का प्रचलन तो पूर्वकाल में ही हो गया था किन्तु उद्योग और व्यापार में वृद्धि होने के कारण महाभारत के समय में यह प्रथा अधिक प्रबल हो गई। उस समय से लेकर अनेक शताब्दियों तक इस प्रकार का आर्थिक आत्मशासन भारतवर्ष में प्रचलित रहा और दिन-प्रतिदिन बढ़ता भी गया।

यह तो मानना ही पड़ेगा कि व्यवसाय श्रेणी की प्रथा एक स्वाभाविक प्रथा है और उसका प्रचलन अनेक युगों और अनेक देशों में रहा है। आजकल तो संसार में उसी की प्रधानता है। समस्त जीवन से आर्थिक समस्या का ऐसा निकटतम सम्बन्ध है कि मनुष्य अपने व्यवसाय के प्रबन्ध को सर्वथा दूसरों पर छोड़ना नहीं चाहता। दूसरी बात यहभी है कि प्रत्येक व्यवसाय के छोटे-छोटे विषयों को वही मनुष्य भली भाँति समझते हैं जो उसमें लगे हुए हैं। उनका निपटारा भी वही कर सकते हैं। तीसरी बात यह है कि संगठन के द्वारा प्रत्येक श्रेणी के व्यवसायी अपने हितों की रक्षा कर सकते हैं। प्राचीन भारतवर्ष की श्रेणियों से ये समस्त प्रयोजन पूर्ण रूप से सिद्ध हो जाते थे।

ऊपर वर्णन किये गये प्रयोजनों के अतिरिक्त श्रेणी-प्रथा का एक और विशेष परिणाम हुआ। भारतवर्ष में व्यवसाय के अनुसार असंख्य उपजातियां बन गई थीं और आज तक निरंतर बनती रही हैं। श्रेणी-प्रथा के प्रचार के बाद व्यवसायिक आत्मशासन एक प्रकार से उपजाति का आत्मशासन भी हो गया। इन छोटे-छोटे क्षेत्रों में आर्थिक आत्मशासन सामाजिक आत्मशासन से मिलकर एक हो गया और जातियों की वे पंचायतें प्रकट हुई जो देश भर में आज भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। यहाँ सीमित क्षेत्र में जनसत्ता का सिद्धान्त प्रचलित था।

महाभारत से जिन आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त होता है वे अधिकता से दूसरे विशाल इतिहास काव्य रामायण में भी दृष्टि-गोचर होती हैं। जो कुछ अन्तर है उसका कारण यही हो सकता है कि महाभारत की रचना तो मध्यप्रदेश के पश्चिमी भाग में हुई और रामायण की पूर्वी भाग में अर्थात् कौशल में अथवा इस प्रकार कहना चाहिए कि वर्तमान अवध के आस-पास इसका केन्द्र है अयोध्या जो प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति के मुख्य स्थानों में थी और आज भी भारतवर्ष के प्रसिद्ध तीर्थ स्थानों में गिनी जाती है। रामायण के रचियता आदि कवि बाल्मीकि कहे जाते हैं किन्तु अनुसन्धान करने वाले विद्वानों की धारणा है कि महाभारत के ही समान इसकी भी रचना धीरे-धीरे अनेक कवियों के द्वारा अनेक समयों पर हुई थी। अनुमान किया जाता है कि इसका रचना-काल मुख्यतः ईसवी पूर्व की पाँचवीं शताब्दी से लेकर ईसवी पूर्व की दूसरी शताब्दी का समय हो सकता है। अन्त में किसी महाकवि ने समस्त रचनाओं को सम्पादित करके एक सुसंगठित इतिहास काव्य का रूप दे दिया होगा।

यद्यपि रामचन्द्र की कथा इतनी लोक-प्रसिद्ध है कि इस स्थल पर उसके संक्षेप की कौन कहे, उल्लेख की भी आवश्यकता नहीं है तथापि एक बात कह देना अत्यन्त आवश्यक है। बाल्मीकि के आधार पर अनेक संस्कृत के कवियों ने और भाषाके कवियों ने पुराण, कथा और नाटक आदि लिखे हैं किन्तु अपनी-अपनी रुचि के अनुसार और अपने-अपने समय के आदर्शों के अनुसार उन्होंने हेर-फेर कर दिए हैं। संस्कृत के अध्यात्मरामायण में और हिन्दी के तुलसीदास कृत रामचरित मानस में जो कथा है वह बाल्मीकि के वर्णन से अनेक अंशों में भिन्न है। इस स्थल पर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि रामचरितमानस के आदर्श ईसवी सन् की

सत्रहवीं शताब्दी के भारतीय समाज के आदर्श हैं और दो हजार वर्ष पूर्व की रामायण के आदर्शों से कुछ न कुछ भिन्न अवश्य हैं।

वर्तमान समय में वाल्मीकि रामायण के जितने भी संस्करण मिलते हैं उनमें श्लोकों की संख्या लगभग चौबीस हजार है और वह सात काण्डों में विभक्त है। कहा जाता है कि सातवाँ काण्ड बहुत दिनों के बाद बना था और प्राचीन काल के लिए कम महत्व का है। रामायण की कथा में जिस लङ्का का उल्लेख है, वह दक्षिण का द्वीप नहीं जान पड़ता। कुछ विद्वानों का मत है कि रावण की लङ्का आसाम में थी और कुछ विद्वानों का मत है कि वर्तमान मध्यप्रदेश में। हो सकता है कि छत्तीसगढ़ के पास रही हो। रामचन्द्र के समुद्र तक पहुंचने और सेतु बांधने की कल्पना बाद की है। रामायण में ब्राह्मणों का प्रभाव महाभारत के समय से भी अधिक है। राजनीति में वही जमीदारी संघ-शासन प्रथा है जो महाभारत में दृष्टिगोचर होती है। चरित्र, ज्ञान, कर्तव्य और प्रजापालन में राजा का आदर्श अधिक ऊँचा है। राज्य के महत्वपूर्ण विषयों में प्रजा की सम्मति ली जाती थी किन्तु नित्य मानी नहीं जाती थी। राज्य के काम के लिए आठ मुख्य मन्त्री थे जिनका पद प्रायः वंश-परम्परा का था और जो राजा के मरने पर अथवा असमर्थ होने पर समस्त प्रबन्ध अपने अधिकार में ले लेते थे। अन्यत्र अयोध्याकाण्ड में अट्ठारह तीर्थों अर्थात् अधिकारियों और अमात्यों की मुख्य, मध्य और जघन्य श्रेणियों का उल्लेख पाया जाता है।

राजधानी दो योजन लम्बी थी। सड़कें सीधी, चौड़ी और सुन्दर थीं जिन पर छिड़काव होता था और जिनके किनारे फूलों के पौधे लगे रहते थे। राजभवन और अन्य अट्टालिकाएँ रत्नों से चमकती थीं और आकाश का चुम्बन करती थीं। नगर के चारों ओर दुर्ग और खाइयाँ थीं। रामायण में अयोध्या का जो चित्र खींचा गया है वह बड़ी शान्ति, सुख और वैभव का है। यहाँ भी व्यवसायियों की श्रेणियाँ दिखाई पड़ती हैं। अयोध्याकाण्ड में सीता राम से पूछती हैं कि श्रेणियों के मुखिया जो तुम्हारी सेवा में आने वाले थे, कहाँ हैं? राजा लोग कला और गीत की वृद्धि के लिए सहायता दिया करते थे। राजा का कर्तव्य था कि किसानों और ग्वालों पर विशेष अनुग्रह किया करें; सब को अपने-अपने धर्म के कर्मों में लगायें; गुरु, वृद्ध, मुनि, अतिथि आदि का सम्मान करें, जहाँ राजा नहीं है वहाँ न धर्म है, न सुख

है, न कुटुम्ब है, और न विवाह है। राजा ही सत्य है, राजा ही नीति है यहाँ तक कि माता, पिता सब कुछ राजा ही है।

रामायण में ब्राह्मणों की बड़ी महिमा है। बालकाण्ड में कहा गया है कि क्षत्रियों की शक्ति अधिक नहीं है। ब्राह्मणों की शक्ति उनसे कहीं अधिक है और अलौकिक है। राजा दशरथ ने च्यवन को धोखे से हाथी समझकर तीर मार दिया। जब वह घायल हो गया तब उसे ब्राह्मण समझकर बड़ा विलाप करने लगे। मरने वाले ने सान्त्वना दी कि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ। मैं तो शूद्र स्त्री से वैश्य का पुत्र हूँ। तब कहीं जाकर राजा दशरथ का शोक दूर होता है। च्यवन के इस कथन से इस बात का भी पता चलता है कि उस समय अन्तर्जातीय विवाह होता था। रामायण में जितने भी तपस्वियों का उल्लेख मिलता है वे सभी राजाओं की सभाओं में जाते हैं और उपदेश देते हैं। कोई-कोई तपस्वी तो बड़े ही रसिक थे। आरण्यकाण्ड में एक ऐसे तपस्वी का उल्लेख मिलता है जो पाँच अप्सराओं की सुन्दरता पर मुग्ध होकर गीत सुनता हुआ उनके साथ कल्लोल करता है। विश्वामित्र जो अपने समय के प्रसिद्ध तपस्वी थे वे भी दस वर्ष तक मेनका के साथ विहार करते हुए सांसारिक आनन्द का उपभोग करते हैं।

साधारणतया समस्त रामायण में ऋषियों के परिवार हैं। यद्यपि उत्तरकाण्ड कुछ समय पीछे का है तथापि उससे यह ज्ञात होता है कि कुछ ऐसी स्त्रियाँ थीं जो कठोर तपस्या किया करती थीं। राजकुमारियों का प्रायः स्वयंवर हुआ करता था किन्तु कभी-कभी उनके पिता ऐसी विकट प्रतिज्ञा कर बैठते थे कि उनको अपने लिए पति निर्वाचन की कुछ भी स्वतन्त्रता न रह जाती थी। साधारण मनुष्यों को कभी-कभी कन्याओं के लिए योग्य वर न मिलने से कन्या घोर संकट का कारण जान पड़ती थी। स्त्रियाँ बाहर आती-जाती थीं। सूर्पणखाँ राम और लक्ष्मण से स्वतन्त्रतापूर्वक सभी प्रकार की बातें करती है। स्त्री का धर्म था कि पति की सेवा करे। अयोध्याकाण्ड में दशरथ कैकेयी से कहते हैं कि कौशल्या माँ, बहिन, पत्नी, मित्र और दासी के समान मेरी सेवा करती है। राम की सेवा के लिए सीता वन को जाती हैं।

किन्तु बहु विवाह के कारण राजघरानों में अनेक प्रकार के कष्ट उपस्थित हुआ

करते थे। अयोध्याकाण्ड में कैकेयी को समझाते हुए मंथरा कहती है कि यदि राम को युवराज बना दिया गया तो तुम शीघ्र ही कौशल्या की दासी बना दी जाओगी, भरत राम के दास हो जायँगे और तुम्हारी पतोहू नित्य सताई जायगी। युवराज का पद प्राप्त करते ही राम भरत को कहीं दूर प्रवास में अथवा दूसरे ही लोक में भेज देंगे। कैकेयी ने राम को चौदह वर्ष का बनवास दिला दिया। कौशल्या राम से रोकर कहती हैं कि स्वामी ने अनादर करके मेरा अपमान किया, स्वामी के प्रेम का सुख मैंने न जाना; सौतें अब मेरी अवहेलना नित्य करेंगी; मैं कैकेयी की दासियों के समान हो गई, सत्य तो यह है कि उनसे भी नीची हो गई। इन सौतों के साथ मैं अब क्षण भर भी न रह सकूँगी यदि तुम पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर वन जाते हो तो मुझे भी अपने ही साथ लेते चलो।

राजा दशरथ की मृत्यु हो जाने के बाद कौशल्या कैकेयी को कोसती है और भरत भी उसे फटकारते हैं। राम के बन जाने का समाचार सुनकर लक्ष्मण को बड़ा क्रोध होता है। क्रोध के आवेश में उन्होंने पिता को बूढ़ास्त्रैण कह डाला है और उन्हें मार डालने का प्रस्ताव तक रख दिया है। इतना ही नहीं आगे चलकर सन्देह होने के कारण लक्ष्मण भरत को, कैकेयी और उसके मित्रों को मार डालने का विचार करते हैं। किन्तु इन समस्त उलझनों में राम का यही कथन रहा है कि पुत्र को पिता और पत्नी को पति का आदेश सहर्ष शिरोधार्य करना चाहिए और बहू को सास, ससुर की सेवा करनी चाहिए। सीता का कथन है कि स्त्री का सहारा न तो माता-पिता से है, न पुत्र-मित्र से है और न अपने से है। स्त्री का सहारा तो एक मात्र पति ही है इस लोक में और परलोक में भी। माता-पिता ने मुझे यहीं शिक्षा दी थी कि जीवन की प्रत्येक अवस्था में पति के ही साथ रहना।

विवाह के अवसर पर दशरथ की कन्या शान्ता को रानियाँ उपदेश देती हैं कि पति, ससुर और गुरुजनों का आदर करना। पति ही स्त्री का देवता है। निस्सन्देह रामायण में व्यक्तिगत चरित्र का आदर्श अधिक ऊँचा है। प्रारम्भ में ही नारद और बाल्मीकि के सम्वाद में और फिर अयोध्याकाण्ड में राम को कोमलता, शान्ति, दया, शूरता, कृतज्ञता आदि समस्त सद्गुणों का भण्डार कहा है। कुटुम्ब में पुत्र की लालसा पहिले के ही समान प्रबल है। पुत्र लाभ करने के लिए दशरथ बड़े यज्ञ करते हैं। महाभारत के समान रामायण में भी आतिथ्य को महत्वपूर्ण

स्थान दिया गया है । आरण्यकाण्ड में ब्राह्मण भेषधारी रावण के आने पर सीता अपने मन में विचार करती हैं कि यह मेरा अतिथि होकर आया है, यदि इससे न बोलूँगी अथवा इसका उचित स्वागत न करूँगी तो यह शाप देगा ।

रामायण और महाभारत में जितने भी धार्मिक सिद्धान्त हैं, साधारणतय वे सभी वैदिक धर्म के हैं । हाँ, यह बात अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी कि इन दोनों विशाल इतिहास काव्यों में कुछ नवीन देवी-देवताओं की पूजा पर बल दिया गया है । भीष्म पर्व में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि युद्ध के पूर्व दुर्गा की पूजा करो दुर्गा पूजा उस शक्ति पूजा का आदि रूप है जो आगे चलकर अधिक प्रचलित हुई और शक्ति सम्प्रदाय का मुख्य सिद्धान्त हुई । शिव की पूजा भी महाभारत में है और उसके आधार पर पाशुपत सम्प्रदाय का विधान है । कुछ भागों में कृष्ण को विष्णु अथवा परमेश्वर का अवतार माना गया है तथा अवतारों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है । अवतारों के साथ ही साथ भक्तिमार्ग प्रबल हो गया और कृष्ण की भक्ति विशेष रूप से मोक्ष का साधन मान ली गई । बार-बार कहा गया है कि संसार में सुख और दुःख दोनों ही सर्वत्र मिले हुए-से दिखाई पड़ते हैं और ये दोनों ही अनित्य हैं । धर्म से ही स्थायी सुख प्राप्त होता है तथा मोक्ष की भी प्राप्ति होती है । कर्म का बन्धन जीव को बाँधे हुए है । जब इस बन्धन से मुक्ति मिलेगी तभी अक्षय सुख की भी प्राप्ति होगी ।

विद्वानों की धारणा है कि इस युग में जो नवीन धार्मिक भाव उत्पन्न हुआ उसका सर्व श्रेष्ठ रूप भगवद्गीता में है । यह भगवद्गीता महाभारत का ही एक विशेष अंश है जिसकी रचना का समय उपनिषदों के बाद का माना जाता है । भगवद्गीता में उपनिषदों के कुछ सिद्धान्तों को भावुक जन-समुदाय के अनुकूल बनाकर भक्ति से मिला दिया गया है । जिस समय धर्म क्षेत्र कुरुक्षेत्र में कौरव और पाण्डवों की सेना युद्ध के लिए पहुँच जाती है और अपने अपने पक्ष की विजय के लिए प्रयत्नशील होती है उस समय कृष्ण अर्जुन के रथ को हाँककर युद्ध के क्षेत्र में ले जाते हैं और अर्जुन के कहने पर दोनों सेनाओं के बीच में रथ को खड़ा कर देते हैं । अपने समस्त कुटुम्बियों और सम्बन्धियों को सभी दिशाओं में युद्ध के लिए सुसज्जित खड़े देखकर अर्जुन के हृदय में दयापूर्ण करुण भावना उत्पन्न होती है और युद्ध के लिए उसका उत्साह और साहस नष्ट हो

जाता है तथा उसका गाण्डीव धनुष भी हाथ से उसी समय गिर पड़ता है । ऐसे ही विषम संकट काल में अर्जुन को पुनः कर्तव्य मार्ग पर पूर्ण उत्साह और साहस के साथ बढ़ने के लिए कृष्ण संसार आत्मा, परमात्मा का यथोचित उपदेश करते हैं और मोह तथा भीरुता छुड़ाते हैं ।

कृष्ण के इस अलौकिक उपदेश में तत्वज्ञान की अनेक लहरें हैं। ज्ञान, योग और भक्ति को भी भली भाँति समझाया गया है । ब्रह्म और अवतार पर भी प्रकाश डाला गया है । साथ ही साथ आचार सम्बन्धी सिद्धान्तों पर भी विचार प्रकट किया गया है । भगवद्गीता पर अनेक भाष्य रचे गये हैं टीका-टिप्पणियाँ आज तक हो रही हैं । भाष्यों और टीका-टिप्पणियों में भगवद्गीता के वाक्यों के अर्थ अनेक प्रकार से किए गए हैं और कहीं-कहीं बलपूर्वक खींचतान कर अर्थ का अनर्थ भी कर दिया है । इस स्थल पर हम केवल तत्वज्ञान की दृष्टि से भगवद्गीता के मुख्य सिद्धान्तों को संक्षेप में बता देना उचित समझते हैं ।

आत्मा अविनाशी और सनातन है किन्तु यह कर्म बन्धन में बँधा रहने के कारण इधर उधर भटकता रहता है । इस कर्म के बन्धन से मुक्ति पाने के लिए कर्मों का त्याग आवश्यक नहीं है । कामनाओं का त्याग और कर्मों के फल का त्याग ही कर्मों के बन्धन से मुक्ति लाभ करने का सरल उपाय है । तात्पर्य यह है कि आत्मा स्वभाव से ही कर्म करता है इसलिए कम से कोई नहीं बच सकता और न किसी को बचना ही चाहिए किन्तु कामनाओं को छोड़ देना चाहिए, फल की लालसा नहीं करनी चाहिए तथा सम बुद्धि और समभाव होना चाहिए । कर्म से दूर भागना व्यर्थ है, अस्वाभाविक और निन्दनीय भी है । कर्म के सम्बन्ध में मनुष्य को स्थितप्रज्ञ होना चाहिए । स्थितप्रज्ञ के लिए शुभ और अशुभ, दुःख और सुख, हर्ष और विषाद सभी सब समय समान है । वास्तव में यही कर्मयोग है और निस्सन्देह कर्मयोगी हानि तथा लाभ के परे है ।

सांसारिक मनुष्यों की बात ही क्या है, स्वयं परमेश्वर कर्म करता है किन्तु फल में आसक्ति नहीं रखता । कृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं कि यदि मैं कर्म का त्याग करदूँ तो समस्त संसार में आलस्य छा जायगा । जिस महान् यज्ञ के फल से आत्मा ब्रह्म में लीन हो जाता है यह निष्काम कर्म ही है । फिर भी

भगवद्गीता में ज्ञान की प्रधानता स्वीकार की गई है और इसीलिए कि ज्ञानी परमेश्वर को समझता है और सत्य मार्ग को देखता भी है। अध्यात्म ही ज्ञान का प्रधान विषय है। यह कभी न भूलना चाहिये कि ब्रह्म नित्य है, अक्षर है और प्रत्येक वस्तु का आधार है। कृष्ण का कथन है कि यह समझ लो कि मुझसे अर्थात् परमेश्वर से समस्त संसार उत्पन्न हुआ है।

इसमें सन्देह नहीं कि परमेश्वर स्वयं अव्यक्त है किन्तु संसार उसी से व्यक्त है उसमें सब हैं किन्तु वह उनमें नहीं है। कल्प के अन्त में सब उसमें लीन हो जाते हैं और पुनः कल्प के आरम्भ में उसी से जन्म ग्रहण करते हैं। किन्तु परमेश्वर प्राणियों के सुख और दुःख से उदासीन नहीं है। जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म का अभ्युत्थान होता है तब-तब प्रत्येक युग में वह दुष्टों का दमन करने के लिए और साधु पुरुषों की रक्षा करने के लिए अवतार ग्रहण करता है। मनुष्य को चाहिए कि परमेश्वर को सब कुछ अर्पण कर दे और परमेश्वर की भक्ति करे। इस स्थल पर भगवद्गीता का प्रवेश भक्ति मार्ग पर होता है। यों तो निर्गुण ब्रह्म का भी चिन्तन किया जा सकता है किन्तु सगुण ब्रह्म की भक्ति अधिक सरल और श्रेय देने वाली है।

कृष्ण कहते हैं कि जो परमेश्वर की भक्ति में तल्लीन होता है वह सांसारिक समस्त माया मोह छोड़ देता है। वह परमेश्वर का ध्यान करता है और योग करता है। इस स्थल पर भगवद्गीता ने योग को भी कर्म, ज्ञान और भक्ति के साथ जोड़ दिया है। इस प्रकार धार्मिक विचार की कई धाराओं के मिल जाने से एक ऐसी विशाल तरंग बनी जो आज तक मनुष्य के जीवन को पनपाया करती है और सांसारिक क्लेशों से दुःखी आत्मा को शान्ति प्रदान करती है।

८—दार्शनिक और धार्मिक संस्कृति

इतिहास के पृष्ठों का अवलोकन करने से पता चलता है कि अनेक देशों और जातियों ने संसार और संस्कृति के किसी न किसी अंग की पूर्ति विशेष रूप से की है। अपने इस कथन के समर्थन में कहना पड़ता है कि प्राचीन ग्रीस ने संसार को सुन्दरता का भाव प्रदान किया अर्थात् अपनी संस्कृति में कला, साहित्य और जीवन की सुन्दरता का ऐसा चमत्कार प्रदर्शित किया कि उस पर मुग्ध होकर संसार

उसी का अनुकरण करने लगा। इसी प्रकार प्राचीन रोम ने व्यवस्था और शासन-पद्धतियों के भावों के द्वारा संसार की प्रगति को बढ़ाने का प्रयत्न किया। प्राचीन भारतवर्ष ने भी संस्कृति की सब से बड़ी सेवा तत्वज्ञान अर्थात् दर्शन के द्वारा की। यह निर्विवाद सत्य है कि भारतवर्ष में संस्कृति के और भी अनेक अंगों का विकास हुआ; साहित्य, व्याकरण, कला, गणित, ज्योतिष, वैद्यक आदि में इतनी उन्नति हुई कि आज भी आश्चर्य होता है। किन्तु वह क्षेत्र जिसमें भारतीय बुद्धि ने सब से बड़े चमत्कार दिखाये, जिसमें उसकी समानता आज तक कोई नहीं कर सका है, जिसमें उसने संसार पर अपनी छाप लगा दी है--वह क्षेत्र तत्वज्ञान का है। इस क्षेत्र में भारतीयों की तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टि और तर्क ने जड़ और चेतन, आत्मा और परमात्मा, मन और बुद्धि, स्वयं विचार और तर्क आदि के स्वभाव को जानने का प्रयत्न किया है। इस गम्भीर से गम्भीर समीक्षा में उन्होंने अनुपम स्वतन्त्रता और निर्भयता के भावों को प्रदर्शित किया है। अपना तर्क जिधर ले जाय उधर जाने को वे सर्वदा प्रस्तुत थे। न किसी प्रचलित धार्मिक सिद्धान्त की चिन्ता थी और न लोकमत का ही कोई भय था। आन्तरिक भीरुता तो थी ही नहीं। सत्य का पता लगाना ही उनका एकमात्र लक्ष्य था। ऐसी परिस्थिति में दार्शनिक मतभेद होना अनिवार्य था। दर्शन में जिन विषयों की चर्चा होती है वे सब न प्रत्यक्ष हैं और न हो सकते हैं। यदि वे सब प्रत्यक्ष होते तो उनसे सम्बन्ध रखने वाले सिद्धान्तों की परीक्षा तुरन्त हो जाती और सबको सत्य तथा असत्य का पता ऐसा स्पष्ट लग जाता कि मतभेद के कारण भी न उपस्थित होते। रसायन शास्त्र और वनस्पति शास्त्र आदि में ऐसा ही होता है किन्तु दर्शन में आत्मा या परमात्मा, कर्म या मोक्ष, सृष्टि या प्रलय कदापि इन्द्रिय गोचर नहीं हो सकते।

अतएव उन सबके विषय में तर्क करते-करते भिन्न-भिन्न पुरुष भिन्न-भिन्न परिणामों पर स्वभाव से ही पहुंच जाते हैं। फलस्वरूप अनेक विचार-धाराएँ अर्थात् अनेक व्यवस्थित दर्शन उत्पन्न हो जाते हैं। भारतवर्ष में इतनी सहनशीलता थी कि लोग समस्त दर्शनों के प्रयत्न और अनुसन्धान का आदर करते थे और मतभेद होने पर भी सबको उच्च स्थान प्रदान करते थे। प्राचीन दर्शनों के सम्बन्ध में एक और बात स्मरण रखनी चाहिए। जैसा आजकल विद्या का विशेषीकरण है वैसा उन दिनों नहीं था अर्थात् प्रत्येक विषय का अध्ययन भिन्न-भिन्न विशेषज्ञों के

द्वारा नित्य नहीं होता था। आजकल मानस शास्त्र, तर्क शास्त्र, नीति शास्त्र, भौतिक शास्त्र सभी पृथक्-पृथक् हैं और पृथक्-पृथक् ही उनका अध्ययन भी किया जाता है। प्राचीन काल में ये समस्त विषय एक दूसरे से मिले हुए थे और एक ही व्यवस्था के अंग थे। इसीलिए प्राचीन काल के दर्शनों में ऐसी अनेक बातें दिखाई पड़ती हैं जो आधुनिक पद्धति के अनुसार तत्वज्ञान में नहीं मिलाई जा सकतीं। वर्तमान विशेषीकरण से यदि कुछ लाभ हुआ है तो केवल इतना ही कि प्रत्येक शास्त्र का विकास स्वतन्त्रता पूर्वक शीघ्र गति से हो रहा है किन्तु इसके कारण ज्ञान के सामंजस्य का और विद्या की एकता का भाव एक प्रकार दब-सा जाता है। इसीलिए मानना पड़ता है कि प्राचीन भारतवर्ष में विश्वज्ञान की एक सुव्यवस्थित पद्धति का भाव अधिक प्रबल था और विद्या की समस्त शाखाएँ एक ही तन से जुड़ी हुई थीं।

भारतवर्ष में दर्शन की अधिक चर्चा रही है। उसीका परिणाम यह हुआ कि दर्शन धर्म का ही एक अङ्ग बन गया और जनता के मानसिक तथा आध्यात्मिक जीवन पर विशेष रूप से छा गया। दर्शनों के कुछ साधारण सिद्धान्त विद्वानों की कुटियों से निकल कर जनता के प्रत्येक वर्ग में ऐसा प्रभाव डालने लगे कि सभी लोग आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म, मोक्ष आदि पर मनन करने लगे या कम से कम कुछ विश्वास रखने लगे। साहित्य में भी इन समस्त दार्शनिक सिद्धान्तों का उल्लेख बार-बार मिलता है। कहना पड़ता है कि भारतीय दर्शन का प्रभाव केवल देश तक ही सीमित न था। बौद्ध धर्म के साथ वह लंका, बर्मा, स्याम, चीन, जापान, तिब्बत और मंगोलिया तक पहुँचा। कुछ विद्वानों की धारणा है कि पश्चिम में ग्रीस तक भी पहुँचा था। मध्यकाल में उसने इस्लाम पर भी अपना प्रभाव डाला और सूफ़ी धर्म की उत्पत्ति में सहायता प्रदान की। समस्त इस्लामी संसार में सूफ़ी धर्म का अधिक महत्व रहा है और साहित्य में उसकी छाप आज तक लगी हुई है। ईसवी सन् की अठारहवीं शताब्दी से भारतीय दर्शन का अध्ययन यूरोप में भी प्रारम्भ हुआ और वहाँ के अनेक दार्शनिकों पर उसका प्रभाव दिखाई पड़ता है। अभी उसके इतिहास की इति नहीं हुई है। भविष्य में भी वह नवीन दार्शनिक आन्दोलनों का कारण होगा, ऐसी आशा अब भी की जाती है।

इसमें सन्देह नहीं कि मूल ग्रन्थों का अध्ययन किये बिना प्राचीन दर्शनों के

सिद्धान्त, शैली और गौरव भली भाँति समझ में नहीं आ सकते। यहाँ उन सबके मूल सिद्धान्त संक्षेप में दिये जा रहे हैं और इस उद्देश्य से कि ये सब प्राचीन क्लिष्ट ग्रन्थों के अनुशीलन में पाठकों के लिए सहायक हो सकें।

तत्वज्ञान की जो विचार-शृंखलाएँ देश भर में व्यापक हो रही थीं वे चार्वाक, जैन, बौद्ध और भक्ति अथवा भागवत सिद्धान्तों के अतिरिक्त न्याय, वैशेषिक, योग, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमासा अथवा वेदान्त और सांख्य-इन छः दर्शनों के रूप में प्रकट हुईं। इन सबके सूत्रों की अथवा स्वयं इन सबके सिद्धान्तों की उत्पत्ति और उत्तरोविकास का समय आज तक भी निश्चित नहीं हो सका है। ये समस्त दर्शन वेद को प्रमाण मानते हैं किन्तु वेद के वाक्यों के अर्थ अपने-अपने ढंग पर लगाते हैं और वास्तव में पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ अनुसंधान तथा तर्क करते हैं।

सांख्य दर्शन में जिन सिद्धान्तों का वर्णन है उनमें से अधिकांश उपनिषदों में तथा इधर उधर महाभारत में भी मिलते हैं। इस दर्शन के प्रवर्तक या व्यवस्थापक कपिल मुनि हैं। ये ब्रह्मा, विष्णु अथवा अग्नि के अवतार माने जाते हैं। अन्य भारतीय दार्शनिकों के समान सांख्य-दार्शनिक भी अधिक निर्भय और स्वतन्त्र विचारक हैं। अपनी विचार-पद्धति अथवा परम्परा के परिणामों से कदापि नहीं झिझकते किन्तु दूसरों के समान उन पर भी दूसरे दर्शनों का प्रभाव अवश्य पड़ा है।

सांख्य दर्शन अनीश्वर वादी हैं अर्थात संसार की रचना करने वाला अथवा उसको बिगाड़ने वाला वह किसी को नहीं मानता। सम्पूर्ण संसार और संसार की समस्त वस्तुएँ प्रकृति और पुरुष अर्थात् आत्मा और उनके संयोग, प्रतिसंयोग से उत्पन्न हुई है। वेदान्त दर्शन वाले जैसा मानते हैं वैसा पुरुष एक नहीं है किन्तु अनेक हैं। सबको पृथक्-पृथक् सुख और दुःख होता है, इसीसे स्पष्ट है कि अनुभव करने वाले पृथक्-पृथक् हैं। पुरुष जिसे आत्मा, पुमान्, नर, कवि ब्रह्म, अक्षर, प्राण और सत् भी कह सकते हैं वह अनादि है, अनन्त है, देखने वाला है, जानने वा। है, अनुभव करने वाला है और निर्गुण है।

पुरुष पदार्थों को उत्पन्न नहीं करता। उत्पन्न करने वाली तो प्रकृति है। पुरुष के अतिरिक्त जो कुछ भी है वह सब प्रकृति है प्रकृति के आठ प्रकार हैं। अव्यक्त बुद्धि, अहंकार (वैकारिक, तैजस और भूतादि) और शब्द, स्पर्श, वर्ण, रस तथा गंध के तन्मात्र, अव्यक्त अनादि और अव्यन्त है। इसे प्रधान ब्रह्म, पुर, ध्रुव, प्रधा-

नक, अक्षर, क्षेत्र, तमस् और प्रसूत भी कह सकते हैं। यह मानो प्रकृति का अविकसित तत्व है। इसमें न रूप है, न गंध है, न रस है, न यह देखा जा सकता है, न और किसी इन्द्रिय से ग्रहण किया जा सकता है।

प्रकृति का दूसरा प्रकार है बुद्धि जिसे हम अध्यवसाय भी कह सकते हैं। इस स्थान में बुद्धि शब्द का प्रयोग कुछ असाधारण अर्थ में किया गया है। बुद्धि एक महत् है और प्रकृति पर प्रभाव डालती है। बुद्धि के आठ रूप हैं जिनमें से चार सात्विक हैं और चार तामसिक हैं। सात्विक रूपों के अन्तर्गत धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य हैं। इन्हीं के विपरीत वाले तामासिक रूपों के अन्तर्गत माने गये हैं। बुद्धि को मनस् , मति , महत् , ब्रह्म, ख्याति, प्रज्ञा, श्रुति, धृति, प्रज्ञानसंतति, स्मृति और धी भी कहा है। संभव है कि सांख्य दर्शन में सर्व प्रथम बुद्धि का अर्थ एक प्रकार का महत् अथवा ब्रह्म ही रहा हो। "मैं भोग करता हूँ , मैं सुनता हूँ, मैं देखता हूँ और मैं बोलता हूँ" इस प्रकार की धारणाएँ जिससे उत्पन्न होती हैं वह अहंकार अथवा अभिमान कहा गया है। सांख्य दर्शन के सिद्धान्त से यही सिद्ध है कि अहंकार प्रकृति से उत्पन्न होता है और बुद्धि के योग से ही विकास को प्राप्त होता है। इसी से अहं का भाव भी प्रकट होता है। अहंकार को तैजस, भूतादि, सानुमान और निरनुमान भी कहा गया है। अविशेष महाभूत, प्रकृति अभोग्य अणु, अशान्त, अधार और अमूढ़ कहे जाने वाले पाँचों तन्मात्र अहंकार से ही निकलते हैं।

इतना सब जान लेने पर भी यह ध्यान में रखना होगा कि पुरुष और इन आठ प्रकृतियों के संयोग से ही विश्व के समस्त व्यापार स्पष्ट नहीं होते। इसे समझने के लिये आवश्यकता इस बात की है कि पुरुष और प्रकृति के निकटतर सम्बन्धों के द्वार और मार्ग समझ लिये जायँ तथा यह भी समझ लिया जाय कि प्रकृति के सरल ग्राह्य रूप कौन से हैं। इसी विषय को समझाने के लिए सांख्य दर्शन में सोलह विकारों की कल्पना की गई है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच महाभूत और मन—ये ही सोलह विकार हैं। कर्ण, नेत्र, जिह्वा, नासिका और त्वचा जो अपने-अपने उपयुक्त पदार्थों को ग्रहण करती हैं ज्ञानेन्द्रियाँ कही गई हैं। वाणी, हस्त, पाद, जननेन्द्रिय और मल त्यागने का स्थान-ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश-ये पाँच महाभूत हैं। भूतों को भूतविशेष

विकार, विग्रह, शान्त, घोर, मूढ़, आकृति और तनु भी कहा जा सकता है। मन अनुभव करता है। पुरुष आठ प्रकृति और सोलह विकार मिलाकर पच्चीस तत्व कहलाते हैं।

वास्तव में पुरुष किसी भी दशा में किसी कर्म का कर्ता नहीं है किन्तु अहंकार के कारण अपने को प्रत्येक दशा में प्रत्येक कर्म का कर्ता मान लेता है। यदि पुरुष स्वयं ही कर्ता होता तो निरन्तर अच्छे ही कर्म करता किन्तु निरन्तर अच्छे कर्म होते कहाँ हैं? बात तो यह है कि सत्व, रज और तम, इन तीनों गुणों के ही कारण कर्म हुआ करते हैं। ये केवल सामान्य अर्थ में गुण नहीं हैं किन्तु प्रकृति के ही तीन आभ्यन्तरिक भाग हैं। यदि तीनों गुणों में सामंजस्य हो तो सर्वोत्तम है किन्तु यदि किसी ओर विषमता है अर्थात् किसी एक की कोई प्रधानता है तो प्रकृति में संचलन होता है। इस प्रकार विश्व का आरम्भ होता है और इसके विपरीत क्रम से अन्त होता है।

इस क्रम को संकर और प्रतिसंकर होते हैं। संकर का क्रम इस प्रकार का है जिस समय अव्यक्त का सम्पर्क पुरुष से होता है उस समय बुद्धि प्रकट होती है बुद्धि से अहंकार प्रकट होता है जो तीन प्रकार का है—वैकारिक अर्थात् सत्व से प्रभावित, तैजस अर्थात् रज से प्रभावित जो ज्ञानेन्द्रियों को उत्पन्न करता है और तामस जो भूतादि उत्पन्न करता है। भूतादि से तन्मात्र उत्पन्न होते हैं और तन्मात्र से भौतिक तत्व। इस प्रकार संकर का विकास चलता है। इससे विपरीत क्रम प्रतिसंकर का है। जिसका अन्त प्रलय है। भौतिक तत्व तन्मात्र में ही परिणित हो जाते हैं, तन्मात्र अहंकार में, अहंकार बुद्धि में और बुद्धि अव्यक्त में। अव्यक्त का नाश नहीं हो सकता। उसका विकास दूसरी किसी वस्तु से नहीं हुआ है। प्रतिसंकर पूर्ण होने पर पुरुष और अव्यक्त रह जाते हैं।

सांख्य दर्शन में यह भी कहा गया है कि अविवेक के ही कारण पुरुष प्रकृति से सम्बन्ध करता है और जब विवेक होता है तब सम्बन्ध स्वतः टूट जाता है। निस्सन्देह सांख्य का यह प्रकृति पुरुष विवेक वेदान्त दर्शन के आत्म-विवेक के ही समान है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि पुरुष का यह अविवेक किस प्रकार उत्पन्न होता है और वह क्यों अपने को अर्थात् आत्मा को इन्द्रिय, मन अथवा बुद्धि समझ लेता है? यदि पुरुष स्वयं कर्म नहीं कर सकता तो त्रैगुण्य

कहाँ से आ जाता है और बुद्धि कहाँ से उत्पन्न हो जाती है ? यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर सांख्य दर्शन नहीं दे सकता है तथापि यह कहना ही पड़ता है कि चाहे जिस प्रकार अविवेक की उत्पत्ति हुई हो किन्तु समस्त दुखों का मूल कारण यही है। इसीसे जन्म और मरण भी होता रहता है। पुनर्जन्म के सम्बन्ध में सांख्य दर्शन का यह मत है कि स्थूल शरीर के अतिरिक्त एक लिंग शरीर अथवा प्रातिवाहिक शरीर है। वह बुद्धि अहंकार, मन, पाँच तन्मात्रा और पाँच आभ्यन्तरिक इन्द्रियों का बना हुआ है। यद्यपि वह कभी दृष्टिगोचर नहीं होता तथापि उसी के कारण एक पुरुष का दूसरे पुरुष से भेद किया जाता है। वह कर्म के अनुसार बनता है और मृत्यु होने पर पुरुष के साथ दूसरे जन्म में जाता है तथा फल भोगता है। सांख्य दर्शन का अधिक प्रभावशाली शब्दों में कथन है कि इस अविवेक से ही पुरुष संसार के जंजाल में फँस गया है, सीमित हो गया है और दुख उठा रहा है। विवेक का उदय होते ही समस्त दुःख दूर हो जाता है, बनावटी अथवा कल्पित सीमाएँ नष्ट हो जाती हैं और पुरुष को कैवल्य प्राप्त हो जाता है। कैवल्य में कोई दुःख नहीं है, कोई परतन्त्रता नहीं है और न कोई सीमा ही है। इसीको मोक्ष कहते हैं।

सांख्य दर्शन में प्रत्यक्ष, आप्तवचन और अनुमान—इन्हीं तीनों को प्रमाण माना गया है। सांख्य दर्शन के इन समस्त सिद्धान्तों पर आगामी युग के लेखकों में अधिक मत भेद दृष्टिगोचर होता है। इन सबके अतिरिक्त सांख्य ग्रन्थों के अन्तर्गत अभिबुद्धि, कर्मयोनि, वायु, कर्मात्मा, अविद्या, तुष्टि, अतुष्टि सिद्ध, प्रसिद्धि, मूलिकार्थ, षष्टितन्त्र, अनुग्रहसर्ग, भूतसर्ग, दक्षिणा आदि की भी विस्तृत व्याख्या की गई है।

उत्तरमीमांसा अथवा वेदान्त के सिद्धान्त उपनिषदों में हैं किन्तु विस्तृत वर्णन वादरायण रचित वेदान्तसूत्र में मिलता है बौद्ध तथा जैन धर्म का खण्डन करने वाले शंकराचार्य का भाष्य सब से बड़ा है। वेदान्त के सिद्धान्त पुराण और साधारण साहित्य में अधिकता से मिलते हैं और उन पर ग्रन्थ आधुनिक काल में भी बनते रहे हैं। वेदान्त दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है कि विश्व में केवल एक ही वस्तु है और वह ब्रह्म है। ब्रह्म अद्वितीय है और उसके अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं है। यहीं पर यह शंका उपस्थित होती है कि जब ब्रह्म अद्वितीय है और उसके अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं है तब फिर संसार में अनेक वस्तुएँ किस प्रकार दिखाई पड़ती हैं ?

इस शंका का समाधान करने के लिए कहा गया है कि वास्तव में एक ही वस्तु है किन्तु अविद्या के कारण अनेक वस्तुएँ होने का-सा भ्रम हो जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि अविद्या क्या है? उत्तर में कहा गया है कि व्यक्तिगत अज्ञान को ही अविद्या कहते हैं। यह अविद्या मनुष्य के स्वभाव में इस प्रकार मिली हुई है कि दूर करने में अधिक से अधिक कठिनता का सामना करना पड़ता है। सत्य तो यह है कि विद्या से ही अविद्या दूर हो सकती है किन्तु अविद्या भी तो कोई पृथक् वस्तु नहीं है। यह कोरी माया है और सर्वथा मिथ्या है।

यदि अविद्या अथवा माया को पृथक् वस्तु मान लिया जाय तो ब्रह्म की अद्विती-यता नष्ट हो जायगी और विश्व में एक के स्थान में दो वस्तुएँ हो जायँगी। दूसरी बात यह है कि यदि अविद्या को पृथक् स्वतन्त्र वस्तु मान लिया जाता है तो इसका नाश भी न हो सकेगा। अतएव यह अविद्या भी मिथ्या है और क्षणस्थायी है। प्रत्येक व्यक्ति अथवा प्रत्येक आत्मा ब्रह्म का अंश ही है और किसी भी दशा में ब्रह्म से भिन्न नहीं है। जो कुछ हम देखते हैं अथवा और किसी प्रकार से अनुभव करते हैं, वह भी ब्रह्म का ही अंश है किन्तु अविद्या के कारण वह हमें यथार्थ रूप से अनुभव नहीं होता। जिस प्रकार कोई दूर से बालुकामय भू-भाग को देखकर जल समझ ले अथवा जल में प्रतिबिम्ब देखकर यह समझ ले कि चन्द्रमा नक्षत्र और मेघ आदि जल के भीतर हैं तथा जल के ही भीतर घूमते हैं उसी प्रकार हम साधा-रण वस्तुओं को ब्रह्म न मान कर गृह, वृक्ष, शरीर, अथवा पशु आदि मान लेते हैं किन्तु जिस समय हमें ज्ञान होगा, विद्या प्राप्त होगी अथवा ऐसा भी समझना चाहिए कि जिस समय हमारा शुद्ध ब्रह्म रूप प्रकट होगा उसी समय हमें सब कुछ ब्रह्म रूप जान पड़ेगा। इस अवस्था को प्राप्त करते ही हमारे समस्त कष्टों को उत्पन्न करने वाली माया का नाश हो जायगा, सभी दिशाओं में सुख ही सुख व्याप्त हो जायगा और हम ब्रह्म में लीन हो जायँगे। इस प्रकार कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान और विद्या के प्रभाव से हम अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेंगे।

आत्मा ब्रह्म है और तुम भी वही हो-तत्त्वमसि। संक्षेप में यही समझना चाहिए कि ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है। आत्मा ब्रह्म है। जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म है। ब्रह्म को छोड़कर कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो कि प्राप्त करने योग्य

हो, जानने योग्य हो अथवा भोग करने योग्य हो। तत्वमसि में तत् ब्रह्म है, त्वम् आत्मा है और ये दोनों ही एक हैं। वेदान्त दर्शन के अनुयायी यह स्वीकार करते हैं कि ये सब सिद्धान्त वेदों में हैं और वेद प्रमाण हैं तथा वेद ब्रह्म हैं। वेद के दो भाग हैं। एक भाग कर्मकाण्ड है और दूसरा भाग ज्ञानकाण्ड है। ज्ञानकाण्ड ही विशेष रूप से उपनिषद है। उपनिषदों में अद्वितीय ब्रह्म का उपदेश है। किन्तु वेद का प्रमाण मानते हुए भी शंकराचार्य ने कहा है कि जिसने विद्या प्राप्त कर ली उसने मोक्ष भी प्राप्त कर लिया और वह ब्रह्म हो गया। उसे वेद की कोई आवश्कता नहीं है। जैसे बाढ़ से लबालब भरे भू-भाग में छोटे जलायश का कोई महत्व नहीं रह जाता वैसे ही विद्या प्राप्त किये हुए व्यक्ति के समीप वेद का कोई महत्व नहीं रह जाता।

यद्यपि वेदान्त दर्शन के विशुद्ध सिद्धान्तों के अनुसार केवल ब्रह्म को छोड़कर कहीं कुछ भी नहीं है तथापि व्यावहारिक दृष्टिकोण से वेदान्ती विश्व का अस्तित्व मानने में भी किसी भी प्रकार का संकोच नहीं करते। शंकराचार्य ने बौद्ध शून्य वाद अथवा विद्यामात्र का खण्डन करते हुए स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि व्यवहार के लिए वस्तुओं का अस्तित्व और उनकी भिन्नता को अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। इसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म को भी व्यवहार में सगुण मान सकते हैं। इस प्रकार ब्रह्म में शक्ति मान ली गई है और शक्ति से सृष्टि की उत्पत्ति स्वीकार कर ली गई है।

ब्रह्म से जीवात्मा प्रकट होता है। वह अविद्या के कारण कर्म करता है और कर्म के ही अनुसार जीवन-मरण, सुख-दुःख होता है। अविद्या के दूर होते ही पुनः शुद्ध रूप में आकर ब्रह्म में लीन हो जाता है। जब तक जीव संसार में रहता है तब तक स्थूल शरीर के अतिरिक्त एक सूक्ष्म शरीर भी रखता है। जिस समय स्थूल शरीर पंचतत्व में मिल जाता है उस समय भी यह सूक्ष्म शरीर जीव के साथ रहता है। यह मुख्य प्राण, मन और इन्द्रियों का बना होता है। जड़ होने पर भी अदृश्य रहता है और पुनर्जन्म में आत्मा के साथ जाकर कर्मफल भोगने में सहायक होता है।

मुख्य प्राण के अतिरिक्त प्राण, उपान, व्यान, समान और उदान प्राण भी स्थूल शरीर में रहते हैं। किन्तु ये सब व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही माने गये हैं क्योंकि इन सब में माया का ही रूप है जिसे हम अविद्या का परिणाम भी कह

सकते हैं। जो स्वयं मिथ्या है वही अविद्या अथवा माया है। जो स्वयं कुछ नहीं है वही मिथ्या है। अतएव यदि कुछ है तो एक ब्रह्म है और वह ब्रह्म जो अद्वितीय है, उसके अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं कि वेदान्त दर्शन का तत्वज्ञान अधिक उच्चकोटि का है। इसीलिए साधारण आत्माओं की पहुँच की सीमा से अधिक परे है। अद्वितीय निर्गुण ब्रह्म का समझना सरल नहीं है और उसकी भक्ति करना भी सरल नहीं है। सत्य तो यह है कि विशुद्ध वेदान्त में भक्ति के लिए कोई स्थान है ही नहीं क्योंकि भक्ति की आवश्यकता ही नहीं समझी गई है। ज्ञान और विद्या ही उपयोगी साधन मान लिए गए हैं। किन्तु केवल ज्ञानवाद मनुष्य की प्रकृति को सन्तुष्ट नहीं कर सकता क्योंकि मनुष्य का हृदय भक्ति के लिए निरन्तर व्याकुल बना रहता है। इसीलिए कतिपय तत्वज्ञानियों ने वेदान्त के क्षेत्र में एक नवीन पंथ निकाला जो वेदान्त दर्शन के मुख्य सिद्धान्तों को मानते हुए भी ब्रह्म को सगुण मानता है और भक्ति के लिए स्थान निकालता है। विद्वानों की धारणा है कि वेदान्त में यह परिवर्तन भागवत धर्म अथवा महायान बौद्धधर्म या साधारण ब्राह्मण धर्मके प्रभाव से हुआ।

वेदान्त की इस नवीन शाखा को स्थायित्व प्रदान करने वाले बौद्धायन, टंक, द्रमिड़ अथवा द्रविड़, गुहदेव, कपर्दिन और भरुचि जैसे अनेक तत्वज्ञानी थे। इन सबों के समय का ठीक-ठीक पता नहीं लगता किन्तु ईसवी सन् की बारहवीं शताब्दी में रामानुज ने इन समस्त पूर्वाचार्यों के नामों का उल्लेख किया है। बौद्धायन और द्रमिड़ शंकराचार्य के पहले के जान पड़ते हैं। स्वयं रामानुज ने नवीन वेदान्त मत को दृढ़ता प्रदान की और उसका प्रचार किया। रामानुज-सम्प्रदाय के अनुयायी आज भी अनेक हैं। शंकराचार्य अद्वैतवादी हैं और रामानुज विशिष्टाद्वैतवादी हैं। बादरायण और शंकराचार्य के समान रामानुज भी स्वीकार करते हैं कि ब्रह्म सत्य है और सर्वव्यापक है किन्तु वे ब्रह्म को प्रेम अथवा करुणामय भी मानते हैं। ब्रह्म में चित् भी है और अचित् भी है। दोनों ब्रह्म के प्रकार हैं। आत्मएँ ब्रह्म के अंश हैं अतएव अविनश्वर हैं और नित्य रहेंगे। ब्रह्म अन्तर्यामी है अर्थात् समस्त आत्माओं के भीतर की भावनाओं को जान लेता है। किन्तु मोक्ष होने पर भी अर्थात ब्रह्म में लीन हो जाने पर पर भी आत्माओं का अस्तित्व रहता है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म के भीतर होते हुए भी उनका पृथकत्व रहता है।

यद्यपि यह सत्य है कि कल्प के अन्त में ब्रह्म अपनी कारणावस्था को धारण कर लेता है और आत्मा तथा अन्य समस्त पदार्थ संकुचित हो जाते हैं, अव्यक्त हो जाते हैं तथापि दूसरे कल्प के प्रारम्भ में आत्माओं को अपने पुरातन पाप-पुण्य के अनुसार पुनः शरीर धारण करना पड़ता है। यह क्रम मोक्ष तक चलता रहता है। संसार की उत्पत्ति ब्रह्म से है किन्तु सर्वथा मिथ्या नहीं है। इस विचार-शृङ्खला के अनुसार ब्रह्म सगुण हो जाता है, उसमें विशेषताओं का समावेश हो जाता है, अद्वैत के स्थान पर विशिष्टाद्वैत आता है, यह ईश्वर प्रेम से पूर्ण है, उसकी भक्ति करनी चाहिए। प्रसन्न होकर वह भक्तों को सुख प्रदान करेगा।

पूर्व मीमांसा का विषय यज्ञ अर्थात कर्मकाण्ड है। यह भी वेदों के समान ही प्राचीन है किन्तु इसकी नियमानुसार व्यवस्था जैमिनि ने ईसवी पूर्व की चौथी अथवा तीसरी शताब्दी में मीमांसासूत्र में की थी। इस सूत्र पर मुख्य टीका कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्तिक, तंत्रवार्तिक और टुप्टीका में की है। कुमारिल भट्ट के आधार पर मण्डनमिश्र ने विधिविवेक और मीमांसानुक्रमण नामक ग्रन्थों की रचना की। इन सब के अतिरिक्त अन्य टीकाएँ अब तक होती रही हैं। कुमारिल भट्ट ने शवर के प्राचीन भाष्य का अनेक स्थानों पर खण्डन किया है किन्तु उसके शिष्य प्रभाकर ने अपनी बृहती टीका में शवर को ही अधिक माना है।

यह कहा जा चुका है कि वेद के दो भाग हैं। पूर्वभाग अर्थात कर्मकाण्ड और उत्तर भाग अर्थात ज्ञानकाण्ड। दूसरे भाग की मीमांसा उत्तर मीमांसा अथवा वेदान्त है। पहले भाग की मीमांसा पूर्वमीमांसा के नाम से प्रसिद्ध है। विषय का प्रारम्भ करते हुए जैमिनि कहते हैं—अथातो धर्म जिज्ञासा अर्थात् अर्थ धर्म जानने की अभिलाषा। इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि पूर्वमीमांसा में धर्म की विवेचना की गई है। यह धर्म मन्त्रों और ब्राह्मणों का है। मंत्रों का माहात्म्य अपूर्व है। ब्राह्मणों में विधि और अर्थवाद हैं। विधियाँ कई प्रकार की हैं जिनमें साधारण विधान होता है उन्हें उत्पत्तिविधि कहते हैं। जिनमें यज्ञ की पद्धति बताई गई है उन्हें विनियोगविधि कहते हैं? जिनमें यज्ञों का क्रम है उन्हें प्रयोगविधि कहते हैं और जिनमें यह बताया गया है कि कौन किस यज्ञ के करने का अधिकारी है उन्हें अधिकारविधि कहते हैं। इन सबके साथ ही साथ अनेक प्रकार के निषेध भी हैं। इस सम्बन्ध में जैमिनि ने नामधेय अर्थात यज्ञ के अग्निहोत्र, उद्भिद् आदि नामों

पर भी अधिक बल दिया है। ब्राह्मणों के अर्थवादों में अर्थ समझाए हैं।

यज्ञों का विधान अनेक मन्त्रों में, ब्राह्मणों में और स्मृतियों में भी है। कहीं-कहीं अनेक क्रम और नियम बताये गए हैं। कहीं थोड़े-से ही बताए गए हैं और कहीं कुछ भी नहीं बताए गए हैं। बहुधा कुछ पारस्परिक विरोध भी दृष्टिगोचर होता है। अनेक स्थलों पर संशय होता है कि यहाँ क्या करना चाहिए ? इन समस्त उलझनों को सुलझाना पूर्वमीमांसा का काम है। मीमांसकों ने पाँच प्रकार के प्रमाण स्वीकार किए हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति अर्थात एक वस्तु के विषय में दूसरी वस्तु के आधार या भाव से ज्ञान प्राप्त करना और शब्द-- इन्हीं को प्रमाण कहा गया है। कुमारिल भट्ट ने एक छठा प्रमाण प्रभाव भी माना है जो वास्तव में अनुमान का ही एक भेद है। पाँच या छः प्रमाण मानते हुए भी मीमांसक बहुधा एक ही प्रमाण शब्द का प्रयोग करते हैं। शब्द अर्थात ईश्वर वाक्य अथवा ऋषिवाक्य के आधार पर ही वे यज्ञ के विधानों की उलझनों को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं।

इसीलिए उन्होंने अनेक प्रकार के नियम बनाए हैं जिनमें यह बताया गया है कि श्रुति का अर्थ किस प्रकार लगाना चाहिए ? यदि श्रुति और स्मृति में विरोध जान पड़े तो स्मृति का अर्थ कैसे लगाना चाहिए ? यदि दो स्मृतियों में विरोध हो तो श्रुति के अनुसार कौनसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए ? यदि उस विषय पर श्रुति में कुछ नहीं है तो क्या करना चाहिए ? यदि स्मृति में कोई विधान है किन्तु श्रुति में उस विषय पर कुछ नहीं है तो किस स्थान पर यह मानना चाहिए कि इस विषय की श्रुति का लोप हो गया है ? इन सब की मीमांसा माधव ने न्यायमालाविस्तर में बड़े विचार से की है। अर्थ लगाने के जो नियम यज्ञ-विधान में बनाए गए हैं उनका प्रयोग और विषयों में भी हो सकता है। पूर्वमीमांसा का यह विशेष महत्व है कि उससे धर्म- आचार, यज्ञ, विधि-विधान आदि स्थिर करने में सहायता मिलती है। सत्य तो यह है कि पूर्वमीमांसा तत्वज्ञान की पद्धति नहीं है। यह तो यज्ञ और नियम-विधान की पद्धति है किन्तु परम्परा से इसकी गणना षड्दर्शन में होती रही है। पूर्वमीमांसा का विषय ऐसा है कि मीमांसकों में मतभेद होना अनिवार्य था। कुछ भी हो, जितने भी मीमांसक हो चुके हैं उन सब में प्रभाकर का मत अधिक शक्तिशाली रहा है।

योग के प्रारंभिक समस्त रूप वेदों में मिलते हैं। उपनिषदों में भी उनका उल्लेख बार-बार आया है। बौद्ध और जैन धर्मों ने भी योग के सिद्धान्तों को अपनाया है। बुद्ध और महावीर ने योग किया था भगवद्‌गीता में कृष्ण ने योग का उपदेश दिया है और पद्धति को भी समझाया है। किन्तु योग की व्यवस्था पूर्ण रूप से पतंजलि ने योगसूत्र में की है। पतंजलि का समय ईसवी पूर्व की पहिली या दूसरी शताब्दी कहा जाता है। इसके बाद ईसवी सन् की चौथी शताब्दी में व्यास ने योगसूत्र पर बड़ी टीका रची और फिर आगे चलकर ईसवी सन् की नवीं शताब्दी में वाचस्पति ने उस पर तत्ववैशारदी टीका प्रस्तुत की। योग पर छोटे-छोटे अनेक ग्रन्थ बनाये गये हैं और अब तक बन रहे हैं।

भगवद्‌गीता में योन की परिभाषा समत्व शब्द से समझाई गई है। योग का वास्तविक अर्थ यही है कि आत्मा को समत्व प्राप्त हो। अनेक विद्वान् लेखकों ने योग को संयोग अर्थात् परमात्मा में आत्मा का समा जाना माना है किन्तु न तो भगवद्‌गीता से और पतंजलि के सूत्रों से इस मत का समर्थन होता है। योगसूत्र के भाष्य में भोजदेव ने तो यहाँ तक कहा है कि योग वियोग है। पुरुष और प्रकृति में विवेक अथवा वियोग है। इसी प्रकार बौद्ध और जैन जो परमात्मा के अस्तित्व को नहीं मानते, वे योग को मानते हैं और कहीं-कहीं उस पर तो अधिक बल देते हैं।

सांख्य से योग का अधिक निकटतम सम्बन्ध है इसीलिए योगसूत्र अथवा योगसूत्रानुशासन को सांख्य प्रवचन भी कहते हैं। विज्ञानभिक्षु जिसने कपिल के सांख्यसूत्र पर टीका की है, योगवार्तिक और योगसारसंग्रह का भी रचयिता है और दोनों तत्वज्ञानों को स्पष्ट करता है। योग ने सांख्य की अनेक बातें ले ली हैं और कुछ नवीन बातें जोड़ दी हैं। एक तो परमेश्वर, दूसरे परमेश्वर की भक्ति तीसरे चित्त की एकाग्रता। योग के शास्त्रों ने संयम की विस्तृत पद्धति बना दी है। इसीलिए योग का दूसरा नाम सेश्वर सांख्य भी है।

दूसरे सूत्र में पतंजलि कहते हैं कि चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। यदि मन एकाग्र करके आत्मा या परमात्मा के ध्यान में लगा दिया जाय, इन्द्रियों की चंचलता रोक दी जाय और समस्त व्यापार बन्द करके एक मात्र ध्यान किया जाय तो आत्मा को समत्व और शान्ति मिलती है, सब दुःख दूर हो जाते हैं और

आध्यात्मिक उल्लास प्रकट होता है। रोग, आलस्य, संशय, असावधानता, मिथ्यात्व आदि से मन की चंचलता उत्पन्न होती है। इन्हीं से दुःख भी उत्पन्न होता है इन सब को दूर करने के लिए मन को तत्व पर स्थिर करना चाहिए। इसकी पूर्ण व्यवस्था पतंजलि के योगसूत्र में है। सूत्र के चार पाद हैं। समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य यही उन पादों के नाम हैं।

समाधिपाद में योग का उद्देश्य और रूप बताया गया है तथा यह भी दिखाया गया है कि समाधि कैसी होती है। इस समाधि के साधन क्या हैं--यह विषय दूसरे पाद में समझाया गया है। समाधि से अनेक प्रकार की अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं-इन विभूतियों का वर्णन तीसरे पाद में है। इन भागों में योग के अनेक अभ्यास, क्रियाएँ भी बताई गई हैं योग की पराकाष्ठा होने पर आत्मा को कैवल्य प्राप्त होता है अर्थात् संसार के जंजाल से छूटकर आत्मा आप में ही लीन हो जाता है। ऐसा कदापि न समझना चाहिए कि योग मत में कैवल्य होने पर आत्मा परमेश्वर में मिल जाता है। पतंजलि ने ऐसा कहीं-नहीं कहा है और न विज्ञानभिक्षु का योगसारसंग्रह ही इस धारणा का समर्थक है। यह अवश्य मान लिया गया है कि यदि साधनों से पूर्णतया सिद्धि न हो तो परमेश्वर की कृपा कैवल्य और मोक्ष तक पहुंचने में सहायता करती है। कैवल्य का यह विषय चौथे पाद में है।

अभ्यास के अनेक प्रकार योग में पाये जाते हैं। उन्हीं से स्थिति में अर्थात् वृत्तियों के निरोध मेंऔर चित्त की एकाग्रता में सहायता मिलती है। अभ्यास अथवा प्रयत्न बार-बार करना चाहिए। वृत्तियों का निरोध होने पर वैराग्य भी हो जाता है। वैराग्य होने पर दृष्ट और आनुश्राविक पदार्थों की अभिलाषा तक नष्ट हो जाती है। समाधि के उपायों में भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणायामों का स्थान अधिक महत्व का है। इस सम्बन्ध में हठयोग अथवा क्रियायोग का भी वर्णन विस्तार के साथ किया गया है और यह भी कहा गया है कि इससे आत्मा शान्ति और प्रकाश को प्राप्त करता है। योगांगों में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और समाधि ये योग के आठ साधन बताये गये हैं। पद्मासन, वीरासन, भद्रासन और स्वस्तिकासन जैसे अनेक आसनों का भी वर्णन है। साथ ही साथ यह भी कहा गया है कि योग-साधन से विभूतियां प्राप्त करके मनुष्य सब कुछ देख सकता है, सब कुछ

जान सकता है, क्षुधा और तृष्णा पर विजय प्राप्त कर सकता है, एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश कर सकता है, आकाश में भ्रमण कर सकता है, समस्त तत्वों को अपने अधीन कर सकता है और जिस प्रकार चाहे उस प्रकार उनका प्रयोग कर सकता है। इसी प्रकार की अनेक आश्चर्यजनक बातों का उल्लेख पाया जाता है किन्तु पतंजलि तथा अन्य विद्वानों ने स्पष्ट कहा है कि योग का वास्तविक लक्ष्य कैवल्य या मोक्ष प्राप्त करना है।

तर्कविद्या अथवा वादविद्या को ही न्याय कहा गया है। ईसवी पूर्व की तीसरी शताब्दी के लगभग गौतम अथवा अक्षपाद के न्याय-सूत्रों में इसका प्रतिपादन किया गया। उसके बाद ईसवी सन् की पाँचवी शताब्दी के लगभग वात्सायन ने महाटीका न्याय भाष्य में इसका प्रतिपादन किया उनके बाद उसी शताब्दी में दिग्नाग के प्रमाण समुच्चय न्याय प्रवेश इत्यादि में इसके प्रतिपादन का विशेष प्रयत्न किया गया। फिर ईसवी सन् की छठी शताब्दी में उद्योतकर ने न्यायवार्तिक में और धर्म कीर्ति ने न्याय विन्दु में इस पर अधिक बल दिया। इन दोनों विद्वानों के पश्चात् ईसवी सन् की नवीं शताब्दी में धर्मोत्तर की न्यायविन्दु टीका में और उसके बाद अनेक ग्रन्थों तथा टीकाओं में वाद-विवाद के साथ न्याय के विषय का प्रतिपादन किया गया है।

गौतम का सर्व प्रथम प्रतिज्ञा सूत्र है कि प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल जाति और निग्रहस्थान-इन सोलह के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान होने से ही मुक्ति प्राप्त होती है। तीसरे सूत्र में कहा गया है कि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, ये ही प्रमाण के चार प्रकार हैं जिस समय वस्तु से इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है उस समय प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान छः प्रकार का कहा गया है। संयोग (वस्तु का साधारण ज्ञान), संयुक्त समवाय (वस्तु के गुण का ज्ञान), संयुक्त समवेत समवाय (वस्तु के गुण की जाति आदि का ज्ञान) , समवाय (इन्द्रिय और वस्तु का नित्य सम्बन्ध-जैसे आकाश के नित्य गुण शब्द का कान के भीतर आकाश से सम्बन्ध का ज्ञान), समवेत समवाय (जैसे ऊपर के उदाहरण में शब्द की जाति का ज्ञान), संयुक्त विशेषण (जैसे अभाव का ज्ञान)।

अनुमान के पाँच अंग माने गये हैं। वे ये हैं - प्रतिज्ञा (सिद्ध की जानेवाली

बात का कथन), हेतु (कारण का कथन) , उदाहरण, उपनय (हेतु की स्पष्ट सूचना), निगमन (सिद्धि का कथन) । जैसे पर्वत पर अग्नि है, क्योंकि वहाँ धुआँ दिखाई देता है, जहाँ धुआँ रहता है वहाँ अग्नि रहती है जैसे पाकशाला में, पर्वत पर धुआँ है, इसलिए पर्वत पर अग्नि है । हेतु दो प्रकार के कहे गये हैं । एक तो वह जो साधर्म्य अथवा सादृश्य के द्वारा प्रतिज्ञा को सिद्ध करता है जैसे ऊपर के उदाहरण में दूसरा वह जो वैधर्म्य के द्वारा सिद्ध करता है जैसे जड़ वस्तुओं की निर्जीवता से शरीर में आत्मा का होना सिद्ध करना । आगे चलकर इन दो प्रकारों के स्थान पर तीन प्रकार माने गये हैं । अन्यव्यतिरेकी (जो हेतु कहीं है, कहीं नहीं है) । केवलान्वयी (जो हेतु सर्वत्र रहता है) और केवलव्यतिरेकी (जो हेतु कहीं भी न हो) ।

हेत्वाभास पाँच कहे गये हैं । सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत । इनसे किसी वस्तु का प्रमाण यथार्थ रूप से नहीं हो सकता । सव्यभिचार अथवा अनैकान्तिक हेतु वह है जो साध्य और असाध्य दोनों के साथ है, जिस प्रकार शब्द नित्य है क्योंकि शब्द का स्पर्श नहीं हो सकता । इस हेतु को देनेवाला यह भूल जाता है कि बुद्धि आदि वस्तुएँ स्पर्श न रखती हुई भी अनित्य हैं । विरुद्ध हेतु एकदम विपरीत है, जैसे घड़ा टूट नहीं सकता क्योंकि वह टूट गया है प्रकरणसम अथवा सत्प्रतिपक्ष हेतु वह है जिससे किसी ओर स्पष्ट प्रमाण नहीं होता साध्यसम अथवा असिद्ध वह है जो स्वयं सिद्धि की आवश्यकता रखता है । कालातीत अथवा कालात्ययापदिष्ट हेतु वह है जो समय से बाधित है ।

उपमान प्रमाण का तीसरा साधन है । इसमें समानता अथवा सादृश्य के द्वारा प्रतिज्ञा की सिद्धि होती है । जैसे घर के घड़े से मिलने जुलनेवाली वस्तु को देखकर बोध होता है कि यह भी घड़ा है । वैशेषिक दार्शनिकों ने और कुछ अन्य विद्वानों ने उपमान को प्रमाण की पदवी नहीं दी है । शब्द प्रमाण है आप्त अर्थात् धर्म आदि के ज्ञाताओं तथा उत्तम चरित्रवालों का उपदेश । यह दो प्रकार का माना गया है । एक तो दृष्टार्थ जो इन्द्रियों से जानने योग्य बातें बताता है, और जो मनुष्यों का भी होसकता है । दूसरा अदृष्टार्थ जो इन्द्रियों से न जानने योग्य बातें जैसे स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि बताता है और जो ईश्वर का उपदेश है । वेद ईश्वर का रचा हुआ है और सर्वत्र प्रमाण है । इस प्रकार वाक्य दो प्रकार के होते हैं—वैदिक और

लौकिक। प्राचीन नैयायिकों ने स्मृतियों को लौकिक वाक्य माना है किन्तु बाद के विद्वानों ने इनकी भी गणना वेद वाक्य में कर ली है।

वेद वाक्य तीन प्रकार के माने गये हैं। एक तो विधि जिसमें किसी कर्म के करने अथवा न करने का विधान हो। दूसरा अर्थवाद जिसमें विधेय की प्रशंसा हो अथवा निषेध की निन्दा हो या कर्म की भिन्न रीति का निर्देश हो अथवा पुराकल्प अर्थात् प्राचीन मनुष्यों के आचार से विधेय का समर्थन हो। तीसरा वेद वाक्य अनुवाद है जो विधेय की व्याख्या, फल आदि बतलाकर तथा आवश्यक बातों का निर्देश करके करता है। इस स्थल पर न्याय दर्शन में पद और वाक्य की विवेचना विस्तार पूर्वक की गई है। जैसे पद से व्यक्ति, आकार और जाति का ज्ञान होता है। शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है।

दूसरे पदार्थ प्रमेय से उन वस्तुओं का अभिप्राय है जिनके यथार्थ ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है इसके बारह प्रकार कहे गये हैं। वे ये हैं--आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति। दोष, पुनर्जन्म, फल, दुःख और मोक्ष। यह सत्य है कि आत्म प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु इसका अनुमान इस भाँति होता है कि इच्छा, द्वेष और प्रयत्न अथवा व्यापार करने वाला, ज्ञान करने वाला, सुख और दुख का अनुभव करने वाला अवश्य कोई है। आत्मा अनेक हैं। संसार की रचना करने वाला आत्मा ईश्वर है। साधारण आत्मा और ईश्वर दोनों में ही संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न ये गुण हैं किन्तु ईश्वर में ये नित्य हैं और दूसरों में अनित्य हैं। ईश्वर का ज्ञान नित्य और सर्वव्यापी है और दूसरों में अज्ञान, अधर्म, प्रमाद आदि दोष भी हैं।

चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थ का आश्रय शरीर है। पृथ्वी के परमाणुओं से यह बना है। धर्म, अधर्म या पाप, पुण्य के अनुसार आत्मा भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीर धारण करता है। इन्द्रियाँ पाँच हैं--नासिका, कर्ण, नेत्र, जिह्वा और त्वचा पृथिवी से नासिका बनी है और गन्ध को ग्रहण करती है। आकाश से कर्ण बने हैं जो शब्द को ग्रहण करते हैं। तेजसे नेत्रबने हैं जो रूपको ग्रहण करते हैं। जल से जिह्वा बनी है जो रस को ग्रहण करती है और वायु से त्वचा बनी है जो स्पर्श को ग्रहण करती है।

इन्द्रियों के इन्हीं विषयों को अर्थ कहते हैं। यह अर्थ चौथा प्रमेय माना गया है। आगामी काल के नैयायिकों ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय

और अभाव की भी गणना अर्थ में ही करती है। पृथिवी का प्रधान गुण है तो गन्ध किन्तु इसमें रूप, रस, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार भी रहते हैं। परमाणुओं में नित्य और स्थूल पदार्थों में अनित्य समझ लेना चाहिए। इसी प्रकार जल, तेज, वायु और आकाश में अपने-अपने प्रधान गुणों के अतिरिक्त दूसरे गुण भी रहते हैं। परमाणुओं में नित्य और स्थूल में अनित्य रहते हैं।

बुद्धि को पाँचवाँ प्रमेय माना गया है। यही ज्ञान है और दूसरी वस्तुओं का ज्ञान इसी से होता है। यह अनित्य है किन्तु नैयायिकों ने ईश्वर के ज्ञान को नित्य माना है। मन छठा प्रमेय है। अनेक नैयायिकों ने इसे इन्द्रिय माना है। स्मरण, अनुमान, संशय, प्रतिभा, शब्दज्ञान, स्वप्न ज्ञान और सुख दुःख ज्ञान ये सभी मन से ही होते हैं। प्रत्येक शरीर में मन एक ही है और अणु के बराबर है तथा एक क्षण में एक ही वस्तु का बोध करता है। प्रवृत्ति को सातवाँ प्रमेय माना गया है। यह इन्द्रिय, मन, तथा शरीर का व्यापार है और ज्ञान अथवा क्रिया को उत्पन्न करती है। आगामी काल के नैयायिकों ने इसके दस प्रकार स्वीकार किये हैं। शरीर की तीन प्रवृत्तियाँ (दूसरों की रक्षा, दूसरों की सेवा और दान), वाणी की चार प्रवृत्तियाँ (सत्य बोलना, प्रिय बोलना, हित बोलना और वेद पढ़ना), मन की तीन प्रत्तियाँ (दया, लोभ को रोकना और श्रद्धा)। ये दस प्रवृत्तियाँ पुण्य प्रवृत्तियाँ कहलाती हैं। इनसे विपरीत दस प्रवृत्तियों को पाप प्रवृत्तियों के नाम से मान लिया गया है। प्रवृत्तियों से ही धर्म और अधर्म होता है।

दोष को आठवाँ प्रमेय माना गया है। इसमें राग, द्वेष और मोह भी सम्मिलित है। राग के पाँच प्रकार हैं काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा और लोभ। द्वेष भी पाँच प्रकार का है---क्रोध, ईर्ष्या, असूया, द्रोह और अमर्ष। मोह चार प्रकार का कहा गया है--मिथ्या ज्ञान, संशय, मान और प्रमाद। पुनर्जन्म अथवा प्रेत्यभाव नवाँ प्रमेय है। फल अर्थात् कर्मफल दसवाँ प्रमेय है और दुःख ग्यारवाँ प्रमेय है। बारहवाँ प्रमेय मोक्ष अथवा अपवर्ग है। राग-द्वेष, व्यापार, प्रवृत्ति, कर्म आदि छुट जाने से तथा मन को आत्मा में लगाकर तत्वज्ञान प्राप्त करने से जन्म-मरण की शृङ्खला टूट जाती है और मोक्ष स्वतः प्राप्त हो जाता है।

संशय तीसरा पदार्थ है। यह वस्तुओं अथवा सिद्धान्तों के विषय में हुआ

करता है। प्रयोजन चौथा पदार्थ है। यह मन, वचन, अथवा शरीर के व्यापार अथवा प्रवृत्ति के सम्बन्ध में होता है। समानता अथवा विषमता का दृष्टान्त पाँचवाँ पदार्थ है। प्रधानतया यह विचार और तर्क की बात है। छठा पदार्थ सिद्धान्त अर्थात् प्रमाणसिद्ध बात है। यह चार प्रकार का हो सकता है-सर्वतन्त्रसिद्धान्त जो समस्त शास्त्रों में में माना गया है, प्रतितन्त्रसिद्धान्त जो कुछ शास्त्रों में माना गया है और कुछ शास्त्रों में नहीं, अधिकरण सिद्धान्त जो माने हुए सिद्धान्तों से निकलता है तथा अभ्युगमसिद्धान्त जो प्रसंगवश माना जाता है। अथवा आगामी काल के विद्वानों के अनुसार जो सूत्र में न होते हुए भी शास्त्रकारों द्वारा स्वीकार किया गया है। सातवाँ पदार्थ अवयव अर्थात् वाक्य का अंश है। तर्क आठवाँ पदार्थ है। निर्णय अर्थात तर्क के द्वारा निश्चय किया सिद्धान्त नवाँ पदार्थ है। शेष पदार्थ तर्क, शास्त्रार्थ या विचार के अङ्ग अथवा प्रसङ्ग या बाधा हैं।

वैशेषिक सिद्धान्त के चिह्न बुद्ध और महावीर के समय में दृष्टिगोचर होते हैं। यह समय ईसवी पूर्व की छठी या पाँचवी शताब्दी का है। इसके दो तीन शताब्दियों के बाद काश्यप, औलूक्य, कणाद, कणभुज् या कणभच्च ने वैशेषिक सूत्र के दस अध्यायों में वैशेषिक सिद्धान्तों की व्यवस्था की है। ईसवी सन् की चौथी शताब्दी के लगभग प्रशस्तपाद ने पदार्थ धर्म संग्रह में और ईसवी सन् की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में उसके टीकाकार व्योमशेखर ने व्योमवती में, श्रीधर ने न्यायकन्दली में उदयन ने किरणावली में और श्रीवत्स ने लीलावती में वैशेषिक का वर्णन किया है।

कणाद ने धर्म की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा से अपना सूत्र आरम्भ किया है। धर्म वह है जो पदार्थों का तत्वज्ञान प्रकट कर मोक्ष प्रदान कर सके। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छः पदार्थ हैं। इनमें संसार की समस्त वस्तुएँ सम्मिलित हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक् आत्मा और मन ये नौ द्रव्य हैं। पृथिवी, जल, तेज और वायु के लक्षण अथवा गुण जिस प्रकार न्याय दर्शन में बताए गए हैं उसी प्रकार वैशेषिक में भी बताए गए हैं।

प्रशस्तपार भाष्य में पृथिवी आदि द्रव्यों की उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार किया गया है। जीवों के कर्मफल भोगने का समय जब आता है तब महेश्वर की उस कर्मफल भोग के अनुकूल सृष्टि करने की इच्छा होती है। इस इच्छा के अनुसार जीवों के अदृष्ट के बल से वायु के परमाणुओं में चलन उत्पन्न होता है। इस

चलन से उन परमाणुओं में परस्पर संयोग होता है। दो दो परमाणुओं के संयोग से द्वयणुक उत्पन्न होते हैं। तीन द्वयणुक के संयोग से त्रसरेणु उत्पन्न होते हैं। इसी क्रम से एक महान् वायु उत्पन्न होता है। उसी वायु में परमाणुओं के परस्पर संयोग से जलद्वयणुक, त्रसरेणु आदि क्रम से महान् जलनिधि उत्पन्न होता है। इस जल में पृथ्वी के परमाणुओं के परस्पर संयोग से द्वयणुक, त्रसरेणु आदि क्रम से महापृथिवी उत्पन्न होती है। फिर उसी जलनिधि में तैजस् परमाणुओं के परस्पर संयोग तैजस् द्वयणुकादि क्रम से महान् तेजोराशि उत्पन्न होती है। इसी प्रकार चारों महाभूत उत्पन्न होते हैं। संक्षेप में वैशेषिकों का यही परमाणुवाद है। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि किसी भी वस्तु के खण्ड करते जाइए। जिस समय अधिक से अधिक छोटे अदृश्य अणु पर पहुंच जाइए उस समय भी उसके खण्डों की कल्पना कीजिए और निरन्तर कल्पना करते जाइए। जहाँ कल्पना का अन्त हो वहाँ आप परमाणु पर पहुँच गए। परमाणुओं के भिन्न-भिन्न प्रकार के संयोगों से समस्त वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं।

पाँचवें द्रव्य आकाश का प्रधान गुण शब्द है तथा इसके साथ ही साथ संख्या, परिमाण, पृथकत्व और संयोग आदि दूसरे गुण भी हैं। शब्द एक है और आकाश भी एक है। परम महत है, सर्वत्र व्यापक है और नित्य है। छठा द्रव्य काल भी परम महत् है, सवत्र व्यापक है, अमूर्त है और अनुमानगम्य है। सातवाँ द्रव्य दिक् भी सर्वत्र व्यापक है, परम महत है, नित्य है और अनुमानगम्य है। आठवाँ द्रव्य आत्मा अनुमानगम्य है, अमूर्त है और ज्ञान का अधिकरण है। कणादरहस्य में शंकरमिश्र ने कहा है कि जीवात्मा अल्पज्ञ है, क्षेत्रज्ञ हैं अर्थात केवल शरीर में उत्पन्न होने वाले ज्ञान को जानता है। परमात्मा सर्वत्र है, अनुमान और वेद से सिद्ध होता है कि परमात्मा ने संसार की रचना की है। बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग और विभाग– ये सभी जीवात्मा के गुण हैं। नवाँ द्रव्य अन्तःकरण है। यह भीतरी इन्द्रिय है। ज्ञान के लिए इसका इन्द्रियों से संयोग होना अत्यन्त आवश्यक है।

दूसरा पदार्थ गुण है। यह वह वस्तु है जिसका अस्तित्व द्रव्य में तो रहता हैं किन्तु अपना कोई गुण नहीं है। यह संयोग अथवा विभाग का कारण भी नहीं है अतएव इसमें क्रिया सर्वथा अभाव रहता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परि-

माण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा; द्वेष और प्रयत्न--ये सत्रहगुण कहे गए हैं। इनके अतिरिक्त छः और गुण प्रशस्तपादभाष्य में गिनाए गए हैं वे गुरु, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार अदृष्ट और शब्द हैं। धर्म और अधर्म दोनों ही अदृष्ट में सम्मिलित हैं। इस प्रकारसमस्त गुण चौबीस हुए। इनमें से कुछ गुण मूर्त हैं अर्थात मूर्त द्रव्य—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और मन में पाये जाते हैं। कुछ गुण अमूर्त हैं अर्थात आत्मा और आकाश में ही पाये जाते हैं। कुछ मूर्त और अमूर्त दोनों हैं अर्थात मूर्त तथा अमूर्त द्रव्यों में पाये जाते हैं।

संयोग, विभाग, पृथकत्व सर्वदा अनेक द्रव्यों में ही हो सकते हैं, केवल एक में नहीं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, द्रवत्व, बुधि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार-ये विशेष अथवा वैशेषिक गुण हैं अर्थात ये एक वस्तु का दूसरी वस्तु से भेद करते हैं। गुरुत्व, धर्म, अधम, संस्कार का ज्ञान अनुमान से होता है, इन्द्रियों से कदापि नहीं। कुछ गुणों का ज्ञान केवल एक इन्द्रिय से होता है, कुछ का अनेक इन्द्रियों से हो सकता है। वैशेषिक ग्रन्थों में प्रत्येक गुण की व्याख्या विस्तारपूर्वक की गई है। इसीलिए इस दर्शन में अनेक भौतिक शास्त्रों और मानस-शास्त्र के अंश आ गए हैं। जिस स्थान पर अदृष्ट अर्थात धर्म और अधर्म की व्याख्या की गई है उस स्थान पर आध्यात्मिक ज्ञान का भी वर्णन किया गया है।

तीसरा पदार्थ कर्म है। यह क्षणिक, गुणहीन और पाँच प्रकार का है। उत्क्षेपण (ऊपर जाना), अपक्षेपण (नीचे जाना), आकुंचन (सकुचना), प्रसारण (फैलना), गमन (चलना)। प्रत्येक प्रकार का कर्म तीन प्रकार का हो सकता है। सत्यप्रत्यय (जो ज्ञानपूर्वक किया जाय), असत्प्रत्यया (जो अज्ञानता के साथ किया जाय) और सप्रत्यय (जोजड़ वस्तुओं का कर्म हो)। कर्म मूर्त वस्तुओं में ही होता है। आकाश, काल, दिक् और आत्मा में नहीं होता क्योंकि ये सब अमूर्त हैं। चौथा पदार्थ सामान्य जाति है। यह अनेकत्व में एकत्व का बोध कराती है। जैसे अनेक मनुष्यों का एक सामान्य हुआ मनुष्यत्व। द्रव्य, गुण और कर्म में ही जाति हो सकती है और वह भी दो प्रकार की हो सकती है। पर और अपर यही जाति के दो प्रकार हैं। पर कहते हैं बड़ी को और अपर कहते हैं छोटी को। जैसे मनुष्यत्व और ब्राह्मणत्व। सत्ता ही सबसे बड़ी जाति है। इसमें सब कुछ सम्मिलित रहता है।

पाँचवाँ पदार्थ विशेष है। यह सामान्य से विपरीत है अर्थात् एक जाति की

वस्तुओं को, विशेषताएँ बता कर एक दूसरे से पृथक् करता है। प्रशस्तपाद ने विशेष बात की व्याख्या की है। छठा पदार्थ समवाय है। इसे नित्य सम्बन्ध कहते हैं। यह द्रव्य में हीं रहता है और कभी नष्ट नहीं होता।

ऊपर जिन दर्शनों के स्थूल सिद्धान्तों को संक्षेप में समझाया गया है वे सब मिलकर षड्दर्शन कहलाते हैं और दो ढाई हजार वर्षों से जन साधारण में प्रसिद्ध हैं। इन सबके अतिरिक्त कुछ और दर्शन भी बने जिनमें से कुछ का तो लोप हो गया है और कुछ का वर्णन साहित्य में पाया जाता है। जैन और बौद्ध ग्रन्थों से प्रमाणित है कि ईसवी पूर्व की छठी और पाँचवीं शताब्दी में एक प्रबल धार्मिक और दार्शनिक क्रान्ति थी। पुरुषों के अतिरिक्त स्त्रियों ने भी इसमें अधिक भाग लिया था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी पर इसका प्रभाव समान रूप से पड़ा। फलस्वरूप अनेक प्रकार के नवीन पन्थ निकले और उन्होंने दार्शनिक सिद्धान्तों को भिन्न-भिन्न रीति से अपने अनुकूल बनाया। कहना पड़ता है कि उन सबों को भी अपने प्रयत्न में सन्तोषजनक सफलता प्राप्त हुई।

६—धार्मिक क्रान्ति कालीन संस्कृति

उपनिषदों के बाद आत्मा, पुनर्जन्म, संसार और कर्म के सिद्धान्त भारतवर्ष में प्रायः सभी ने स्वीकार कर लिये। फिर भी दो चार पंथ ऐसे भी थे जिन्होंने उपनिषदों के सिद्धान्तों को पूर्णतया नही माना तथा आत्मा और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों का खण्डन भी किया। इतना ही नहीं, एक नवीन विचार-शैली को अपनाकर जड़वाद की घोषणा भी की।

बुद्ध और महावीर के समय में अर्थात् ईसवी पूर्व की छठी और पाँचवीं शताब्दी में कुछ मनुष्य नवीन विचार शैली के आधार पर कहा करते थे कि मनुष्य चार तत्वों से बना है। मृत्यु होने पर पृथिवी तत्व पृथिवी में मिल जाता है, जलतत्व, जल में मिल जाता है, अग्नि तत्व अग्नि में मिल जाता है और वायु तत्व वायु में मिल जाता है। शरीर का अन्त होते ही मनुष्य का सब कुछ समाप्त हो जाता है। शरीर से भिन्न कोई आत्मा नही है अतएव पुनर्जजन्म का प्रश्न उठता ही नहीं है।

इन लोकायतिक अथवा चार्वाकों की कोई रचना अभी तक नहीं प्राप्त हुई हैं किन्तु जैन और बौद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त आगे चलकर सर्व दर्शन संग्रह और

सर्व सिद्धान्त सार संग्रह में इनके विचार संक्षेप में दिये गये हैं। इन सबों का यही कहना था कि ईश्वर अथवा आत्मा के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं है। जिस प्रकार कुछ पदार्थों के संयोग से मादकता उत्पन्न होती है उसी प्रकार चार तत्वों के संयोग से जीवन-चेतन उत्पन्न होता है। विचार की शक्ति जड़ से ही उत्पन्न होती है। शरीर ही आत्मा है और अहं की धारणा करता है।

इस विषय पर जड़वादियों में चार भिन्न-भिन्न प्रकार के मत थे। एक के अनुसार स्थूल शरीर आत्मा है। दूसरे के अनुसार इन्द्रियाँ आत्मा हैं। तीसरे अनुसार श्वास आत्मा है। चौथे के अनुसार मस्तिष्क आत्मा है। किन्तु यह सब स्वीकार करते थे कि आत्मा जड़ पदाथ से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। यह संसार ही सब कुछ है। स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि सभी केवल निर्मूल कल्पनाएँ हैं। पाप और पुण्य का विचार भी पाखण्ड छोड़कर और कुछ नहीं है। जब तक संसार में जीवित रहना है तब तक सुख पूर्वक जीवित रहो। ऋण लेकर भी घी का पान किया करो, मदिरा का सेवन किया करो, अचेत होकर पृथिवी पर गिर पड़ो और फिर उठकर मदिरा का पान करो। ऐसा करने पर पुनर्जन्म होगा ही नहीं और जब पुनर्जन्म है ही नहीं तब होगा कहाँ से ? परलोक की आशा में इस लोक का सुख छोड़ देना मूर्खता ही है। वेदों की रचना धूत, भाण्ड और निशाचरों ने की है। ब्राह्मण कहते हैं कि ज्योतिष्टोम में बलि दिया हुआ पशु स्वर्ग जाता है। यदि यह सत्य है तो यज्ञ करने वाला अपने पिता की बलिदान क्यों नहीं कर देता ?

सर्व दर्शन संग्रह और सर्व सिद्धान्त सार संग्रह के अनुसार लोकायतिकों ने पाप और पुण्य, स्वर्ग और नरक का भेद मिटा दिया था तथा केवल स्वार्थ और भोग-विलास का उपदेश दिया था। कुछ भी हो, भारतवर्ष के दार्शनिक काल की संस्कृति के इतिहास में लोकयतिक दर्शन बड़े महत्व का है। यह प्रत्येक बात का साक्षात्कार प्रमाण चाहता था। उपमा और अनुमान, श्रुति अथवा उपनिषद् पर भरोसा नहीं करता था। कठोर से कठोर तर्क का पक्षपाती था और निर्भयता की मूर्ति था। ईसवी पूर्व की छठी या पाँचवीं शताब्दी में अजित ने भी आत्मा के अस्तित्व को न मान कर जड़वाद के आधार पर अपना पंथ चलाया था। इसी

समय संजय ने एक और पंथ चलाया जो आत्मा, पुनर्जन्म आदि के विषय में अपना कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं रखता था।

धीरे-धीरे कुछ दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर दो बड़े धर्मों की स्थापना हुई। एक तो था जैन धर्म और दूसरा बौद्ध धर्म था। कुछ नवीन विद्वानों की धारणा है कि इन धर्मों के प्रचारकों ने अपने मुख्य सिद्धान्त सांख्य दर्शन से लिये थे किन्तु आज तक इसका कोई प्रमाण नहीं प्राप्त हो सका है। दूसरी बात यह भी है कि इन धर्मों के सिद्धान्तों में और सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों में अन्तर भी अधिक है। मानने योग्य बात तो केवल इतनी ही है कि उस समय देश के समस्त दर्शनों का प्रभाव एक दूसरे पर पड़ा था किन्तु ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह कदापि नहीं माना जायगा कि जैनों और बौद्धों ने सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों का अनुकरण किया था। उस समय की धार्मिक परिस्थितियों पर विचार करने से यही समझ में आता है कि जिस प्रकार कुछ विचार-शृंखलाएँ व्यवस्थित होकर छः दर्शनों के रूप में प्रकट हुई थीं उसी प्रकार कुछ और विचार-शृङ्खलाएँ व्यवस्थित होकर जैन और बौद्ध धर्मों के रूप में सामने आ गईं।

दर्शनों की अपेक्षा धर्मों में स्वभावतः कुछ और भी विशेष लक्षण थे। उनमें जीवन का मार्ग अधिक स्पष्टता के साथ दिखाया गया था। नैतिक और सामाजिक आदर्शों का व्यावहारिक विधान था। व्यक्ति के लिए पूजा, पाठ, ध्यान आदि की पूर्ण व्यवस्था थी। दुःख दूर करने की और परम सुख प्राप्त करने की आवश्यकता तथा उपाय बड़ी भावुकता के साथ जनता को समझाया गया था। शुद्ध दर्शन तक इने गिने मनुष्य ही पूर्ण रूप से पहुंच सकते हैं किन्तु धर्म का यह प्रयत्न होता है कि सभी मनुष्यों की पहुँच जीवन के आदर्शों तक हो जाय।

प्राचीन भारतवर्ष की जनसत्ता और संस्कृति संकीर्णता से सर्वदा दूर रही है। ऐसी दशा में जैन और बौद्ध धर्मों की स्थापना कोई आश्चर्य की बात न थी। जहाँ विचार की स्वतन्त्रता है वहाँ नवीन पन्थ और धर्म निकलते ही रहते हैं। ईसवी पूर्व की छठी या पाँचवीं शताब्दी में अनेक पन्थ निकले किन्तु इन दो धर्मों के सामने अधिकांश नवीन पन्थ थोड़े ही दिनों में मिट गये। जैन और बौद्ध धर्म की विजय हुई क्योंकि वे सबसे अधिक व्यवस्थित थे और मानसिक परिस्थिति के अधिक अनुकूल थे तथा उनको कुछ अधिक प्रतिभाशाली प्रचारक

मिल गये थे। साथ ही साथ कुछ राजाओं का भी आश्रय प्राप्त हो गया।

नवीन धर्मों की सफलता का एक कारण यह भी था कि उस युग के ब्राह्मण धर्म से सबको सन्तोष नहीं था। एक तो वह प्राचीन धर्म कर्मकाण्ड पर अधिक बल देता था। यज्ञ कराते-कराते कभी थकता ही न था और तपस्या भी अधिक कराता था। बाहर के आडम्बरों पर अधिक ध्यान देता था किन्तु आत्मा की आभ्यान्तरिक तृष्णा बुझाने का कोई प्रयत्न नहीं करता था। दूसरी बात यह थी कि ब्राह्मण धर्म ने अपने को नवीन दार्शनिक और मानसिक परिस्थिति के अनुकूल नहीं बनाया था। असंख्य मनुष्यों के विचार पढ़ने-सुनने से बदल गये थे किन्तु प्राचीन ब्राह्मण धर्म प्राचीन लकीर ही पीट रहा था। वही देवता, वही मन्त्र, वही यज्ञ और वही भावनाएँ प्रचलित थीं। ऐसी दशा में यह तो अवश्यम्भावी था कि शीघ्र या विलम्ब से नवीन लहरें उत्पन्न होकर इन सबको पीछे फेंक दें और प्राचीन धरातल पर अपना अधिकार स्थापित कर लें। तीसरी बात यह थी कि ब्राह्मण धर्म और उसके अनुयायियों के बीच में ब्राह्मण पुरोहितों ने अपना आसन स्थापित कर लिया था तथा उन पर प्रभुत्व भी करने लगे थे। जो भक्ति और श्रद्धा धर्म के लिए थी उसे उन्होंने अपनी ओर खींच लिया था। कुछ दिनों तक यह क्रम भी चलता रहा। किन्तु यह भी अवश्यम्भावी था कि किसी दिन वास्तविक धार्मिक प्रवृत्ति प्रबल होकर पुरोहितों को ध्वंस कर दे। चौथी बात यह थी कि जाति-पाँति के बन्धन इतने कठोर हो गये थे कि कुछ मनुष्य उन्हें शिथिल करना चाहते थे। ये सुधारक ब्राह्मण धर्म से असन्तुष्ट थे। यह बात प्रसिद्ध है कि नवीन धर्मों के संस्थापक क्षत्रिय थे और सर्व प्रथम अनुयायी सभी वर्गों से आये थे। पाँचवीं बात यह थी कि ब्राह्मण धर्म जीवन को पद्धतियों की शृंखलाओं से ऐसा जकड़ रहा था कि भय होने लगा था कि कहीं जीवन का तत्व ही अदृश्य न हो जाय और रहा सहा आनन्द भी न खो जाय। इन्हीं एकत्रित असन्तोष के कारणोंसे नवीन धर्म सफल हो गये।

फिर भी इतिहासकारों की यह धारणा निर्मूल है कि इन दोनों धर्मों के सामने ब्राह्मण धर्म लुप्तप्राय हो गया। न तो साहित्य से, न शिलालेखों से और न विदेशी यात्रियों के वर्णन से ही इस मत का समर्थन होता है। यह सत्य है कि कई शताब्दियों तक ब्राह्मण धर्म भारतवर्ष में मुख्य धर्म नहीं रहा किन्तु वह मिटा नहीं।

जनता के अनेक भागों में वह पहिले के ही समान प्रचलित रहा। ब्राह्मण धर्म की इस स्थिरता के दो कारण थे। पहिला कारण यह था कि अनेक मनुष्य स्वभावतः प्राचीन बातों के अनुयायी होते हैं। पूर्व पुरुषों के मार्ग पर चलने में ही प्रसन्न रहते हैं और नवीन मार्गों पर चलते हुए भयभीत होते हैं। दूसरा कारण यह था कि उपस्थित संकट से सचेत होकर ब्राह्मण धर्म नवीन परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन करने लगा था। एशिया और यूरुप के इतिहास में ऐसा अनेक बार हुआ है कि स्थापित धर्म ने पहिले तो परिवर्तन करना अस्वीकार कर दिया किन्तु जब प्रतिद्वन्द्वी धर्म चल पड़े तब उसके नेत्र खुल गये और वह अपने को समय के अनुकूल बनाने लगा। अनुकूलन ही सर्वत्र जीवन और सफलता का सिद्ध मन्त्र है। अनुकूलन के ही प्रताप से प्राचीन गिरते हुए धर्म पुनः उठ कर खड़े हो गये हैं और अधिकांश खोया हुआ प्रभाव फिर पा सके हैं।

भारतवर्ष में भी ठीक ऐसा ही हुआ। नवीन धर्मों का अधिक प्रचलन होने पर ब्राह्मण धर्म परिवर्तित होने लगा और इसीलिए स्थिर भी रहा। कुछ भी हो, ईसवी पूर्व की पाँचवीं शताब्दी से लेकर डेढ़ हज़ार वर्ष तक भारतवर्ष में मुख्यतः तीन धर्म प्रचलित रहे—ब्राह्मण, बौद्ध और जैन। यह कहना अनावश्यक है कि विचार-स्वातन्त्र्य के कारण ये तीनों ही एक दूसरे पर निरन्तर प्रभाव डालते रहे और इनमें भी अनेक शाखाएँ हो गईं। प्रारम्भ में जैन और बौद्ध धर्मों के उपदेश लोक भाषाओं के द्वारा अर्थात् मागधी, अर्धमागधी के द्वारा दिये गये थे जिससे कि साधारण जनता उसे भली भाँति समझ सके किन्तु आगे चलकर इन धर्मों के प्रचारकों ने संस्कृत का भी प्रयोग किया। संस्कृत के साथ ब्राह्मण धर्म का अधिक प्रभाव भी आ गया। संस्कृत के अतिरिक्त एक और नवीन साहित्यिक भाषा पाली की सृष्टि हुई जो लोक-भाषाओं से कुछ अधिक मिलती-जुलती थी और जिसमें जैनों और बौद्धों ने अनेक ग्रन्थ लिखे।

सम्भव है कि जैन धर्म के सिद्धान्त बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों से अधिक प्राचीन हों। जैनों का विश्वास है कि जैन धर्म अनादि है, अनन्त है किन्तु प्रत्येक प्रलय अथवा पतन के बाद उपसर्पिणी और अवसर्पिणी कहे जाने वाले महान् कल्पों में चौबीस तीर्थङ्कर पुनः इस धर्म का उपदेश देते हैं। ऋषभदेव, अजितनाथ, सम्भव-नाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, सुपद्मनाथ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभु, पुष्पदन्त,

शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वसुपद्म, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, सन्तनाथ, कुंथनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसव्रतनाथ, नृमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्द्धमान या महावीर--ये चौवीस तीर्थङ्करों के नाम हैं। जैन मत के अनुसार प्रथम तीर्थङ्कर की आयु करोड़ों वर्ष की थी और शरीर मीलों लम्बा था किन्तु काल के दोष से धीरे-धीरे मनुष्यों की आयु में और लम्बाई में कमी होती गई। हो सकता है कि चौवीस में से कुछ तीर्थङ्कर ऐतिहासिक पुरुष भी हों।

इतिहास से प्रमाणित है कि चौवीसवें तीर्थङ्कर महावीर बुद्ध के समय में थे और अवस्था में उनसे कुछ बड़े थे। तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ ईसवी पूर्व की आठवीं शताब्दी में हुए थे और ऐतिहासिक पुरुष जान पड़ते हैं। हो सकता है कि इनके भी पहिले नेमिनाथ अथवा अरिष्टनेमि ने जैन धर्म चलाया हो किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। कई तीर्थङ्करों के हाथों में बदलते हुए जैन धर्म ने अपना मुख्य रूप महावीर के समय में धारण किया। ईसवी पूव की चौथी शताब्दी में पाटलिपुत्र में एक वृहत् जैन परिषद् हुआ जिसमें सिद्धान्त की व्याख्या की गई। दिगम्बरों के अनुसार ईसवी सन् की पहिली शताब्दी में जैन धर्म के सिद्धान्त लिखे गये। ईसवी सन् की पाँचवीं शताब्दी में वल भी के परिषद् ने देवर्द्धिगणिन् की अध्यत्तता में जैन धर्म के सिद्धान्तों को अन्तिम रूप दे दिया।

जैन धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार इस संसार का कोई कर्ता-हर्ता नहीं है। संसार अनादि है, अनन्त है। प्रत्येक आत्मा भी अनादि और अनन्त है। जीव अथवा आत्मा के स्वाभाविक गुण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र अर्थात् सर्वज्ञता और परम सुख हैं। किन्तु कर्म के अनादि बन्धन से अधिकांश आत्माओं के इन स्वाभाविक गुणों पर कम या अधिक आवरण पड़ गया है। जिन जीवों के गुण एकदम विकृत हो गये हैं वे अशुद्ध जीव हैं। जिनके गुण कुछ विकृत हैं और कुछ ठीक हैं वे मिश्र जीव हैं। जिन आत्माओं के स्वाभाविक गुणों से आवरण एकदम हट गया है वे शुद्ध जीव हैं--वे मोत्त पा गये हैं और सर्वोच्च सिद्धशिला पर केवल ज्ञान और पूर्ण सुख से सर्वदा रहेंगे।

आप्त में यथार्थ भक्ति से अर्थात् सम्यग्दर्शन से सम्यग्ज्ञान होता है और सम्यग्ज्ञान से सम्यक् चरित्र होता है! तब कहीं मोत्त की प्राप्ति होती है। तत्व सात हैं जिनका यथार्थ ज्ञान होना आवश्यक है। पहिला तत्व है जीव। इसका

उल्लेख अभी किया गया है। दूसरा तत्व है अजीव। इसके पाँच भेद हैं-- पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। पुद्गल उस द्रव्य को कहते हैं जिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण हों। इसके दो भेद हैं--अणु जिसका विभाग नहीं हो सकता और स्कंध अर्थात् अणुओं का समूह। जैन शास्त्रों में पुद्गल के छः भेद और भी किये हैं--स्थूलस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मसूक्ष्म। यहाँ स्थूलस्थूल बड़े पदार्थ काठ, पत्थर आदि हैं और सूक्ष्मसूक्ष्म अणु या परमाणु हैं। दूसरा द्रव्य धर्म है। यह अमूर्तांक है, सर्व व्यापक है और जीव तथा पुद्गल की गति में अर्थात् चलने में सहायता करता है। इसी प्रकार तीसरा द्रव्य अधर्म है। यह भी अमूर्तांक है, सर्व व्यापक है और जीव तथा पुद्गल की स्थिति में अर्थात् ठहरने में सहायक होता है। जैन-दर्शन में धर्म और अधर्म को केवल कर्म या फल नहीं माना है किन्तु द्रव्य भी माना है। चौथा द्रव्य आकाश है। यह समस्त पदार्थों को अवकाश देता है। इसके दो भेद हैं। पहिला भेद लोकाकाश है, इसमें लोक के समस्त द्रव्य स्थान पाते हैं। दूसरा अलोकाकाश है, इसमें आकाश ही आकाश है। पाँचवाँ द्रव्य काल है। यह समस्त द्रव्यों के परिवर्तन में सहायक होता है। यह भी सर्वव्यापक है।

शेष पाँच तत्व आध्यात्मिक घटना या अवस्था का निरूपण करने के लिए माने गये हैं। राग द्वेष आदि के कारण मन से, वचन से या शरीर से जो क्रियायें होती हैं उनके कारण कर्म-परमाणु खिंचकर आत्मा के पास आते हैं। इसे आस्रव कहते हैं। जैन सिद्धान्त में कर्म को पुद्गल या द्रव्य का भाग माना है और कहा है कि उसके परमाणु राग द्वेषादि पूर्ण क्रिया के कारण आत्मा की ओर स्वभावतः खिंच आते हैं। ये परमाणु क्रिया के भेद के अनुसार अपने रससंयुक्त आत्मप्रदेशों से सम्बन्ध करते हैं अर्थात् चिपट जाते हैं या यों कहना चाहिए कि बँध जाते हैं। यह चौथा बन्ध तत्व है। कर्मबंध होने पर कर्मानुसार फल भोगना पड़ता है। इस प्रकार कर्म का फल एक स्वाभाविक नियम है। यहाँ किसी परमेश्वर की आवश्यकता नहीं है। जब तक कर्म है तब तक फल स्वरूप जन्म-मरण है, सुख दुःख है और संसार की समस्त उलझनें हैं। इसलिए कर्म को रोकना चाहिए।

राग द्वेष आदि के प्रभाव से कर्म के आस्रव के रोकने को संवर कहते हैं।

यह पाँचवाँ तत्व संवर है। पहिले के बँधे हुए कर्म परमाणुओं को आध्यात्मिक बल, योग, तप आदि से नष्ट करना निर्जरा है। यह छठा तत्व है। कर्म के सर्वथा नाश होने पर पुनर्जन्म आदि के समस्त कारण मिट जाते हैं, आत्मा के समस्त आवरण हट जाते हैं, स्वाभाविक गुण सर्वदा के लिए प्रकट हो जाते हैं अर्थात् मोक्ष मिल जाता है। यह मोक्ष सातवाँ तत्व है।

यह नित्य स्मरण रखना चाहिए कि मोक्ष की प्राप्ति पुण्य के कार्यों से नहीं होती। पुण्य के कार्यों से सांसारिक सुख और ऐश्वर्य मिल सकता है, स्वर्ग मिल सकता है किन्तु मोक्ष नहीं। जब शुभ और अशुभ, पाप और पुण्य सभी प्रकार के कर्मों का नाश होगा तभी मोक्ष मिलेगा। अतएव मोक्ष के लिए कर्म को छोड़ना, संसार को छोड़ना अत्यन्त आवश्यक है। किंतु समस्त मनुष्यों में संन्यास की योग्यता नहीं है अथवा यों कहना चाहिये कि शक्ति नहीं है। इसलिए दो प्रकार से धर्म का उपदेश देना आवश्यक है--एक तो साधुओं अथवा संन्यासियों के लिए, दूसरे गृहस्थ अथवा श्रावकों के लिए।

श्रावकों को चाहिए कि इस प्रकार जीवन निर्वाह करें कि अंत में सरलता के साथ निवृत्ति मार्ग ग्रहण कर सकें। श्रावकों को पाँच अणुव्रतों का पालन करना चाहिये—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। जान बूझकर किसी द्वीन्द्रियादिक त्रस प्राणी की हत्या न करना अहिंसा है। एकेन्द्रिय वाले पृथ्वीकाय आदि की हिंसा छोड़ना तो गृहस्थ के लिए असंभव है किंतु दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रिय वाले जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिए और न उन्हें किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाना चाहिए। अहिंसा के पाँच अतीचार हैं-छेदना, बाँधना, पीड़ा पहुंचाना, अधिक बोझा लादना, और अन्न जल रोकना। इन सब को बचाना चाहिए। शिकार कदापि नहीं खेलना चाहिए, मांस नहीं खाना चाहिए, सुरा-पान नहीं करना चाहिए क्योंकि इसमें अनेक जीव होते हैं। इसी प्रकार मधु का भी सेवन नहीं करना चाहिए कठूमर, पीपर, बड़ और पाकर-ये पाँच उदुम्बर फल भी छोड़ देने चाहिए क्योंकि इनके भीतर अनेकजीव रहते हैं। समस्त जैन ग्रंथों में अहिंसा पर सर्वापेक्ष अधिक बल दिया गया है। स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि सिंह, व्याघ्र आदि हिंसा करने वाले जीवों को भी नहीं मारना चाहिए।

दूसरा अणुव्रत सत्य है। मिथ्या कभी न बोलना चाहिए। अप्रिय, निंदनीय,

कठोर, पापपूर्ण, प्रलाप रूप बात कभी न कहनी चाहिए। कभी चुगली न करनी चाहिए। यदि गृहस्थ अपने व्यवसाय के कारण पापसहित वाणी का पूर्ण रूप से त्याग नहीं कर सकता तो कम से कम मिथ्याभाषण का तो त्याग करना ही चाहिए। अस्तेय तीसरा अणुव्रत है। इसका पालन तभी होगा जब कि चोरी कभी न की जाय। चोरी करना भी एक प्रकार की हिंसा है। न किसी को चोरी करने का उपाय बताना चाहिए, न चोरी का माल लेना चाहिए, न उत्तम वस्तु में खोटी वस्तु मिलानी चाहिए, न राजा की आज्ञा का उल्लंघन करना चाहिए, न बाँट तराजू आदि में धोखा देना चाहिए। चौथा अणुव्रत ब्रह्मचर्य है यदि और कुछ न हो सके तो कम से कम पराई स्त्री का त्याग तो कर ही देना चाहिए और काम की तीव्र तृष्णा मिटा देनी चाहिए।

पाँचवाँ अणुव्रत अपरिग्रह है। इसका पालन करने वाले को चाहिए कि जहाँ तक हो सके, सांसारिक झंझटों को कम कर दे। यदि कुछ न हो सके तो कम से कम पराई सम्पत्ति में तनिक भी ममता न होनी चाहिए। अपनी सम्पत्ति में भी अधिक ममता नहीं करनी चाहिए। केवल अपनी आवश्यकता के अनुसार धन धान्य का संचय करना चाहिए। शेष में स्पृहहीनता होनी चाहिए। राग, द्वेष क्रोध, मान, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा आदि का त्याग करना चाहिए। अणुव्रतों का यथाविधि पालन करने से स्वर्ग में अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, महागुण सम्पन्न देवजन्म प्राप्त होता है, अवधि ज्ञान होता है अर्थात् क्षेत्र विशेष की समस्त बातों का ज्ञान होता है।

किन्तु यह सुख भी चिरस्थायी नहीं है अतएव मनुष्य को केवल अणुव्रतों पर ही सन्तोष न करना चाहिये। तीन गुणव्रतों का भी पालन करना चाहिये। दिग्व्रत, अनर्थ दण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाण—ये ही तीन गुणव्रत हैं। दस दिशाओं में अपने आने-जाने की मर्यादा को बाँध देना दिग्व्रत है। उन समस्त कामों को छोड़ देना जिनमें कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता किन्तु पाप की ही अधिक सम्भावना है अनर्थ दण्ड विरति का गुणव्रत है। अपने एक बार अथवा अनेक बार भोग करने की वस्तुओं का परिमाण बाँध लेना भोगोपभोग परिमाण गुणव्रत है। इनके भी अतीचार वर्णन किये गये हैं। पाप का उपदेश, हिंसादान,

अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या—ये अनर्थ दण्ड के अतीचार हैं। दुःश्रुति से उन शास्त्रों का अभिप्राय है जो मिथ्या उपदेश देते हैं; राग, द्वेष, मद अथवा काम उत्पन्न करते हैं; आरम्भ अर्थात् व्यवसाय, संग अर्थात् धन, धान्य आदि परिग्रह, साहस अर्थात् वीरता आदि के करने के सम्बन्ध में अनुचित उपदेश करते हैं। भोगोपभोग परिमाण व्रत के भी पाँच अतीचार हैं—अनुप्रेक्षा अर्थात् परिणाम के राग को न घटाना; अनुस्मृति अर्थात् पहिले भोगे हुए विषयों को स्मरण करना; अतिलौल्य अर्थात् भोग के समय अधिक आसक्ति; अति तृष्णा अर्थात् आगामी भोग की अभिलाषा; अनुभव अर्थात् भोग का ध्यान करना।

गुणव्रतों के अतिरिक्त चार शिक्षाव्रत हैं----देशावकाशिक अर्थात् दिशाओं में जाने की मर्यादा को दिन-प्रतिदिन कम करना; सामायिक अर्थात् समस्त पापों को छोड़कर नित्य एकान्त शान्त वन, भवन अथवा चैत्यालय में बैठकर अथवा खड़े होकर साम्यभाव को प्राप्त हुए देवों का एकाग्र मन से चिन्तन करना; प्रोषधोपवास अर्थात् अष्टमी, चतुर्दशी आदि को धर्म ध्यान में तत्पर होकर उपवास करना और वैयाकृत्य अर्थात् कपट कषाय ईर्ष्या आदि को छोड़कर आहार औषधि उपकरण आवास का दान करना मुनियों की पूजा और सेवा करना, जिनेन्द्र अर्थात् अरहंतदेव की पूजा करना। इन्हीं भिन्न-भिन्न व्रतों के आधार पर सोलह भावनाओं की कल्पना की गई है।

दूसरे प्रकार से धर्म के दस लक्षण कहे गये हैं। उत्तम क्षमा अर्थात् पूर्ण रूप से क्रोध पर विजय प्राप्त करना; उत्तम मार्दव अर्थात् गर्व को जीत कर मृदुता धारण करना; उत्तम आर्जव अर्थात् कुटिलता को छोड़ कर सरलता को ग्रहण करना; उत्तम सत्य उत्तम शौच अर्थात् हिंसा, लोभ, माया; मद, मोह आदि को दूर कर तथा मुक्ति पाने वालों का ध्यान कर आत्मा को पवित्र करना; उत्तम संयम अर्थात् अणुव्रतों को धारण कर पथ्य से रहना; उत्तम तप अर्थात् सिद्ध नहीं अर्थात् इन्द्रियों का निरोध करना, संसार के विषयों से विरक्त होना, वन, पर्वत अथवा कन्दरा में नंगे शरीर पर गर्मी, सर्दी वर्षा, मच्छर, मक्खी, सर्प, बिच्छू, सिंह व्याघ्र, रीछ आदि के उत्पातों को सहना; उत्तम त्याग अर्थात् धन-सम्पत्ति आदि को विष के समान समझ कर त्याग करना, भिन्न-भिन्न प्रकार के दान देना; उत्तम आकिंचन्य अर्थात् यह अनुभव करना कि आत्मा के वास्तविक रूप सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान,

सम्यक् चरित्र को छोड़ कर मेरा अपना कुछ नहीं है, कोई अन्य द्रव्य मेरा नहीं है, मैं किसी अन्य द्रव्य का नहीं हूँ, उत्तम ब्रह्मचर्य अर्थात् समस्त विषयों में अनुराग छोड़कर आत्मा को आत्मा के ही ध्यान में लगाना। इस स्थल पर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि व्रत अथवा धर्म के पालन के लिए तीन शल्यों का अभाव अत्यन्त आवश्यकहै। पहिला शल्य निदान शल्य अर्थात् आगामी वांछा का शल्य है। दूसरा माया शल्य अर्थात् सरलता के स्थान पर मायाचार करना है। तीसरा मिथ्यात्वशल्य अर्थात् असत्य विश्वास करना है।

जैन धर्म के विद्वानों ने शास्त्रों के स्वाध्याय पर सर्वत्र बल दिया है। उन्होंने स्वाध्याय के पाँच प्रकार कहे हैं। अध्ययन करना, जिज्ञासा करना, अनुप्रेक्षा अर्थात् बारम्बार अर्थ पर मनन करना, आम्नाय अर्थात् त्रुटियों को छोड़ कर शुद्ध पाठ और धर्म का उपदेश। यह स्वाध्याय एक प्रकार का आभ्यंतरिक तप है। पाँच और आभ्यंतरिक तप हैं—प्रायश्चित्त जिसके नौ मुख्य भेद हैं और छोटे छोटे भेद तो अनेक हैं; विनय जिसके पाँच भेद हैं—दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय, तप विनय और उपचारविनय, वैयावृत्य अर्थात् ग्लानि का अभाव, दुखियों का उपकार पूजनियों की पूजा, कायोत्सर्ग अर्थात् आभ्यंतरिक क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा आदि और बाह्य धन-धान्य आदि का त्याग, समय आने पर भोजन आदि सब छोड़कर सल्लेखना करना अर्थात् मृत्यु का स्वागत करना, ध्यान अर्थात् एकाग्रचित्त होकर आत्मा के स्वरूप का ध्यान करना, अर्थात्-ध्यान, रौद्रध्यान आदि छोड़ना तथा सत्य का और धर्म का ध्यान करना।

धर्म ध्यान में बारह भावनाएँ नित्य सोचनी चाहिए। अनित्य अर्थात् देव, मनुष्य, पक्षी आदि सब अनित्य हैं, अशरण अर्थात् देव, दानव, मनुष्य आदि कोई भी ऐसा नहीं है जो कालचक्र से मुक्त हो, संसार अर्थात् अनादिकाल से जीव मिथ्यात्व और कर्म के कारण पराधीन चारों गतियों में भटक रहा है, एकत्व अर्थात् वास्तव में आत्मा अकेला है अन्यत्व अर्थात् कुटुम्ब, स्त्री, पुत्र, धन, सम्पत्ति सभी पृथक् हैं, अशुचि अर्थात् यह शरीर रुधिर, मांस, हड्डी और दुर्गन्ध से पूर्ण अपवित्र है, आस्रव अर्थात् मिथ्यात्व, कषाय, अव्रत आदि के अनुसार मनसा, वाचा और शरीर से शुभ तथा अशुभ कर्म का आस्रव होता है और जन्म, मरण का चक्र चलता है, संवर अर्थात् संयम आरंभत्याग अथवा सम्यग्दर्शन से कर्म का आस्रव रुक

जाता है, निर्जरा अर्थात् ज्ञानी, वीतरागी, मदरहित, निदान रहित, आत्मा बारह प्रकार का तप करके कर्मों को झाड़ देता है, लोक अर्थात् इसलोक में अनन्तानन्त जीव हैं, पुद्ग, धर्म अधर्म और आकाश हैं, लोक के परे अनन्तानन्त आकाश है, बोधि दुर्लभ अर्थात् एकतो मनुष्य का जन्म पाना दुर्लभ है, इसके अतिरिक्त उत्तम देश और काल में उत्पन्न होना दुर्लभ है, उस पर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दुर्लभ हैं, धर्म अर्थात् धर्म में श्रद्धा, ज्ञान और आचरण विरले ही मनुष्य करते हैं, सुख का मूल कारण धर्म है। धर्मध्यान चार प्रकार का है—पिण्डस्थध्यान, पदस्थध्यान रूपस्थध्यांन और रूपातीतध्यान। इनके भी अनेक भेद हैं और जो वास्तव में योग हैं। जैन शास्त्रों में शुक्लध्यान अथवा योग के और भी चार भेद किये गये हैं, उन समस्त विचार-धाराओं का उद्देश्य केवल इतना ही है कि ऊपर वर्णन किये गये उपदेशों को ग्रहण कर गृहस्थ को धर्म के अनुसार जीवन निर्वाह करना चाहिए और निरन्तर उत्तरोत्तर अध्यात्मिक उन्नति करनी चाहिए।

परहिंसा के साथ ही साथ आत्मघात करना भी जैन धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार निषिद्ध माना गया है। केवल जहाँ कायोत्सर्ग के सम्बन्ध में विचार प्रकट किये गये हैं वहाँ एक प्रकार के आत्मघात अथात् सल्लेखना के लिए आज्ञा प्रदान कर दी गई है। साथ ही साथ यह भी मत प्रकट किया गया है कि जराजीर्ण होने पर, असाध्य रोग से ग्रस्त होने पर अकाल पड़ने पर, कुराज्य आदि के कारण घोर संकट पड़ने पर मनुष्य को चाहिए कि वह शुद्ध मन होकर स्नेह, वैर, संग और परिग्रह का त्याग करदे, अपने कुटुम्बियों को तथा बाहर के मनुष्यों को प्रिय वचनों से क्षमा करदे, अपने समस्त पापों की पूर्ण रूप से आलोचना करे, महाव्रतों का आरोपण करे, शोक, भय, विषाद आदि का परित्याग करदे, भोजन का भी त्याग करदे, फिर जल का त्याग करदे और तब समाधि मरण करे।

यद्यपि यह माना जा सकता है कि गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी आत्मा की अधिक उन्नति हो सकती है तथापि यह कहना ही पड़ता है कि पूर्ण रूप से उन्नति नहीं हो सकती क्योंकि गृहस्थाश्रम में कर्म का क्षय पूर्ण रूप से नहीं हो सकता और न सकल चारित्र ही हो सकता है अतएव पूर्ण ज्ञान अथवा मोक्ष असंभव है। इसीलिए जब हो सके तब गृहस्थाश्रम को छोड़कर वैराग्य ग्रहण करना चाहिए। जैन धम के सिद्धान्तों के अनुसार विरक्तों अथवा मुनियों का धर्म लगभग वैसा

ही है जैसा कि उच्चकोटि के गृहस्थों का होना उचित समझा गया है। यदि कुछ अन्तर है तो केवल इतना ही कि मुनि-धर्म में कर्म बहुत कम हैं किन्तु तप और ध्यान अधिक हैं तथा वैराग्य, ज्ञान एवं चारित्र की मात्रा भी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई सी दिखाई पड़ती है। बाईस परीषहों का वर्णन कर कहा गया है कि इन सब पर विजय प्राप्त करना मुनि के लिए अत्यन्त आवश्यक है। क्षुधा, तृषा, शीत, उष्णा, नग्न, याचना, अरति, अलाभ, दंशमशकादि, आक्रोश, रोग, मल, तृण-स्पर्श, अज्ञान, अदर्शन, प्रज्ञा, सत्कार पुरस्कार, शय्या, चर्या वधबंधन, निषद्या और स्त्री – इन्हीं सब को परीषह के नाम से उल्लेख किया गया है।

इन सब का तात्पर्य यह है कि मुनि,धर्म का पालन करने के लिए आवश्य-कता इस बात की है कि अधिक भूख लगने पर भी भोजन की चिन्ता न करनी चाहिए; अधिक पिपासा से व्याकुल नहीं होना चाहिए; तपस्या केलिए पद्मासन में बैठ जाने पर शीत से विचलित नहीं होना चाहिए; भीषण गर्मी को भी सहन करते हुए तपस्या करनी चाहिए। ऊन, सूत, घास, वल्कल, चर्म आदि और सभी प्रकार के वस्त्रों को त्याग कर वन में एकाकी रहना और शरीर सम्बन्धी कोई विकार न होने देना चाहिए, किसी से कुछ भी न माँगना चाहिए; इष्ट और अनिष्ट समस्तवस्तुओं से सम्बन्ध रखने वाला राग-द्वेष छोड़ देना चाहिए तथा शत्रु और मित्र, मिट्टी और सोना, राजभवन और घोर अरण्य सभी को समान समझना चाहिए; भोजन के लिए जाने पर भी यदि भोजन न मिले तो खिन्न न होना चाहिए; वन में नंगे शरीर से मच्छर, सर्प खनखजूर आदि के लिप-टने पर भी शान्ति पूर्वक ध्यान में लगे रहना चाहिए; नग्न अवस्था पर दुष्टों के कटु बचनों को तनिक भी अनुचित नहीं समझना चाहिए तथा चित्त में पूर्ण क्षमा धारण करना चाहिए; रोग की पीड़ा सहते हुए भी किसी प्रकार की दवा नहीं करनी चाहिए; शरीर के अधिक मलिन हो जाने पर भी स्नान न करके चित्त को निर्मल रखना चाहिए; काँटा, कंकड़ चुभ जाने पर उन्हें निकालने का कोई प्रयत्न नहीं करना चाहिए और न खिन्न ही होना चाहिए; तपस्या करने पर भी यदि पूर्ण ज्ञान न प्राप्त हो तो खेद न प्रकट करना चाहिए तथा अपनी अज्ञानता पर दूसरों के आक्षेपों से दुःखी न होना चाहिए; यदि तपस्या करने पर भी कोई ऋद्धि सिद्धि न दिखाई पड़े तो भी संयम की शक्ति में संशय न करना, खेद न करना, सम्यग्द-

र्शन को दूषित न करना और अपने मार्ग पर स्थिर रहना चाहिए; पूर्ण रूप से बुद्धि का विकास होने पर किसी भी प्रकार का अभिमान नहीं करना चाहिए; ऊँचे से ऊँचा सत्कार और तीव्र से तीव्र तिरस्कार होने पर भी समान भाव धारण करना चाहिए; कंकड़, पत्थर, काँटे आदि से पूर्ण धरती पर सोने में कोई दुःख न मानना चाहिए; सवारी की इच्छा न करते हुए, मार्ग का कष्ट न मानते हुए पृथ्वी परिष्कार करते हुए चलना चाहिए; दुष्टों के द्वारा बाँधे जाने पर अथवा मारे जाने पर समता के साथ दुःख सहना चाहिए; निर्जनवन में, हिंसक जीवों के स्थानों में, अंधकारपूर्ण कन्दराओं में, श्मशान आदि में रहते हुए भी किसी प्रकार का दुःख नहीं मानना चाहिए; सुन्दर से सुन्दर स्त्रियों के हाव-भाव आदि से प्रभावित होकर किसी भी भाँति विचलित नहीं होना चाहिए।

यह सब जिस कर्म का नाश करने के लिए किया जाता है वह आठ प्रकार का कहा गया है—१-ज्ञानावरणीय, २-दर्शनावरणीय, ३-वेदनीय, ४-मोहनीय, ५-आयु, ६-नाम, ७-गोत्र और ८-अन्तराय। ज्ञानावरणीय कर्म पर्दे के समान आत्मा पर पड़ जाता है और यथार्थ तत्वज्ञान नहीं होने देता। दर्शनावरणीय कर्म यथार्थ श्रद्धा नहीं होने देता। वेदनीय कर्म भले ही कुछ दिनों तक सुख लाभ कराये किन्तु अन्त में प्रायः दुःख ही देता है। यह मधु लगी हुई छूरिका के ही समान है। मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—१--दर्शनमोहनीय और २--चारित्रमोहनीय। यह मदिरा के समान आत्मा को उन्मत्त कर देता है और संसार के मोह-जाल में फँसा देता है। आयुकर्म बारम्बार जन्म कराता है और जब तक रहता है तब तक जन्म-मरण का चक्र चलाता रहता है। नाम कर्म निश्चय करता है कि आत्मा, देव मनुष्य, पक्षी आदि किस गति को प्राप्त होंगे। गोत्र कम से उत्पन्न होने के गोत्र की उच्चता अथवा नीचता स्थिर होती है। अन्तराय कर्म दान, लाभ आदि में विघ्न पहुंचाता है। इन समस्त कर्मों के परमाणु भावनाओं से खिचकर आत्मा से चिपट जाते हैं और अनर्थ करते हैं।

कर्मबन्ध चार प्रकार का कहा गया है—१-प्रकृतिबन्ध, २-स्थितिबन्ध, ३-अनुभागबन्ध और ४-प्रदेशबन्ध। जीव के साथ अपने स्वभाव के अनुसार कर्म का सम्बन्ध होना प्रकृतिबन्ध है। पृथक्-पृथक् कर्मपरमाणुओं का पृथक्-पृथक् मर्यादा के लिए स्थिर रहना स्थितबन्ध है।

दर्शनमोहनीय कर्म की स्थित अधिक से अधिक सत्तर कोड़ा कोड़ी सागर की है; चरित्रमोहनीय कर्म की स्थिति अधिक से अधिक चालीस कोड़ा कोड़ी सागर की है; ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय कर्म की स्थिति अधिक से अधिक चालीस कोड़ा कोड़ी सागर की है; नाम और गोत्र कर्म की स्थिति अधिक से अधिक बीस कोड़ा कोड़ी सागर की है; आयु कर्म की स्थिति अधिक से अधिक तैंतीस कोड़ा कोड़ी सागर की है। एक कोड़ा कोड़ी सागर में इतने अधिक वर्ष होते हैं कि अङ्कगणित के द्वारा प्रकट कर सकना सर्वथा असम्भव-सा है। कर्मों की कम से कमस्थिति क्षणों की है। वेदनीय कर्म की स्थिति बारह क्षणों की है, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति आठ क्षणों की है और शेष कर्मों की अन्तःक्षण है। इस स्थल पर यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि स्पष्ट हो जाय कि कौन-सा कर्म अधिक से अधिक कब तक रह सकता है और कम से कम कब तक अवश्य रहेगा। किन्तु नवीन कर्मों का बन्ध संसारी जीव निरन्तर करता रहता है और इस प्रकार चक्र मानो असंख्य वर्षों तक चला करता है। जिस समय कर्म उदय होकर फल देने लगते हैं उस समय उनका सम्बन्ध अनुभागबन्ध कहा जाता है। कर्म के अनुसार यह कभी शुभविपाक होता है और कभी अशुभ विपाक। आत्मा के प्रदेशों और पुद्गल कर्म परमाणुओं के प्रदेशों का एक साथ रहना प्रदेशबन्ध कहा जाता है।

शुद्धनय से तो समस्त जीव शुद्ध हैं किन्तु अशुद्धनय से उनके चौदह प्रकार माने गए हैं जो गुणस्थान कहे जाते हैं। पहिला गुणस्थान मिथ्यात्व है, इसमें जीव सर्वज्ञ वीतराग के उपदेश में श्रद्धा न करके मिथ्या बातें मानता है। दूसरा गुण-स्थान सासादन है, इसमें जीव मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के मध्य में रहता है। तीसरा गुणस्थान मिश्र है, इसमें जीव कुछ उपदेश तो सर्वज्ञ वीतराग का मानता है और कुछ दूसरों का। चौथा गुणस्थान अवरति सम्यग्दृष्टि है, इसमें जीव सर्वज्ञ वीतराग के उपदेश को तो मानता है किन्तु इन्द्रिय सुखों में लगा रहता है। पाँचवाँ गुणस्थान देशविरत है, इसमें जीव गृहस्थाश्रम में रहता हुआ अणुव्रत आदि का पालन करता है। पाँचवें गुणस्थान में रहने वाले श्रावकों के ग्यारह भेद बताए गए हैं। वे समस्त भेद प्रतिमा कहे जाते हैं। उन सबका उल्लेख इस प्रकार है:—

१—दार्शनिक जो सम्यग्दर्शन धारण करता है, मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलों को त्याग देता है। २–व्रतिक जो त्रस जीवों की हिंसा एक दम छोड़

देता है और पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों तथा चार शिक्षाव्रतों का पालन करता है। ३-तीनों काल में सामयिक करने से तीसरी प्रतिमा को प्राप्त करता है। ४--प्रोषधोपवास करने से जीव चौथी प्रतिमा को प्राप्त करता है। ५--सचित्त के त्याग से पाँचवीं प्रतिमा प्राप्त होती है। ६-दिन को नित्य ब्रह्मचर्य रखनेसे छठीप्रतिमा प्राप्त होती है। ७-नित्य ब्रह्मचारी रहने से श्रावक सातवीं प्रतिमा को प्राप्त करता है। ८--आरम्भ आदि समस्त व्यापार छोड़ देने से आठवीं प्रतिमा प्राप्त होती है। ९--वस्त्र आदि परिग्रह छोड़ देने से नवीं प्रतिमा को मनुष्य प्राप्त कर लेता है। १०--जब मनुष्य घर के कामों में जिनमें हिंसा होती ही है, सम्मति देना भी छोड़ देता है तब वह दसवीं प्रतिमा प्राप्त कर लेता है। ११--अपने लिए बनाया हुआ भोजन भी जो छोड़ देता है वही ग्यारहवीं प्रतिमा का श्रावक कहलाता है। इन ग्यारह प्रतिमाओं में पहली छः जघन्य, फिर तीन मध्यम और अन्तिम दो उत्तम मानी गई हैं। ये सब पाँचवें गुणस्थान के भेद हैं। इनको भलीभाँति समझ लेने से देशविरत गुण स्थानीय जीव का कल्याण अवश्य होगा।

छठा गुणस्थान प्रमत्तसंयत है, इसमें वे जीव हैं जिन्होंने क्रोध आदि का त्याग कर दिया है, वाह्य रूप से हिंसा असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह का त्याग कर दिया है, जिनको सम्यग्दर्शन है और जो शुद्ध आत्मा से उत्पन्न सुख का अनुभव कर सकते है किन्तु जिनको कभी-कभी दुःस्वप्न होते हैं और कभी-कभी प्रमाद भी होता है। सातवाँ गुणस्थान अप्रमत्तसंयत है, इसमें जीव के व्यक्त अर्थात् प्रकट और अव्यक्त अर्थात् प्रच्छन्न प्रमाद जाते रहते हैं। आठवाँ गुणस्थान अपूर्व करण है, इसमें पुरातन संज्वलन कषाय का मन्द उदय होने पर जीव को अपूर्व आह्लाद का अनुभव होता है। नवाँ गुणस्थान अनिवृत्ति करण है, इसमें जीव देखे गये, सुने गये और अनुभव किये गये समस्त संकल्प-विकल्पों को छोड़कर आत्म स्वरूप का एकाग्र ध्यान करता है, चारित्रमोहनीय कर्म की इक्कीस प्रकार की प्रकृतियों के उपशमन और क्षपण में समर्थ होता है। दसवाँ गुणस्थान सूक्ष्मसांपराय है, इसमें जीव सूक्ष्म आत्मतत्व की भावना की शक्ति से सूक्ष्म लोभ कषाय का उपशमन और क्षपण करता है। ग्यारहवाँ गुणस्थान उपशान्त मोह है, इसमें आत्मा के ज्ञान की शक्ति से समस्त मोह शान्त हो जाता है। बारहवाँ गुणस्थान क्षीणमोह है, इसमें शुद्ध आत्मा कीभावना के प्रताप से कषाय एकदम नष्ट हो जाते हैं। तेरहवाँ गुणस्थान संयोगिनी केवलिजिन

है, इसमें आत्मा मोह को नष्ट कर देता है, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, और अन्तराय कर्मों का नाश कर देता है। उस समय आत्मा का शुद्ध रूप प्रकट हो जाता है, पूर्ण निर्मल केवल ज्ञान हो जाता है, लोकालोक समस्त हस्त कमल के समान भासने लगते हैं। चौदहवाँ गुणस्थान अयोगिकेवलिजिन है, इसमें आत्मा के प्रदेशों का संचलन भी बंद हो जाता है और सवदा के लिये जन्म-मरण-रहित, कर्म रहित, परम अलौकिक, अनिर्वचनीय, एकमात्र अनुभवगम्य सुख हो जाता है। एक दूसरी दृष्टि से जैन धर्म के ग्रन्थों में चौदह मार्गणाओं का भी वर्णन किया गया है—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार। इन सबकी व्याख्या में ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है जो दूसरी व्याख्याओं में न आ गया हो।

जैन धर्म के ग्रन्थों में सम्यग्ज्ञान के स्वरूप का वर्णन करते हुए ज्ञान के पाँच भेद कर दिये गये हैं —१-मतिज्ञान, १--श्रुतज्ञान. ३-अवधिज्ञान, ४-मनः पर्यय ज्ञान और ५-केवलज्ञान।

मतिज्ञान पाँच इन्द्रियों और मन से होता है किन्तु ये इनके वाह्य कारण हैं। अन्तरंगकारण यह है कि मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से यह प्रकट होता है। इसके चार भेद हैं—१-अवग्रह (सत्ता मात्र जानना), २-ईहा (विशेष प्रकार से जानना), ३-अवाय (इस विशेष ज्ञान का चिन्हों अथवा लक्षणों द्वारा निश्चय करना) ४-धारणा (ऐसा ज्ञान करना कि कालांतर में भी न भूले)। पदार्थों की दृष्टि से यह मतिज्ञान छः प्रकार का है—१--वहु (वहुत) से पदार्थों का अवग्रह आदि), २-बहुविधि (अनेक प्रकार के पदार्थों का अवग्रह आदि), ३-क्षिप्र (शीघ्रता से पदार्थों का ग्रहण), ४-अनिःसृत (थोड़े-से अवग्रह आदि के आधार पर अधिक समझ लेना), ५-अनुक्त (बचन सुने विना ही अभिप्राय जान लेना) और ६-ध्रुव (अधिक समय तक यथार्थ निश्चल रूप से पदार्थों का जानना)। ठीक इनके विपरीत छः भेद और हैं--१-अल्प, २--एक विधि, ३--अक्षिप्र, ४-निःसृत, ५—उक्त और ६-अध्रु। इस प्रकार पदार्थ की दृष्टि से मतिज्ञान के बारह भेद कहे गये हैं।

मतिज्ञान के निमित्त से श्रुति ज्ञान होता है। इसके दो भेद कहे गये हैं-द्रव्य श्रुत और भावश्रुतद्रव्यश्रुत शास्त्रोक्त ज्ञान है और शास्त्रों के अनुसार दो प्रकार का

है–अङ्गप्रविष्ट और अङ्गवाह्य। अङ्गप्रविष्ट के बारह भेद कहे गये हैं–१-आचारांग, २–सूत्रकृतांग, ३–स्थानांग, ४–समवायांग, ५-व्याख्याप्रज्ञप्ति अङ्ग, ६–ज्ञातृधर्म-कथांग ७-उपासकाध्ययनांग, ८-अन्तकृद्दशांग, ९-अनुत्तरौपपादिकदशांग, १०-प्रश्न व्याकरणांग ११-विपाकसूत्रांग, और १२-दृष्टिप्रवादांग। ये जैन धर्म के मुख्य शास्त्र हैं और प्रामाणिक भी हैं। इनके पढ़ने अथवा सुनने से अधिक ज्ञान होता है। अल्प बुद्धि अथवा कम पढ़े-लिखे मनुष्यों के लिए अङ्गवाह्य है। इनके भी चौदह भेद कहे गये हैं-,१–सामायिक, २–चतुर्विंशत्व, ३–वेदना, ४–प्रतिक्रमण, ५–वैनयिक, ६–कृतिकर्म, ७–दशवैकालिक, ८–उत्तराध्ययन, ९–कल्पव्यवहार, १०–कल्पा-कल्प, ११–महाकल्प, १२–पुंडरीक, १३, महापुंडरीक और, १४–निषिद्धिका। इनमें अंगों के मोटे-मोटे सिद्धान्त और मुख्य उपदेश संक्षेप में कहे गये हैं।

तीसरा अवधिज्ञान वह है जो क्षेत्र, काल, भाव और द्रव्य की मर्यादा में आत्मा के प्रत्यक्ष रूप से अर्थात् इन्द्रियों की सहायता के बिना होता है। इसके दो भेद हैं–१–भाव प्रत्यय जो देवों और नारकीय जीवों को होता है और २ क्षयोप-शमनिमित्तक जो अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षय होने से जीवों में उत्पन्न होता है। क्षयोपशमनिमित्त अवधिज्ञान छः के भेद हैं–१–अनुगामी जो दूसरे क्षेत्र या जन्म में भी जीव के साथ जाता है। २–अननुगामी जो इस प्रकार साथ नहीं जाता। ३–वर्द्धमान जो बढ़ता रहता है। ४–हीयमान जो घटता रहता है। ५–अवस्थित जो एक सी दशा में रहता है और ६–अनवस्थित जो घटता बढ़ता रहता है। दूसरे प्रकार से अवधिज्ञान के तीन भेद हैं–१–देशावधि, २–२परमावधि और ३–सर्वावधि। भावप्रत्यय तो देशावधि ही होता है और क्षयोपशमनिमित्तक तीनों प्रकार का हो सकता है।

चौथा मनः पर्ययज्ञान भी इन्द्रियजन्य नहीं है। आत्मा की स्वाभाविक शक्ति के विकास से अर्थात् समस्त कर्मों के शान्त हो जाने से होता है। मनःपर्ययज्ञान दूसरों के मन की बातें जनाता है। इसके दो भेद हैं–ऋजुमति जो दूसरे के मन में सरलता से ठहरे हुए पदार्थों का ज्ञान कराता है और २–विपुलमति जो दूसरे के मन में सरलता अथवा कुटिलता से ठहरे हुए पदार्थों का ज्ञान कराता है विपुल-मतिमनःपर्यय ज्ञान श्रेष्ठ है क्योंकि वह परिणामों की विशेष विशुद्धता से होता है। और केवल ज्ञान तक स्थिर रहता है।

पाँचवाँ केवलज्ञान वह है जो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि कर्मों के पूर्णतया क्षय होने के बाद प्रकट होता है, जो वास्तव में शुद्ध आत्मा का स्वभाव है और जो एक समय में ही प्रत्यक्ष रूप से समस्त द्रव्यों को, समस्त क्षेत्रों को समस्त पर्यायों को जानता है। किसी प्रकार की कोई भी वस्तु केवल ज्ञान के बाहर नहीं हो सकती। उसकी सीमा में सब कुछ सम्मिलित है।

पदार्थ के सर्वदेश का ज्ञान जिस प्रकार से होता है उस प्रकार को प्रमाण कहते हैं। जो पदार्थ के एक देश का ही ज्ञान प्रदान करता है उसे नय कहते हैं। प्रमाण के सम्बन्ध में जैन दार्शनिकों का सिद्धान्त है कि इसके दो मुख्य भेद हैं--एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद हैं--१--पारमार्थिक प्रत्यक्ष और २--सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष। पारमार्थिक प्रत्यक्ष से तात्पय उस ज्ञान का है जो आत्मा को अपने ही अधीन रहकर अपनी ही विशुद्धता से होता है, इन्द्रियों के द्वारा नहीं। इसके दो भेद हैं--१--एक देशपारमार्थिक प्रत्यक्ष जो एक देशीय है अर्थात् सीमित है जैसे अवधिज्ञान और मनः पर्ययज्ञान। २--सर्वदेश पारमार्थिक प्रत्यक्ष जो सर्वव्यापक है अर्थात् जिसमें समस्त ज्ञान सम्मिलित है। ऐसा ज्ञान केवल ज्ञान है जो कर्म का बन्ध छूटने पर और आत्मा के शुद्ध स्वरूप के पूर्ण विकास के होने पर होता है। सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो नाक, कान, और नेत्र, जीभ, आदि इन्द्रियों के द्वारा होता है। जैन परमार्थ दृष्टि से तो यह भी परोक्षज्ञान है क्योंकि वास्तविक प्रत्यक्ष ज्ञान तो आत्मा के भीतर ही है और कर्म का आवरण हटने पर आप से आप प्रकट होता है किन्तु व्यवहार की दृष्टि से इन्द्रियजन्यज्ञान को प्रत्यक्ष माना है। जो ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है वह परोक्ष है और पाँच प्रकार का है--१--स्मृति (पहिली बात का स्मरण करने से ही उत्पन्न हुआ ज्ञान), प्रत्यभिज्ञान) पहिली बात का स्मरण करके प्रत्यक्ष का निश्चय करना ३--तर्क (व्याप्तिज्ञान, व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध का ज्ञान जैसे जहाँ धुआँ है वहाँ आग है), ४--अनुमान (लक्षणों अथवा संकेतों से निश्चय करना) और ५--आगम (आप्त पुरुषों के रचे हुए शास्त्रों का अध्ययन अथवा श्रवण करने से प्राप्त किया गया ज्ञान)।

प्रमाण के द्वारा जाने गये पदार्थ के किसी एक धर्म को प्रधानता से अनुभव कराना नय है। इसके दो भेद हैं--१--द्रव्यार्थिकनय जो द्रव्य की प्रधानता से

पदार्थ का अनुभव कराता है और २--पर्यायार्थिकनय जो पर्याय की प्राधनता से पदार्थ का अनुभव कराता है। द्रव्यार्थिकनय के तीन भेद हैं। १-नैगम अर्थात् संकल्प मात्र से पदार्थ का ग्रहण करना जैसे घड़ा बनाने की मिट्टी लाने को जो जाता है वह कहे कि घड़े के लिए जाता हूँ। २-संग्रह अर्थात् सामान्य रूप से पदार्थों का ग्रहण करना जैसे छः द्रव्य अथवा आठ कर्म और ३-व्यवहार अर्थात् सामान्य विषय की विशेषता करना जैसे द्रव्य के भाग करना अथवा कर्म के भाग करना।

पर्यायार्थिकनय के चार भेद हैं-१-ऋजुसूत्र जो केवल वर्तमान पर्याय का ग्रहण कराता है। २-शब्द जो व्याकरण आदि के अनुसार दोष दूर कराता है। ३-समभिरूढ़ जो पदाथ में प्रधानता से एक अर्थ को आरूढ़ करता है जैसे गौ शब्द का अर्थ है जो गमन करे किन्तु बैठी हुई गाय को भी गाय, कहते हैं। ४-एवं भूत जो वर्तमान क्रिया को उसी प्रकार से कहता है जैसे केवल चलती हुई गाय को गाय कहना। जैनधर्म के अनेक ग्रंथों में नय के दो विभाग किये गये हैं। १-निश्चयनय जो पदार्थ के स्वरूप को ही प्रधानतया बतलाता है। ३-व्यवहारनय, उपचारनय अथवा उपनय जो किसी प्रयोजन से नैमित्तिक भाव को बतलाता है अथवा एक पदार्थ के भाव को दूसरे पदाथ में आरोपण करता है। निश्चनय दो प्रकार का है-शुद्ध और अशुद्ध। व्यवहारनय तीन प्रकार का है-सद्भूतव्यवहार, असद्भूतव्यवहार और उपचरितव्यवहार। जैन धर्म के विद्वान् आचार्यों ने इस बात पर अधिक बल दिया है कि किसी पदार्थ को समझने के लिए उसे अनेक प्रकार के दृष्टिकोणों से देखना चाहिए। एक ही पदार्थ में अपेक्षा पूर्वक नाना प्रकार के धर्म रहते हैं और विरुद्ध धर्म भी रहते हैं। यह मत स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद कहा जाता है। ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी में शंकराचार्य ने अपने भाष्य में स्याद्वाद पर अधिक कटाक्ष किया है। अनेक ब्राह्मण दार्शनिकों ने स्याद्वाद को संशयवाद अथवा अनिश्चितवाद कहा है किन्तु यथार्थ यह बात नहीं है। जैन धर्म पदार्थ के गुणों अथवा धर्मों में संशय नहीं करता। वह तो केवल इतना ही मानता है कि दृष्टिकोण के अनुसार ये गुण अथवा धर्म नाना प्रकार के हैं। जैसे पुरुष एक है किन्तु अपने पिता की दृष्टि से वह पुत्र है, स्वयं अपने पुत्र की दृष्टि से वह पिता है, भतीजे की दृष्टि से चचा है किन्तु पिता के भाई की दृष्टि से वह भतीजा है- बड़े भाई की दृष्टि से वह छोटा भाई है और छोटे भाई की दृष्टि से वह बड़ा भाई है,

स्त्री की दृष्टि से वह स्वामी है और मामा की दृष्टि से वह भानजा है। इसी प्रकार शरीर के दृष्टिकोण से देखिए तो मनुष्य मरता है किन्तु आत्मा के दृष्टिकोण से देखिये तो वह मर ही नहीं सकता।

स्याद्वाद का दार्शनिक प्रतिपादन सप्तभंगी न्याय है अर्थात् उसमें सात प्रकार के पक्षाभास हैं। १--स्वयं वस्तु की अपेक्षा से देखिए तो उसका अस्तित्व है। यह हुआ स्यात् नास्ति। २-किन्तु किसी वस्तु की अपेक्षा से देखिए तो पहिली वस्तु का अस्तित्व नहीं है। यह हुआ स्यात् नास्ति। ३-एक दम इन दोनों वस्तुओं की दृष्टि से देखिए तो कहना पड़ेगा कि है भी और नहीं भी है। यह हुआ स्यात् अस्ति नास्ति। ४--किन्तु यह भी हो सकता है कि एक वस्तु के सम्बन्धमें अन्य दो वस्तुओं की अपेक्षा से कुछ नहीं कहा जा सकता। यह हुआ स्यात् अवक्तव्य। ५--यह भी संभव है कि इन दो अन्य वस्तुओं की अपेक्षा से तो कुछ नहीं कहा जा सकता किन्तु केवल एक वस्तु की अपेक्षा से कहा जा सकता है कि वह है। यह हुआ स्यात् अस्ति अवक्तव्य। ६--किन्तु यहाँ दूसरी वस्तु की अपेक्षा से कहा जा सकता है कि वह नहीं है। यह हुआ स्यात् नास्ति अवक्तव्य। ७—एक वस्तु के लिए अन्य दो वस्तुओं के निकट एकदम उत्तर देना असंभव भले ही हो किन्तु यदि क्रम से कहा जा सके कि यह है और नहीं है तो स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य हुआ। ऐसी दशा में यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जैन दार्शनिकों ने पदार्थों को समझने के लिए जो विचार प्रकट किये हैं। वे कटाक्ष के योग्य नहीं हैं। उन पर जितना हीं मनन किया जायगा उतना हीं पदार्थों के सम्बन्ध में ज्ञान अधिक होगा और ज्ञान की वृद्धि के साथ ही साथ आत्मा की भी उन्नति होंगी। जब तक आत्मा की उन्नति न होगी तब तक सांसारिक उलझनें निरन्तर कष्ट पहुंचाती रहेंगी। सांसारिक उलझनों से मुक्ति दिलाना ही धर्म और दर्शन का मुख्य उद्देश्य है किन्तु मुक्ति के लिए धर्म और दर्शन के सिद्धान्तों को अपनाना भी आवश्यक है।

जैन तीर्थङ्कर महावीर स्वामी के समय में अर्थात् ईसवी पूर्व की छठी-पाँचवीं शताब्दी में कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन के पुत्र गौतम सिद्धार्थ जरा, रोग, मृत्यु आदि के दृश्य को देखकर संसार से विरक्त हो गए थे। छः वर्ष तक व्यर्थ तपस्या करने के बाद उन्होंने गया में यथार्थ बुद्धि प्राप्त की। फिर बुद्ध नाम से विख्यात

होकर उन्होंने सर्वप्रथम बनारस के पास सारनाथ नामक स्थान में और फिर समस्त उत्तरी भारतवर्ष में पैंतीस वर्ष तक भ्रमण कर उपदेश दिया और अपने धर्म का चक्र चलाया। उनके उपदेशों के आधार पर उनके शिष्यों ने और शिष्यों के उत्तराधिकारियों ने बौद्ध सिद्धान्त और दर्शन का रूप निश्चय किया। साथ ही साथ लोक कल्याण के लिए साहित्य की भी रचना की।

बौद्ध धर्म का समस्त साहित्य तीन पिटकों में है। पहला पिटकसुत्त है। इसमें पाँच निकाय हैं। दीर्घ, मज्झिम, सयुत्त, अंगुत्तर और खुद्दक। इनमें सिद्धान्त और कहानियाँ हैं। दूसरा पिटक विनय है। पातिमोक्ख, महावग्ग, चुल्लवग्ग, सुत्तविभंग और परिवर ये पाँच ग्रन्थ विनय पिटक के हैं। इनमें भिक्खु, भिक्खुनियों के नियम हैं। तीसरा पिटक अभिधम्म है। इसके सात संग्रहों में तत्वज्ञान की चर्चा है। इनका मूल पाली संस्करण लंका, स्याम और बर्मा में माना जाता है और आगामी काल का संस्कृत संस्करण नैपाल, तिब्बत और एक प्रकार से चीन, जापान और कोरिया में माना जाता है। पाली ग्रन्थों की रचना का समय अभी तक निश्चय नहीं किया जा सका है।

बौद्ध धर्म ने भी आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म और संसारके सिद्धान्तों को स्वीकार कर लियाहै। जीव को दुःख से मुक्त कर परम सुख प्राप्त कराना ही बौद्ध धर्म का उद्देश्य है। बौद्ध-सिद्धान्त के अनुसार तृष्णा और कर्मबन्ध ही समस्त दुःखों का कारण है। अज्ञान और मोह से तृष्णा उत्पन्न होती है। आत्मा को ज्ञान होना चाहिए और मोह छोड़ना चाहिए। वास्तव में ज्ञान क्या है? वास्तविक ज्ञान यही है कि जीव जड़ पदार्थों से भिन्न हैं, विश्व में कोई वस्तु स्थिर नहीं है, विश्व में जो कुछ है, वह सब परिवर्तन शील है, प्रतिक्षण बदलता रहता है। यही बौद्ध धर्म का क्षणिकवाद है। आत्मा भी प्रतिक्षण बदलता रहता है, अनात्मा भी प्रतिक्षण बदलता रहता है। ये सिद्धान्त प्रायः समस्त बौद्धधर्म के ग्रन्थों में पाये जाते हैं किन्तु इन सबकी व्याख्या अनेक प्रकार से की गई हैं। इन समस्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त और अनेकसिद्धान्त भिन्न-भिन्न शास्त्रों में क्रमशः विकसित हुए हैं और इन सबके आधार तथा प्रमाण पर अनेक पुस्तकों में तर्क किया गया है।

बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में बुद्ध के वाक्य को प्रमाण माना है। बुद्ध भगवान् समस्त यथार्थ ज्ञान के स्रोत हैं, भवान् बुद्ध ने जो कुछ कहा है यथार्थ कहा है और

उचित कहा है। उदानवर्ग के बुद्धसुत्त में बल दिया है कि जो सत्य तक पहुँचना चाहता है, वह बुद्ध का उपदेश सुने। बुद्ध इस सत्यता का उपदेश क्यों देते हैं? इसलिए कि दुःख का निवारण हो और शान्ति प्राप्त हो। यदि बुद्धि में श्रद्धा हो तो ज्ञान और शान्ति सब में अधिक सहायता मिलेगी। किन्तु अपनी बुद्धि से भी काम लेना चाहिए। बुद्ध भगवान् ने अपने शिष्यों से यहाँ तक कहा था कि मेरे सिद्धान्तों को मेरे कारण मत स्वीकार करो। अपने आप पूर्णरूप से विचार और मनन करने के बाद स्वीकार करो।

यह विश्व कहाँ से आया? इसकी रचना किसने की है? क्या यह अनादि है, अनन्त है? इन समस्त प्रश्नों का उत्तर देने से स्वयं बुद्ध ने अपमी वाणी को रोक लिया था वास्तव में बात यह थी कि इस प्रकार की छानबीन से निर्वाण में कोई सहायता नहीं मिल सकती थी। किन्तु आगे चलकर बौद्धा ने यह मत स्थिर किया किविश्व की रचना करने वाला कोई नहीं है। महायान बौद्ध ग्रन्थों में यह तो मान ही लिया गया है कि बुद्ध इस विश्व को देखते हैं और इसका कल्याण चाहते हैं, भक्तों को शरण देते हैं, दुःख से पीड़ित जीवों को शान्ति देते हैं। गौतम बुद्ध ने विश्व को प्रधान रूप से दुःखमय माना है और लौकिक जीवन का, अनुभवों का, अस्तित्व का स्थान आवश्यकता से अधिक गिरा दिया है किन्तु दार्शनिक दृष्टिकोण से उन्होंने विश्व के अस्तित्व को कदापि अस्वीकार नहीं किया है। यद्यपि आगामी काल के कुछ बौद्ध ग्रन्थों से यह ध्वनि निकलती है कि विश्व मिथ्या है, भ्रम है, तथापि प्राचीन काल के बौद्ध ग्रन्थों से इस मत का समर्थन नहीं होता।

बौद्ध दर्शन में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक यही बल देकर कहा गया है कि विश्व प्रतिक्षण बदलता रहता है, प्रत्येक वस्तु बदलती रहती है, कोई भी वस्तु जैसी इस क्षण में है, दूसरे क्षण में वैसी न रहेगी। जो कुछ है वह सब क्षणभंगुर है। दूसरी बात यह है कि विश्व में दुःख अधिक है, कहना तो यों चाहिए कि वस्तुत दुःख ही दुःख है। कर्म का बन्धन ही समस्त दुःखों का मुख्य कारण है। कर्म के छुटने से ही बन्धन छुट जाता है तथा दुःख दूर हो जाता है। सुख के साथ ही साथ शान्ति भी मिल जाती है। सुख और शान्ति की प्राप्त करना ही निर्वाण है। मानते हैं कि जीवन काल में यह सब हो सकता है किन्तु निर्वाण पाने के बाद जब शरीर छूट जाता है तब क्या होता है। पुनर्जन्म तो हो नहीं सकता, कोई

दूसरा शरीर धारण नहीं किया जा सकता। तो क्या आत्मा का सर्वथा नाश हो जाता है या अस्तित्व मिट जाता है अथवा आत्मा कहीं परम अलौकिक अनन्त सुख और शान्ति से रहता है? इस जटिल समस्या का उत्तर बौद्ध दर्शन के अनुसार दे सकना बड़ा कठिन कार्य है। स्वयं बुद्ध ने कोई उत्तर नहीं दिया। संयुक्तनिकाय में बच्छ-गोत्त बुद्ध से जिज्ञासा करता है कि आत्मा रहता है या नहीं? किन्तु बुद्ध इस जिज्ञासा पर मौन धारण कर लेते हैं। मज्झिमनिकाय में प्रधान शिष्य आनन्द भी इसी प्रकार जिज्ञासा करके अपनी शङ्का का समाधान करना चाहता है। वह यह जानना चाहता है कि मृत्यु के बाद बुद्ध का क्या होता है? इस पर बुद्ध कहते हैं कि आनन्द! इन समस्त बातों की शिक्षा देने के लिये तो मैंने शिष्यों को नहीं बुलाया है। कुछ भी हो, इस स्थल पर यही स्वीकार करना पड़ेगा कि जिस प्रकार बुद्ध ने विश्व की उत्पत्ति के प्रश्न को प्रश्न के ही रूप में छोड़ दिया था उसी प्रकार निर्वाण के बाद आत्मा के अस्तित्व को भी प्रश्न के ही रूप में रहने दिया था। उनका अपना विचार कुछ रहा हो अथवा न रहा हो किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वे इस श्रेणी के तत्वज्ञान को अपने कार्य-क्षेत्र से बाहर का विषय मानते थे। उनका भाव कुछ ऐसा था कि मेरे कहे हुए मार्ग पर चलकर निर्वाण प्राप्त कर लो और अन्तिम शरीर त्याग के बाद क्या होगा? इस प्रश्न की जटलिता में मत फँसो।

किन्तु बुद्ध के इस शान्त भाव से उनके अनुयायियों की जिज्ञासा शान्त न हुई। वे दार्शनिक सिद्धान्तों पर निरन्तर मनन करने लगे और अपनी उस जिज्ञासा को और भी अधिक तीव्रता प्रदान करने लगे। संयुक्तनिकाय में एक विधर्मी भिक्षु यमक बुद्ध के कथनों से यह निष्कर्ष निकलता है कि मृत्य के बाद तथागत अर्थात् बुद्ध सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, मिट जाते हैं, उनका अस्तित्व ही नहीं रहता, केवल शून्य रह जाता है। किन्तु सारिपुत्त को यह निष्कर्ष स्वीकार नहीं है। अनेक प्रकार के प्रश्नोत्तर के बाद सारिपुत्त ने यमक से कहा कि तथागत को तुम जीवन में तो समझ ही नहीं सकते, फिर भला मृत्यु के बाद की दशा को क्या समझोगे? स्वयं बौद्धों ने इसे दो प्रकार से समझाने प्रयत्न किया है। क्षणिकवाद के प्रभाव से कुछ ने तो यह समझा कि निर्वाण के बाद आत्मा में प्रतिक्षण परिवर्तन नहीं हो सकता अतएव आत्मा का अस्तित्व मिट जाता है। किन्तु कुछ बौद्ध दार्शनिकों ने

इस मत को स्वीकार नहीं किया और निर्वाण के बाद शरीरान्त होने पर चेतन का अस्तित्व मान लिया।

जब निर्वाण के बाद की अवस्था पर मतभेद था तब दार्शनिक दृष्टिकोण से आत्मा और अस्तित्व के सम्बन्ध में मत भेद होना एक प्रकार स्वाभाविक ही था थोड़े-से बौद्ध दार्शनिकों का मत है कि वास्तव में आत्मा कुछ नहीं है। केवल उत्तरोत्तर होने वाली चेतन अवस्थाओं का रूप है। कोई स्थायी, अनश्वर अक्षर या अनन्त वस्तु नहीं है। प्रतिक्षण चेतन परिवर्तन होता है, इसी को आत्मा कहते है किन्तु परिवर्तन का क्रम बन्द होते ही अथवा अवस्थाओं की उत्तरोत्तर क्रम-शृंखला टूटते ही आत्मा विलीन हो जाता है, मिट जाता है, उसका अस्तित्व नष्ट हो जाता है। इस विचार-धारा के प्रतिकुल अन्य बौद्ध दार्शनिक आत्मा को पृथक् वस्तु स्वीकार करते हैं। वे आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व के आधार पर परिवर्तन को स्वीकर करते हैं। प्रतिक्षण परिवर्तन तो जड़ पदार्थों में भी होता है किन्तु जड़ और चेतन एक नहीं हैं। दोनों ही भिन्न-भिन्न हैं। आत्मा न तो केवल वेदना है और न केवल विज्ञान है तथा केवल संज्ञा भी नहीं है। यह सत्य है कि ये सब लक्षण अथवा गुण उसमें हैं किन्तु वह इनसे सर्वथा पृथक् अपना अस्तित्व रखता है। इन दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के बीच में ऐसे अनेक दार्शनिक विचार हैं जो इधर या उधर झुकते हैं और जिनकी व्याख्या तथा समालोचना से संस्कृत और भाषा में लिखे गये बौद्ध साहित्य की सैकड़ों पुस्तकें परिपूर्ण हैं।

जड़ अथवा चेतन के सम्बन्धमें पहले बौद्ध ग्रन्थों में कोई विशेष नवीन विचारनहीं प्रगट किये गए। साधरण भारतीय अथवा ब्राह्मण दार्शनिक विश्वास के अनुसार बौद्ध ग्रन्थों ने भी पृथिवी, तेज, वायु और जल तत्व स्वीकार किये हैं किन्तु आकांश को कहीं-कहीं तो तत्व स्वीकार किया है और कहीं-कहीं नहीं। सभी वस्तुएँ अनिच) अनित्य) हैं अर्थात् चिरस्थायी नहीं हैं। आगे चलकर बौद्ध दार्शनिकों ने समस्त वस्तुओं को क्षणिक कहा है। पहिले के ग्रन्थों में अनित्यता अथवा नित्यता की विशेष छानबीन नहीं है किन्तु आगे चलकर बौद्ध दार्शनिकों के हेतु, निदान, कारण, अथवा निमित्त की कल्पना कर के इन समस्त परिवर्तनों को मानो एक शृङ्खला से जकड़ दिया है। जड़ और चेतन दोनों के ही सम्बन्ध में कारणवाद की व्याख्या विशेष विस्तार के साथ की गई है।

जिस प्रकार जैन धर्म के सिद्धान्तों में कर्म जड़ पदार्थ नहीं माना गया है
उसी प्रकार बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों में भी नहीं माना गया है। कर्म को आत्मा
की वास्तविक चेतना स्वीकार किया है। और यह भी स्वीकार किया है कि चेतना
के बाद क्रिया होती है। निस्सन्देह कर्म के अनुसार अवस्था में परिवर्तन हो जाता
है किन्तु कर्म के कोई जड़ परमाणु नहीं हैं जो आत्मा से चिपट जाते हो। कर्म की
शृङ्खला तोड़ने के लिए शील, समाधि और प्रज्ञा को आवश्यक माना है और उनकी
विवेचना भी भिन्न-भिन्न प्रकार से की है।

शील अथवा सदाचार का वर्णन करते हुए बौद्ध दार्शनिकों ने जीवन के धर्म
पर भी प्रकाश डाला है। जैन धर्म के साहित्य में जिस प्रकार सभी स्थलों में अहिंसा
संयम, इन्द्रियदमन, त्याग और दान आदि पर अधिक बल दिया गया है उसी
प्रकार अधिक बल बौद्ध धर्म के साहित्य में भी सर्वत्र दिया गया है। अन्य भार-
तीय धर्मों के समान बौद्ध धर्म ने भी सत्य का उपदेश दिया है और ब्रह्मचर्य की
महिमा का वर्णन किया है। यद्यपि तपस्या पर उतना बल नहीं दिया है जितना कि
ब्राह्मण और जैन धर्म ने दिया है तथापि उसकी निन्दा भी नहीं की है और न
उसका खण्डन ही किया है। अन्य धर्मों के समान बौद्ध धर्म ने भी आध्यात्मिक
ध्यान की आवश्यकता मान ली है और बाद के बौद्ध दार्शनिकों के योग के अनेक
उपचार और प्रकार भी बताये हैं।

यह आवश्यक ध्यान में रखना चाहिए कि बौद्ध, जैन और अनेक ब्राह्मण
दर्शन लगभग एक ही समय में निकले थे; समय के कुछ विचारों को सबों ने अंगी-
कार किया है, नैतिक जीवन के एक समान ही आदर्श सबों ने स्वीकार कर लिए
हैं। ये समस्त दर्शन अथवा धर्म डेढ़ हज़ार वर्ष तक साथ ही साथ रहे और एक
दूसरे पर इसका प्रभाव बराबर पड़ता रहा। दार्शनिक विकास और पारस्परिक
प्रभाव के कारण इनसे नवीन-नवीन पंथ अथवा सम्प्रदाय या मत निकलते रहे जो
मूल सिद्धान्तों का अधिक भाग मानते रहे और जिनका प्रभाव दूसरे पंथों, सम्प्र-
दायों या मतों पर ही नहीं वरन मूलधर्मों और तत्वज्ञानों पर भी पड़ता रहा। ऐसा
जान पड़ता है मानों राजनीति के समान धर्म और तत्वज्ञान में भी भारतवर्ष का
संगठन संघ-सिद्धान्त के ही अनुसार था। कुछ विषयों में एकता थी और कुछ

विषयों में भिन्नता भी थी तथा कुछ विषयों में समानता थी। इसीलिए एक क्षेत्र धीरे-धीरे दूसरे क्षेत्र में सम्मिलित हो जाता था।

बौद्ध धर्म के कुछ ग्रन्थों में संसार-संगठन की उत्पत्ति का वर्णन बड़े ही विचित्र ढंग से किया है। तिब्बती दुल्व के पाँचवें भाग में बुद्ध भगवान् भिक्षुओं से कहते हैं कि आभास्वर देवों के पवित्र, सुन्दर, उज्ज्वल और अपार्थिव शरीर थे। वे आनन्दपूर्वक अनेक दिनों तक जीवित रहते थे। उस समय तक पृथिवी नहीं थी किन्तु इतने ही समय में जल के साथ पृथिवी मिल गई और फिर एक ऐसी आँधी चली कि सूखी पृथिवी बाहर निकल आई। पुण्य क्षीण होने पर अनेक आभास्वर देव पृथिवी पर उत्पन्न हुए। उनमें से कुछ ने समुद्र का जल पान किया जिससे उनकी सारी उज्ज्वलता जाती रही। उसके बाद सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र प्रकट हुए तथा समय का विभाग प्रारम्भ हुआ। भोजन के भेद से मनुष्यों के वर्ण पृथक्-पृथक् हो गये। जिनका वर्ण अच्छा था। वे अभिमानी अर्थात् पापी हो गये। भोजन में अनेक प्रकार के परिवर्तनों के बाद चावल का चलन बढ़ा जिसके खाने से लिंग भेद हो गया, अर्थात् कुछ तो पुरुष हो गये और कुछ स्त्री। प्रेम और विलास आरम्भ हुआ, सुन्दर से सुन्दर भवन बनने लगे, लोग चावल संग्रह करने लगे, झगड़े हुए सीमाएँ बनीं, राजा की स्थापना हुई और वर्ण श्रेणी; व्यवसाय आदि के विभाग हुए।

गौतमबुद्ध ने अहिंसा, सदाचार और त्याग पर सबसे अधिक बल दिया है। उनके उपदेशों को अंगीकार कर तथा संसार को छोड़कर अनेक मनुष्य उनके अनुयायी हो गये और भिक्खु या भिक्षु कहलाये। प्रारम्भ में गौतम बुद्ध स्त्रियों को भिक्षुणी नहीं बनाते थे किन्तु कुछ दिन बीत जाने के बाद अपने प्रधान शिष्य आनन्द के आग्रह करने पर उन्होंने स्त्रियों को भी अपने धर्म की दीक्षा देकर भिक्षुणी बनाना स्वीकार कर लिया। धम्मपद में गौतमबुद्ध ने भिक्षुओं को उपदेश दिया है कि कभी किसी से द्वेष नहीं करना चाहिए, कभी किसी से घृणा नहीं करनी चाहिए। प्रेम से ही घृणा का अन्त होता है। भोग-विलास में पड़ कर जीवन नहीं नष्ट करना चाहिए, अधिक से अधिक प्रयत्न करके आध्यात्मिक उन्नति करनी चाहिए तथा नित्य दूसरे का कल्याण करना चाहिए और हृदय को पवित्र करना चाहिए।

सुत्तनिपात में गौतम बुद्ध ने संसार की बड़ी निन्दा की है। माता, पिता स्त्री पुत्र, धन, धान्य सम्बन्धी समस्त मायामोह छोड़कर जंगल में एकाकी भ्रमण करने के लिए कहा है। महावग्ग के पव्वग्गासुत्त में भी घर के जीवन को दुःखमय और बड़ा अपवित्र बताया है तथा विरक्त होने का उपदेश दिया है। गौतमबुद्ध को कठिन तपस्या के कुपरिणामों का अधिक अनुभव था इसीलिए उन्होंने अथवा कम से कम उनके धार्मिक उत्तराधिकारियों ने भिक्षुओं और भिक्षुणियों को एक-एक कर के अनेक वस्तुओं का प्रयोग करने की आज्ञा प्रदान कर दी थी। मज्झिम निकाय में गौतमबुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि भिक्षुओं को विलास और क्लेश दोनों की ही अतियों से बचाना चाहिए। प्रधान शिष्य आनन्द के आग्रह करने पर गौतम बुद्ध ने स्त्रियों को संघ में लेना स्वीकार कर लिया था किन्तु अनुचित सम्बन्ध और लोकापवाद के भय से उन्होंने ने धीरे-धीरे भिक्षुओं को भिक्षुणियों से भोजन लेने से, उनको पातिमोक्ख सुनाने से; उनके अपराधों का विचार करने से, उनको हाथ जोड़ने या अभिवादन करने से रोक दिया था।

चुल्लवग्ग से स्पष्ट है कि संन्यास के प्रचार से अनेक कुटुम्ब टूट गये थे। वृद्ध माता-पिताओं को अधिक वेदना होने लगी थी मज्झिम निकाय में संन्यासी होने वाले युवकों के माता-पिता की यंत्रणा का मर्मभेदी चित्र अंकित है माताएं भयानक रूप से विलाप करती थीं, पछाड़ खाकर धरती पर गिर जाती थीं, मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर पड़ी रहती थीं किन्तु संन्यास ग्रहण करने के भावावेश में युवक स्नेह के समस्त स्रोतों को सुखा कर अपने हृदय को विचलित न होने देते थे। इसी प्रकार की अनेक घटनाएँ जैन धर्म की पुस्तकों में भी दृष्टिगोचर होती हैं।

गौतमबुद्ध का स्थापित किया हुआ बौद्धसंघ आत्मशासन के सिद्धान्त पर स्थिर था। इसकी कार्यवाही में राज्य की ओर से नहीं के बराबर हस्तक्षेप होता था। संघ में भिक्षु और भिक्षुणी दोनों के लिए ही एक समान नियम थे। संघ में व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं थी। जो कुछ था वह सब संघ का था, किसी विशेष भिक्षु अथवा भिक्षुणी का नहीं। स्वयं गौतम बुद्ध ने अपने प्रधान शिष्य आनन्द से कहा था–"आनन्द। मेरे बाद यदि चाहे तो संघ छोटे नियमों में परिवर्तन करले।" किन्तु जब एक सभा में नियमों पर विचार हुआ तब इतना मतभेद प्रकट हुआ

कि परिवर्तन करना उचित नहीं समझा गया। सभा ने निर्णय किया कि बुद्ध भगवान् जो कुछ कह गये हैं, वही मान्य होना चाहिए। उनके किसी नियम में भी परिवर्तन नहीं करना चाहिए और न कोई नवीन नियम ही बनाना चाहिए। यद्यपि गौतम बुद्ध के नियम संघ में सर्वत्र मान्य थे तथापि साधारण विषयों और झगड़ों का निपटारा प्रत्येक स्थान में प्रत्येक संघ अपने आप कर लेता था। संघ के भीतर समस्त कार्य वहीं और समस्त निर्णय जनसत्ता के सिद्धान्त के अनुसार होते थे। महावग्ग और चुल्लवग्ग में संघ सभाओं की पद्धति के नियम दिये हुए हैं।

कुछ विद्वानों की धारणा है कि ये समस्त पद्धति नियम गौतम बुद्ध ने कहे थे किन्तु संभव है कि कुछ पद्धति नियम उनके बाद जोड़े गये हों। कुछ भी हो; ये समस्त पद्धतिनियम वर्तमान प्रतिनिधि मूलक व्यवस्थापक सभाओं से ही अनेक अंशों में मिलते-जुलते थे। संभव है कि इनमें से कुछ तत्कालीन राजकीय सभाओं से लिए गए हों किन्तु ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। संघ सभा के पद्धतिनियम अनेक थे। यहाँ केवल मुख्य नियमों का संकेत मात्र दिया जायगा। साधारण ज्ञान के लिए यही पर्याप्त समझना चाहिए।

बौद्ध संघ की सभा में जब तक निश्चित संख्या में सदस्य नहीं आ जाते थे तब तक सभाकी कार्यवाही आरम्भ नहीं हो सकती थी। गणपूरक का कर्तव्य था कि वह निश्चित संख्या की पूर्ति करे। सभा में आने पर आसनपंजापक सदस्यों को छोटे-बड़े पदों के अनुसार उपयुक्त स्थानों पर बैठाता था। कभी-कभी निश्चित संख्या की पूर्ति होने के पूर्व ही कार्यवाही आरम्भ हो जाती थी किन्तु बाद में उसकी स्वीकृति लेनी पड़ती थी। स्वयं गौतम बुद्ध का मत था कि ऐसा कदापि नहीं होना चाहिए। प्रत्येक प्रस्ताव पर दो या चार बार विचार होता था। सर्व प्रथम ज्ञप्ति होती थी जिसमें प्रस्तावक सदस्य अपना प्रस्ताव सुनाता था और उसके समस्त दृष्टिकोणों को भली भाँति समझाता था। फिर प्रतिज्ञा होती थी जिसमें यह जानने का प्रयत्न किया जाता था कि यह प्रस्ताव संघ को स्वीकार है या नहीं? महत्वपूर्ण विषयों में ऐसा प्रयत्न तीन बार किया जाता था। इन परिस्थितियों में प्रस्ताव पर वाद अर्थात् तर्क होता था। पक्ष और विपक्ष के सदस्य स्वतन्त्रता पूर्वक तर्क वितर्क किया करते थे तब सदस्यों के भाषण दीर्घरूप धारण कर लेते थे या अप्रा-

संगिक तर्क होने लगता था अथवा तीव्र मतभेद उपस्थित हो जाता था तब वह प्रस्ताव सदस्यों की छोटी समिति को सौंप दिया जाता था। यदि उस समिति में भी समझौता न हो सका तो प्रस्ताव पुनः पूरी सभा के सामने उपस्थित किया जाता था। यदि यहाँ पर इस बार भी एकमत न हो सका तो कम्मवाचा होती थी अर्थात् प्रस्ताव पर सम्मति ली जाती थी। एक पुरुष सदस्यों को भिन्न-भिन्न रंग की लकड़ी की शलाकाएँ बाँट देता था और समझा देता था कि प्रत्येक रंग का तात्पर्य क्या है? प्रकाश्य रूप से अथवा प्रच्छन्न रूप से, जैसा निश्चित हो, सम्मतियाँ डाली जाती थीं। येभूय्यसिकस्स नामक नियम के अनुसार जिस ओर अधिक सम्मतियाँ आती थीं उसी पक्ष की विजय होती थी अर्थात उसी का मत माना जाता था। अनुपस्थित सदस्यों की सम्मति डालने का भी प्रवन्ध था। स्वीकृत होने पर प्रस्ताव कम्म अर्थात कर्म कहलाता था। एक बार निर्णय हो जाने पर प्रस्ताव के सम्बन्ध में पुनः तर्क-वितर्क नहीं होना चाहिए और न उसे रद करना चाहिए–ऐसा गौतम बुद्ध का मत था किन्तु कभी-कभी इस मत का उल्लंघन हो जाता था।

बौद्धों के समान जैनियों के भी संघ थे जो जिन वाक्य को प्रमाण मानते थे, सम्पत्ति में समष्टिवादी थे और साधारण विषयों का निर्णय तथा छोटे-मोटे झगड़ों का निपटारा जनसत्ता के सिद्धान्त के अनुसार करते थे। किन्तु जैन धर्म के ग्रन्थों में पद्धति के सूक्ष्म नियम नहीं मिलते हैं। जैन साधुओं और साध्वियों के लिए जो साधारण नियम थे वे बौद्धों के ही समान थे।

बौद्ध संघ में नियम था कि नया भिक्षु—सद्धिविहारिक–दस वर्ष तक उपाज्झाय या आचारिक की सेवा में रहे। विद्वान् भिक्षुओं के लिये पाँच वर्ष पर्याप्त समझे जाते थे। कभी-कभी इन समस्त बन्धनों से एकदम मुक्त कर दिया जाता था। गौतम बुद्ध ने कहा था कि उपाज्झाय और सिद्धा विहारिक में पिता पुत्र का-सा सम्बन्ध होना चाहिए। संघ में भर्ती समस्त सभा की सम्मति से होती थी। कभी-कभी भिक्षु परस्पर अधिक झगड़ते थे और दलबंदी भी करते थे। संघ के समस्त भिक्षु पातिमोक्ख पाठ करने के लिए एकत्र होते थे। विद्वान् भिक्षु ही पाठ करा सकते थे। उपाज्झाय और सद्धिविहारिक के सम्बन्ध पर जो नियम संघ में प्रचलित थे उनसे नये सदस्यों की शिक्षा का उत्तम प्रबन्ध हो जाता था। धीरे धीरे बौद्ध संघ का इतना अधिक प्रसार हुआ कि देश

में असंख्य संघाराम स्थापित हो गये। ये सब बौद्ध धर्म, शिक्षा और साहित्य के केन्द्र थे। सत्य तो यह है कि इन्हीं के प्रयत्नों से बौद्ध धर्म का अधिक प्रचार हुआ।

बौद्धों ने और जैनों ने संन्यास की सर्वापेक्षा अधिक प्रबल लहर उत्पन्न की किन्तु कुछ मनुष्य ऐसे भी थे जिन्हें ये सब ढंग रुचिकर न थे। एक युवती की कथा है कि नंगे सन्यासियों को देखकर उसके मन में घृणा उत्पन्न होती थी किन्तु उसका पति उन समस्त नंगे संन्यासियों का सम्मान करता था फिर भी वह युवती उन्हें देखना अथवा उनसे कुछ पूछना किसी भी प्रकार उचित नहीं समझती थी। बौद्ध धर्म की स्थापना के पहिले ही युवक गौतम को शुद्धोदन ने समझाया था कि पुत्र! अभी त्याग का विचार न करो। फिर उनके प्रस्थान पर सब को अधिक क्लेश हुआ था। यशोधरा हिचकियाँ भर-भर कर रोती थी, अचेत हो जाती थी और विलाप करके कहती थी कि पत्नी को छोड़कर धर्म का पालन करना चाहते हैं। क्या यह भी कोई धर्म है ? कहाँ है उसका धर्म जो पत्नी को छोड़कर तप करना चाहता है ? वह कितना निर्मम है, उसका हृदय कितना कठोर है जो अपने नवजात पुत्र को त्याग कर चला गया। शुद्धोदन ने पुनः कहला भेजा कि अपने दुःखी परिवार का अपमान न करो। दया परम धर्म है। धर्म बन में ही नहीं होता। नगर में भी हो सकता है। पुरुषों को संन्यास से रोकने में कभी-कभी स्त्रियाँ सफल भी हो जाती थीं। बौद्धों में कुछ मनुष्य तो सदा के लिए संन्यासी हो जाते थे किन्तु कुछ मनुष्य ऐसे भी थे जो थोड़े ही दिनों के लिए भिक्षु होते थे। कोई-कोई भिक्षु पूर्ण रूप से इन्द्रियों का दमन नहीं कर सकते थे, भिक्षुणियों को अथवा अन्य स्त्रियों को अपने चंगुल में फँसने का प्रयत्न करते थे या बड़े ठाट बाट से रहना चाहते थे कुछ भी हो, जहाँ तक धर्म के सिद्धान्तों का सम्बन्ध है, कहना पड़ताहै कि बौद्ध धर्म में आरम्भ से लेकर अन्त तक सदाचारकी ही प्रधानता है जनता का अधिक भाग इस उच्च सदाचार की ही भावना पर मुग्ध हो जाता था।

बौद्ध धर्म की प्रगति से भारतीयों के सामाजिक जीवन में कोई अधिक परिवर्तन नहीं हुआ। बौद्ध धर्म के प्रचारक प्रायः परिव्राजक संन्यासी थे। भारतवर्ष में गौतम बुद्ध के पहले से ही परिव्राजक साधु अपने अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते थे। वे प्रायः सभी वर्णों के होते थे। उन्हें पूर्ण विचार-स्वतन्त्रता प्राप्त थी। वे मोक्ष के सम्बन्ध में अपने पृथक्-पृथक् मतों अथवा सिद्धों का प्रचार करते थे।

भारतीय जनता उन साधुओं का वैसा ही आदर करती थी और उनके उपदेशों से शिक्षा ग्रहण करती थी जैसा आजकल करती है परन्तु प्रचलित धर्म और व्यवस्था में उनके स्वतन्त्र विचारों के कारण कोई मौलिक क्रान्ति नहीं हो पाती थी वरन् परस्पर विरोधी मतों अथवा सिद्धान्तों के संघर्ष से मनुष्यों की आत्मोन्नति अवश्य होती थी। सभी के हृदय में कल्याणमयी भावना उत्पन्न हो जाती थी।

यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि बौद्ध धर्म ने वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध आन्दोलन चलाया था अथवा नहीं। हाँ, यह सत्य अवश्य है कि जाति-भेद भिक्षुओं के संघ में नहीं माना जाता था। क्या ब्राह्मण क्या शूद्र, सभी को गौतम बुद्ध सङ्घ में सम्मिलित कर लेते थे फिर भी यह कहा जा सकता है कि उनका जाति-पाँति के बन्धनों को तोड़ने का अभिप्राय न था। बौद्ध धर्म के अनुयायियों के घरेलू समस्त कार्य वैदिक संस्कारों के अनुसार बराबर होते रहे हैं। आत्मतत्व-विवेक में उदनाचार्य ने स्पष्ट लिखा है कि ऐसा कोई सम्प्रदाय नहीं है जिसके अनुयायी गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त वैदिक कर्म न करते हों।

राजाओं के आश्रय से जैन अथवा बौद्ध धर्म की कभी-कभी कुछ प्रदेशों में प्रधानता हो जाती थी किन्तु अमुक प्रदेश में एक धर्म अथवा सम्प्रदाय के आधिपत्य से दूसरे धर्म अथवा सम्प्रदाय का अत्यन्त विलोप हुआ हो यह इतिहास से सिद्ध नहीं होता। कभी-कभी एक ही वंश के राजा भिन्न-भिन्न धर्मों अथवा सम्प्रदायों के अनुयायी हो जाते थे। ब्राह्मण, जैन, बौद्ध ये तीनों ही आर्य धर्म की शाखाएँ हैं और इनमें कभी घोर विरोध हुआ हो इसका इतिहास साक्षी नहीं हैं। वास्तव में जैन और बौद्ध धर्म का ब्राह्मण धर्म से शाखा और वृक्ष का सा सम्बन्ध है।

जैन और बौद्ध धर्म का प्रभाव ब्राह्मण धर्म पर भी पड़ा। आर्य धर्म के इतिहास में अहिंसा के सिद्धान्त को परम आदरणीय बनाने का श्रेय जैन और बौद्ध धर्मों को प्राप्त है। ज्यों-ज्यों जनता में इस सिद्धान्त का प्रचार बढ़ा त्यों-त्यों उनमें ब्राह्मणों के कर्म काण्ड और यज्ञ की पशु-हिंसा के प्रति घृणा उत्पन्न होने लगी। यज्ञ और जीव-हिंसा के विरुद्ध उपनिषद काल में ही आन्दोलन आरम्भ हो गया था। मण्डक उपनिषद् में लिखा है कि ये यज्ञ रूपी नौकाएँ अधिक जर्जर हो चुकी हैं और उन्हें जो कल्याणकारी कहते हैं वे जरा और मृत्यु को बारम्बार

प्राप्त करते हैं। भागवत धर्म ने जो वेद-धर्म की एक शाखा हैं, अहिंसा के सिद्धान्त को पूर्ण रूप से अंगीकार कर लिया था। जैन और बौद्ध धर्मों के अनीश्वरवाद के विरोध में भागवत धर्म का उत्थान होने लगा था। अत्यन्त प्राचीन काल से ईश्वर पर विश्वास करने वाली आर्य-जाति का चिरकाल तक अनीश्वरवाद को मानना कठिन था। अतएव भारतवर्ष में भक्ति-प्रदान भागवत धर्म का प्रबल आन्दोलन जैन और बौद्धों की उन्नति के समय में चल पड़ा था।

ईसवी पूर्व की छठी शताब्दी के लगभग पाणिनि के समय में भारतवर्ष में भक्ति मार्ग प्रचलित हो चुका था। पाणिनि ने अपने व्याकरण-सूत्रों में 'वासुदेव' के नाम का उल्लेख किया है। उस पर टीका करते हुए पतंजलि ने वासुदेव को आराध्य देव कहा है। ईसवी पूर्व की दूसरी शताब्दी के लगभग राजपूताने के घोसुण्डी के शिलालेख में संकर्षण और वासुदेव की पूजा के लिए मन्दिर की दीवार बनाने का उल्लेख है। ईसवी पूर्व की दूसरी शताब्दी के भिलसा के स्तम्भलेख से पता चलता है कि यवन हेलियोदोर वासुदेव का परम भक्त और भागवत धर्म का अनुयायी था। ईसवी पूर्व की चौथी शताब्दी में मेगास्थनीज़ ने भी मथुरा के शूरसेनी यादवों में 'हेरिक्लिस' अर्थात् हरि-कृष्ण की पूजा के प्रचार होने का उल्लेख किया है। भगवद्गीता में भी कृष्ण ने कहा है कि सब कुछ वासुदेव रूप है, यह जानने वाला महात्मा दुर्लभ है। प्राचीन काल में भारतीय धर्म की तीनों शाखाएँ ब्राह्मण, जैन, और बौद्ध—पारस्परिक विचार, संघर्ष और पारस्परिक सहिष्णुता के कारण निरन्तर विकसित और पल्लवित होती रहीं। उनमें परस्पर विचारों का आदान-प्रदान होता रहा और एक ने दूसरे के उपादेय सिद्धान्तों को विचार की कसौटी पर कस कर ग्रहण कर लिया। इन तीनों का सामंजस्य इन तीनों के ही लिए कल्याणप्रद हो गया।

बौद्ध काल के पूर्व का भारतीय धर्म कर्म-काण्डियों के हाथ में था। यज्ञ-यागादिकों के कारण वह इतना जटिल हो गया था कि उसे ब्राह्मण-वर्ग के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं समझ सकता था। साधारण जनता उससे एक प्रकार से अनभिज्ञ हो चली थी। बौद्ध धर्म अपनी स्वाभाविक सरलता, सुबोध आचार-विचार, धर्म के प्रचार में साधारण बोल-चाल की भाषा के व्यवहार, उदाहरणों के द्वारा उपदेश करने की आकर्षक प्रणाली तथा लोक सेवा के भाव के कारण साधारण जनता के हृदय को अपनी ओर आकर्षित कर सकने में पूर्ण रूप से सफल हुआ।

संभव है कि बौद्धों के द्वारा ही भारतवर्ष में मूर्ति पूजा की प्रथा प्रचलित हुई हो क्यों कि गौतम बुद्ध के पूर्व भारतीयों में मूर्ति-पूजा के प्रचार के कोई चिह्न नहीं पाये जाते। अनुमान किया जाता है कि सर्व प्रथम गौतम बुद्ध की मूर्ति की स्थापना एक महोपदेशक और महात्मा की पुण्यमयी अनुस्मृति रखने के लिए हुई थी किन्तु कुछ ही दिनों के बाद उनके अनुयायियों द्वारा गौतम बुद्ध ईश्वर के अवतार माने जाने लगे और उनकी मूर्ति की पूजा विधि पूर्वक होने लगी। इन मूर्तियों की रक्षा के लिए भवन-निर्माण की आवश्यकता उपस्थित हुई और जहाँ वैदिक आर्य प्राचीन ईरानियों के समान मुक्त वातावरण में यज्ञ-कर्म करते थे वहाँ मन्दिर-निर्माण की व्यवस्था की जाने लगी।

भिक्षु-संघों द्वारा अथवा धार्मिक सम्मेलनों द्वारा धर्म का प्रचार करना बौद्ध धर्म की विशेषता थी। इसमें सन्देह नहीं कि धर्माचरण के लिए वृद्धावस्था में वान-प्रस्थ अथवा संन्यास लेकर तपस्या करने के लिए वन में चला जाना तथा जीवन का शेष भाग एकान्त धर्म-चिन्तन में व्यतीत करना बौद्ध धर्म के उदय के अतिपूर्व से ही भारतीयों में प्रचलित था किन्तु धर्मोपदेशकों का संघ के रूप में संगठित होकर धर्म का प्रचार करने की प्रथा न थी। इस संघ-शक्ति के कारण बौद्ध धर्म दूर-दूर तक फैल गया। इस धर्म के विश्वव्यापी प्रभाव का प्रधान कारण भिक्षु-संघ ही था।

बौद्ध धर्म से बोल चाल की भाषा में बहुमुखी और विस्तृत साहित्य की उत्पत्ति हुई। वैदिक साहित्य के समान बौद्ध साहित्य केवल ब्राह्मणों के लिए ही न था। छोटे-बड़े सभी वर्ग के मनुष्य समान रूप से उससे लाभ उठा सकते थे। पाली अथवा प्राकृत का साहित्य बौद्ध धर्म के अभ्युदय का फल था।

भारतीय शिल्प और मूर्तिकला की श्री वृद्धि में बौद्ध धर्म से अधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। यह तो सहर्ष स्वीकार करना ही पड़ेगा कि बौद्ध ने ही इन कलाओं का प्रारम्भ सर्वप्रथम किया था। यह सत्य है कि बौद्ध-धर्म के उदय के पूर्व भारतीयों का ध्यान इस ओर गया ही न था। बौद्धों ने गुफा-मन्दिरों का निर्माण सर्व प्रथम आरम्भ किया जिसका अन्य भारतीय अनेक दिनों तक अनुकरण करते रहे।

बौद्ध धर्म ने विदेशों के साथ भारतवर्ष का स्थायी सम्बन्ध स्थापित किया।

संसार की सभ्यता-वृद्धि में भारतवर्ष ने जो कुछ सहायता प्रदान की है उसका मुख्य श्रेय बौद्ध-धर्म को है । इस धर्म ने भारतवर्ष के समीपवर्ती विदेशियों को सदा के लिए अपना ऋणी बना दिया । भारतीय विद्वान और धर्मोपदेशक ईसवी सन् के तीन सौ वर्ष पूर्व से बौद्ध धर्म का पवित्र सन्देश लेकर देश-देशान्तरों को गये और वहाँ के निवासियों को अपना अनुयायी बनाया । उसके बाद ही विदेशियों की सम्मानपूर्ण दृष्टि भारतवर्ष की ओर पड़ी और वे इस देश को अपना पवित्र तीर्थ स्थान मानने लगे तथा अपने धर्म की जन्मभूमि को देखने के लिए यात्रियों के रूप में आने लगे । इस आवागमन का परिणाम यहाँ तक हुआ कि आगन्तुक विदेशी जातियाँ भारतियों के साथ इस प्रकार घुलमिल गई कि अस्तित्व का पृथक् चिन्ह तक न रह गया । इसका इतिहास साक्षी है ।

ईसवी सन् की पहिली शताब्दी के उत्तीर्ण लेखों में थोड़े-से शक-पल्हव परिवारों का नाम आता है, जो पश्चिमी भारतवर्ष में ब्राह्मणों और बौद्ध धर्मोपदेशकों को अपने आश्रय में रखकर उनका समान रूप से भरण-पोषण करते थे । कार्ले और नासिक के शिलालेखों से पता चलता है कि शक-जातीय हरफर्न ने नौ मठों से सज्जित गुफा-मन्दिर बौद्ध भिक्षुओं को दान कर दिया था और शक-क्षत्रप नहपान के दामाद उषवदत्त या ऋषभदत्त ने सोलह गाँव और तीन लाख गायें ब्राह्मणों को दान में दी थीं । इतना ही नहीं, उसने आठ ब्राह्मण-कन्याओं के विवाह में अपने व्यय से कन्या-दान किया, वर्ष भर एक लाख ब्राह्मणों को भोजन दिया, बौद्ध भिक्षुओं के लिए एक बिहार बनवा दिया तथा गुफा में रहने वाले संन्यासियों के भरण पोषण के लिए एक गाँव दान-पत्र में लिखकर दे दिया । इन घटनाओं से स्वतः सिद्ध है कि यवन, शक, पल्हव आदि विदेशी जातियाँ धीरे-धीरे भारतीयों के समाज में इस प्रकार सम्मिश्रित हो गई कि उनके वैदेशिक मूल का लेशमात्र भी अनुमान कालान्तर में नहीं किया जा सकता था ।

१०—सम्राट अशोक की धार्मिक संस्कृति

बौद्ध ग्रंथों के अनुसार अशोक अपने पिता सम्राट बिन्दुसार के जीवन-काल में क्रम से तक्षशिला और उज्जैन का प्रान्तीय शासक रह चुका था । उन प्रदेशों में रह कर ही उसने शासन-कार्य में दक्षता प्राप्त की थी । बौद्ध ग्रंथों में लिखा है कि

बिन्दुसार की मृत्यु के बाद मौर्य साम्राज्य के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में अशोक का अपने भाइयों के साथ झगड़ा हुआ और इसीलिए उसके राज्याभिषेक में चार वर्ष का विलम्ब हुआ। इस अवकाश में उसने अपने बड़े भाई सुषीम अथवा सुमन को पराजित कर राजसिंहासन प्राप्त किया। बौद्ध दन्तकथाओं के अनुसार अशोक ने अपने निन्यानवे के भाइयों का वध कर राज्य पर अधिकार स्थापित किया था।

अशोक के शिलालेखों से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि उसके राज्याभिषेक के बाद उसको किसी ओर से भी शत्रुओं का भय न था और उसे एक अधिक संगठित तथा सुरक्षित साम्राज्य पर अधिकार प्राप्त हुआ था। वह साम्राज्य पूर्व में बंगाल की खाड़ी से लेकर पश्चिम में हिन्दूकुश पर्वत तक और उत्तर में हिमायल से लेकर दक्षिण में मैसोर के उत्तरी प्रदेश तक विस्तृत था।

सम्राट अशोक के राज्यकाल की एक ही राजनैतिक घटना है-वह है कलिंग विज्रय। महानदी और गोदावरी नदियों के बीच में स्थित कलिंग देश उस समय का एक अतमयंत शक्तिशाली राज्य था। मैंगास्थनीज़ के अनुसार कलिंग देश के राजा के पास साठ हज़ार पैंदल, एक हज़ार अश्वारोही और सात सौ हस्तिसेना विद्यमान थी। विश्वविजयिनी मौर्य-सेनाओं के साथ अशोक के कलिंग देश पर आक्रमण किया। यद्यपि देखने में यह घटना छोटी जान पड़ती है पथापि इसका गहरा प्रभाव केवल भारतवर्ष पर ही नहीं वरन् समस्त संसार पर यह बात प्रसिद्ध है कि इस भयानक युद्ध का गंभीर प्रभाव अशोक के हृदय पर पड़ा। कलिंन-विजय की शुभ घड़ी से ही अशोक के धर्म-विजय का सूत्रपात होता है और फिर उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।

धर्म-विजयी सम्राट अशोक के सन्देश और उपदेश देश-विदेशों में सुनाये गये, लोक-शिक्षा के उद्देशों से उसकी धर्म-लिपियाँ पत्थर की चट्टानों और खम्भों पर खुदवाई गईं। प्रजा के शारीरिक, मानसिक, और आध्यात्मिक सुख और कल्याण के लिए अनेक प्रशंसनीय कार्य किये गये। इन्हीं समस्त कारणों से अशोक का जीवन-चरित्र अधिक रोचक और शिक्षाप्रद माना गया है। संसार के इतिहास के सर्व श्रेष्ठ महापुरुषों के गणना-प्रसंग में सम्राट अशोक का नाम प्रथम श्रेणी में रखा जाता है और इसलिए कि अतुल प्रभुता पाकर भी उसने अपनी समस्त शक्तियों को मानव-जाति की सेवा में पूर्ण प्रसन्नता के साथ समर्पित कर दिया था।

दूर-दूर के विदेशी राजाओं के साथ अशोक की मित्रता थी । उनके राज्य में उसने मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा का उत्तम प्रबन्ध किया था तथा जीव-हिंसा को रोकने और बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए उपदेशक भेजे थे। इस धर्म-प्रचार के आन्दोलन को उसने बड़े उत्साह के साथ उठाया था और उसकी पूर्ण रूप से व्यवस्था भी की थी। विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार करने का उसका विचार निस्सन्देह नितान्त मौलिक था। इस महान् प्रस्ताव का अपनी प्रतिभा से आविष्कार कर उसने विधिपूर्वक उसे रचनात्मक रूप देने का प्रयत्न किया । सर्व प्रथम उसने धर्मोपदेशक पाँच यवन राज्यों में भेजे, जिन पर क्रम से ऐंटियोकस, टोलेमी फिलाडेल्फस, ऐंटिगोनस, मेगस और एलेक्जैण्डर नाम के राजा राज्य करते थे। उदार चरित्र अशोक ने एशिया, अफ्रीका और यूरुप इन तीनों महाद्वीपों में अपने धर्मोपदेशक भेजे थे। मौर्य-साम्राज्य भिन्न-भिन्न प्रान्तों में, सीमान्त देशों में बसनेवाली यवन, काम्बोज, गान्धार, राष्ट्रिक, पितनिक, भोज, आन्ध्र, पुलिन्द आदि जातियों में तथा केरल-पुत्र, सत्यपुत्र, चोड़ और पाण्ड्य नामक दक्षिणी भारत के स्वाधीन राज्यों में और सिंहलद्वीप में उसने बौद्ध-धर्माचार्यों को भेजा था। उनमें से कतिपय कर्मवीर धर्म-गुरुओं का नाम साँची के स्तूपों पर उत्तीर्ण मिलता है। आचार्य मध्यन्तिक कश्मीर और गन्धार में और महारक्षित यवन देश (बैक्ट्रिया) में धर्म प्रचार के लिए गये थे। दक्षिण भारत के प्रान्तों में महादेव, रक्षित, यवन धर्म रक्षित और महाधर्म रक्षित धर्म का जयघोष करने के लिए प्रस्थित हुए थे। मज्झिम हिमालय के प्रदेशों में उपदेश करते थे। सोण और उत्तर ये दोनों भाई सुवर्णभूमि (बर्मा) की ओर धर्म का संदेश सुनाने के लिए पधारे थे किन्तु इन धर्म धुरीण गुरुओं की कीर्ति-प्रभा को प्रच्छन्न करने वाले दो त्यागवीर महात्मा राजर्षि अशोक के ही पुत्र थे। उसके पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा भिक्षु और भिक्षुणी बन कर सिंहलद्वीप गये थे और वहाँ जाकर बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। सिंहल के राजा देवानंपियतिस्स ने महेन्द्र और संघमित्रा का बड़ा आदर सत्कार किया और बौद्ध धर्म स्वीकार कर उनके शुभागमन के उपलक्ष्य में वहाँ एक महाविहार स्थापित किया। अजन्ता की गुफा के एक चित्र में इन दोनों की सिंहल यात्रा का दृश्य अंकित है और इन दोनों का प्रातः स्मरणीय नाम बौद्ध ग्रन्थों में सुवर्णाक्षरों में लिखा है।

गौतम बुद्ध के समय में बौद्ध धर्म केवल एक छोटा सा सम्प्रदाय था और इसका प्रभाव एक छोटे से प्रान्त में सीमित था किन्तु अशोक ने इस धर्म को संसार का एक महान् धर्म बना दिया। जिस समय गौतम बुद्ध का निर्वाण हुआ था उस समय बौद्ध धर्म गया, प्रयाग और हिमालय के मध्यवर्ती भाग में फैला हुआ था किन्तु सम्राट् अशोक के धार्मिक प्रेम, उत्साह और प्रचार के कारण बौद्ध धर्म भारतवर्ष तथा दूर-दूर के देशों में प्रसार को प्राप्त करने लगा अशोक का नाम उन दुर्लभ महात्माओं में गिना जायगा जिन्होंने संसार के धर्म में महान् परिवर्तन किये हैं। सत्य बात तो यह है कि अशोक अपने समय का जगद्गुरु था—असभ्य और पतित जातियों का उद्धारक-तथा उन्हें शिष्टाचार की शिक्षा देने वाला था। सिंहल, बर्मा, स्याम, जापान तिब्बत आदि देशों की सभ्यता का इतिहास उनमें बौद्ध धर्म के प्रवेश होने पर ही आरम्भ होता है। अतएव इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि संसार के इतिहास में अशोक के देश-देशान्तरों में भेजे हुए धर्म-प्रचारक सभ्यता के प्रसार में महत्व पूर्ण कारण हुए और उन्होंने भारतीय संस्कृति की जीवित ज्योति को, जहाँ तक उनकी पहुँच थी, सर्वत्र ही प्रज्वलित कर दिया।

बौद्ध धर्म को स्वीकार करने के पूर्व अशोक को प्राणिवध करने में कुछ भी संकोच नहीं होता था। उत्सवों पर असंख्य प्राणियों का मांस के लिए, वध किया जाता था। अब अशोक ने अपने राज्य में जीव-हिंसा का निषेध किया और यह घोषणा की कि जीवों का वध करके हवन न करना चाहिए और न ऐसी गोष्ठी होनी चाहिए जहाँ भोजन के लिए हिंसा की जाती हो। उसने अपनी पाकशाला में जहाँ प्रतिदिन असंख्य जीव भोजन के लिए मारे जाते थे, अन्यान्य अनेक जीवों का वध रोक कर केवल दो मोर और एक हिरन मारने की आज्ञा प्रदान की इतना ही नहीं, उसने बाद में उन्हें भी जीवदान देने की इच्छा प्रकट की।

अहिंसा के भाव से प्रेरित होकर अशोक ने शिकार खेलने की प्रथा भी बन्द कर दी थी। उसके आठवें शिलालेख में लिखा है कि पूर्व काल में राजा लोग विहार-यात्रा के लिए निकलते थे जिनमें शिकार और अनेक प्रकार के बड़े आमोद प्रमोद हुआ करते थे किन्तु उसने विहार-यात्रा के स्थान पर धर्म यात्रा की प्रथा का प्रचलन किया। ब्राह्मणों श्रमणों और वृद्धों के दर्शन का लाभ करना, सुवर्ण का दान देना; ग्रामों में जाकर जनता की वास्तविक दशा का निरीक्षण करना और

उनके लिए कल्याण मार्ग का दिग्दर्शन करना तथा धर्म से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों में परस्पर सम्पर्क में आकर विचार करना, ये समस्त पवित्र कार्य अशोक के मतानुसार धर्म-यात्राओं में करने चाहिए । प्रियदर्शी सम्राट् अशोक ने अपने राज्याभिषेक के दस वर्ष बाद पूर्वोक्त धर्म-यात्रा महाबोधि अर्थात् गया से आरम्भ की थी । पशुओं की हिंसा कर यज्ञ करने का निषेध राज्य भर में कर दिया गया था निश्चित तिथियों में सभी प्रकार की हिंसा को रोक दिया गया था । बैलों को आँकने, जंगलों में आग लगाने तथा जीव-हिंसा से सम्बन्ध रखनेवाले प्रायः समस्त कार्य बन्द कर दिये गये थे ।

सम्राट् अशोक ने अपनी प्रजा में माता-पिता की सेवा करने, मित्र, परिचित, सम्बन्धी, ब्राह्मण तथा श्रमणों का सम्मान करने की उत्तम भावनाओं का सतोषजनक प्रचार किया था बड़ों को अपने से छोटों, सेवकों, भृत्यों तथा अन्य प्राणियों के साथ दयापूर्ण बर्ताव करना चाहिए, यह अशोक का आदेश था । अहिंसा, बड़ों का सम्मान और सत्य भाषण-ये तीनों गुण अशोक के धर्म के निष्कर्ष हैं । "सत्य वद, धर्म चर मातृदेवोभव, पितृदेवोभव, आचार्यदेवोभव" आदि जो उपनिषद् के उपदेश हैं, उन सब की ध्वनि अशोक के वचनों में से स्पष्ट निकलती है ।

अशोक अपने से भिन्न धर्म वालों का सम्मान दान और मान के द्वारा किया करता था । वह केवल अपने ही धर्मवालों का पक्षपात न करता था । पर-धर्म निन्दा से वह अधिक घृणा करता था । समस्त सम्प्रदायों की 'सारवृद्धि' हो , यही उसकी प्रवल अभिलाषा थी । अशोक को लेश-मात्र भी धार्मिक आग्रह नहीं था । ब्राह्मण और श्रमण, दोनों को ही वह सम्मानपूर्ण दृष्टि से देखता था । धर्म-यात्रा में दोनों का दर्शन लाभ करता था और दोनों को समान रूप से दान देता था । धर्म-सहिष्णुता की अमूल्य शिक्षा अशोक ने बारहवें शिलालेख में बड़े ही ओजस्वी और गंभीर शब्दों में दी है । उसका कथन है कि वास्तविक धर्मोन्नति-'सारवृद्धि'-का मूल 'वाक् संयम,है अपने धर्म की स्तुति और दूसरे के धर्म की निन्दा कदापि नहीं करनी चाहिए । जो व्यक्ति अपने सम्प्रदाय की श्रद्धा से प्रेरित होकर अपने ही धर्मवालों की प्रशंसा करता है और दूसरे धर्म को माननेवाले मनुष्यों की निन्दा करता है , वह वास्तव में अपने सम्प्रदाय को पूर्ण रूप से हानि पहुँचाता है । वह व्यक्ति अपने धर्म को क्षीण कर देता है और दूसरे के धर्म का अपकार करता है ।

इसलिए परस्पर का मेल- मिलाप-'समवाय' ही अच्छा है कि मनुष्य एक दूसरे के धर्म को सुनें और उसकी प्रतिष्ठा को बढ़ायें। समस्त धर्मवाले 'बहुश्रुत' हों और उन सब का ज्ञान कल्याणमय हो। 'प्रियदर्शी' राजा चाहता है कि "समस्त धर्म वाले सभी स्थानों में मेल मिलाप से रहें। वे सभी संयम और भावशुद्धि चाहते हैं। मनुष्यों के ऊँच-नीच का विचार और ऊँच-नीच अनुराग होते हैं। कोई अपने धर्म का पूर्ण रूप से और कोई अंशमात्र पालन करेंगे। जिसके यहाँ देने के लिए अधिक दान नहीं है, उसमें भी संयम, भावशुद्धि कृतज्ञात और अचल भक्ति तो अवश्य हो सकती है। इन" समस्त अवतरणों से अशोक की उदारमनस्कता, उसके यथार्थ धर्म प्रेम और विश्वमैत्री का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। उसके विचार संकुचित और साम्प्रदायिक नहीं थे। बौद्ध धर्म का अनुयायी होते हुए भी वह बौद्धों के प्रति पक्षपात नहीं करता था। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन आदि सभी उसके दान-मान के पात्र थे। आजीवक नाम के जैन साधुओं के निवास के लिए उसने गया के समीप बाराबर पहाड़ी में सुन्दर गुफाएँ बनवाई थीं। वह अवश्य 'बहुश्रुत' होगा क्योंकि वह सत्य की अनन्तता और गहनता को समझता था। वह मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता और अल्पज्ञता को बड़ी सहानुभूति पूर्ण दृष्टि से देखता था। यह अशोक के उपदेश का ही फल है कि भारतवर्ष में धार्मिक झगड़े बहुत कम हुए हैं और विचार स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त सर्वमान्य हुआ है।

अशोक ने साधारण दान की महिमा का वर्णन कर समस्त दानों में धर्म-दान को ही श्रेष्ठ स्वीकार किया है। माता-पिता की सेवा करना, गुरुजनों का सन्मान करना, दास और भृत्यों के साथ सद्व्यवहार करना, अहिंसा और सत्य का पालन करना—यह सब कल्याण का एक मात्र साधन है। इस प्रकार के 'धर्म-दान; से यह लोक सुधरता है और परलोक में पुण्य होता है। अशोक ने अपनी धर्म-लिपियों में धर्म की अकथनीय महिमा कही है। वास्तविक अनुष्ठान धर्म का अनुष्ठान है और वास्तविक यात्रा धर्म यात्रा है। वास्तविक मङ्गलाचार धर्म-मङ्गल है। धर्म विजय से बढ़कर कोई विजय नहीं है।

अशोक साधारण लोकाचार पर कुछ भी ध्यान न देता था। 'रुग्न-अवस्था में, निमंत्रण में, विवाह में, पुत्र-जन्म और यात्रा के प्रसंगों पर स्त्री–पुरुष अनेक प्रकार के मङ्गल-कार्य करते हैं, परन्तु ये समस्त मङ्गल-कार्य अल्प फल के देने वाले होते हैं।

अशोक के समय में बच्चों की माताएँ अधिक टोना, जादू, पूजा और पुजापा किया करती थीं। रोग आदि के टोटके, शकुन, यात्रा, बलि, मनौती आदि का फल संदिग्ध है। किन्तु अहिंसा, दया, दान, गुरुजनों की पूजा आदि धर्म के मङ्गल-कार्य अनन्त पुराय उत्पन्न करते हैं।

अशोक का उपदेश है कि सांसारिक कीर्ति का परलोक में कुछ भी महत्व नहीं है। जो सत्कीर्ति की अभिलाषा रखते हों वे मेरे धर्म के सन्देश को ध्यानपूर्वक अवश्य सुनें और मेरे धर्म के व्रत का यथार्थ रूप से अनुकरण करें। प्रियदर्शी का समस्त पराक्रम पारलौकिक सुख के लिये है क्योंकि इसके पुराय-प्रताप से सभी अधोगति से बच सकते हैं। वास्तव में यह अधोगति ही पाप है। किन्तु बना प्रबल उद्योग के छोटे अथवा बड़े किसी भी मनुष्य के द्वारा यह कार्य सम्पन्न होना अधिक कठिन है।

दया, दान, सत्य, शौच, मृदुता, साधुत्व, अहिंसा, मैत्री, माता-पिता की सेवा गुरु, पूंजा, ब्राह्मण-श्रमणों के प्रति, आदर दास और भृत्य के प्रति सद्व्यवहार, अल्पव्ययता, अल्पभाराडता अर्थात् परिमित धन-संग्रह की प्रवृत्ति—इन समस्त सात्विक गुणों का सन्निवेश अशोक ने धर्म शब्द में किया था। उसका कहना है कि धर्म की वृद्धि केवल धर्म के नियम बनाने से नहीं हो सकती। किन्तु जब मनुष्य अपने गुण-दोषों पर विचार 'प्रत्यवेक्षण' करना सीख लेते हैं तभी उन सबका धार्मिक अभ्युदय होना संभव है। अशोक के समस्त धार्मिक विचारों की आलोचना करने से यह सिद्ध होता है कि उसने अपने लेखों के द्वारा किसी विशेष धर्म की शिक्षा लोक को नहीं दी थी। अशोक का धर्म वास्तव में बौद्ध-धर्म नहीं था। वह तो मानव मात्र की सामान्य सम्पत्ति का ही स्वरूप था और इसीलिए उसके धार्मिक विचार सभी सम्प्रदायों को मान्य थे।

निस्सन्देह अशोक अधिक परिश्रमी था। राज्य से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों का संचालन वह बड़ी तत्परता के साथ किया करता था। तन, मन और धन से प्रजा का उपकार करना ही उसने अपना ध्येय मान रखा था। वह अपने आप को लोक का ऋणी समझता था। जिस राजा के राज्य में प्रजा को दुःख सहना पड़ता है वह अवश्य नरकगामी होता है—यह धारणा उसके मन में स्थिर हो चुकी थी। प्रजा के पाप-पुराय का राजा भागी होता है-यह प्राचीन भारतीय राजधर्म का आदर्श

उसके अन्तःकरण में घर कर बैठा था। प्रजा के केवल रक्षण और भरण मात्रसे राजा के कर्तव्य की इति नहीं होती किन्तु प्रजा के विनयाधान के लिए उसे तन, मन, धन से निरन्तर परिश्रम करना चाहिए। यह उसकी राजनीति का उज्जवल आदर्श था। बौद्ध-धर्म को सार्वभौम बनाने के प्रयत्न के साथ ही साथ उसे राज्य-कार्य की चिन्ता निरन्तर बनी रहती थी।

उसने छठे शिलालेख में अपने राजधर्म के उच्च आदर्श की घोषणा निम्न-लिखित वाक्यों में की है – "मैंने यह प्रबन्ध किया है कि सब समय में, चाहे मैं भोजन करता रहूँ, चाहे अन्तःपुर में रहूँ अथवा शयनागार में रहूँ, चाहे उद्यान में रहूँ–सभी स्थानों में प्रतिवेदक (पेशकार) प्रजा के कार्य की मुझे सूचना दें। मैं प्रजा के कार्य सभी स्थानों में करूँगा। यदि मैं स्वयं आज्ञा दूँ कि अमुक कार्य किया जाय और महामात्रों में उस विषय में कोई मतभेद उपस्थित हो अथवा मन्त्रि-परिषद उसे स्वीकार न करे तो प्रत्येक समय और प्रत्येक स्थान में मुझे सूचना दी जाय, क्योंकि चाहे मैं कितना ही परिश्रम करूँ और चाहे कितना ही राज्य का कार्य करूँ किन्तु मुझे पूर्ण सन्तोष नहीं होता। सर्वलोक के हित-साधन से बढ़ कर दूसरा कोई परम कर्तव्य नहीं है। मैं जो कुछ पराक्रम करता हूँ वह इसलिए कि जीवों के प्रति जो मेरा ऋण है उससे उऋण हो जाऊँ और यहाँ कुछ लोगों को सुखी करूँ तथा परलोक में उन्हें स्वर्ग का अधिकारी बनाऊँ। यह धर्म-लेख चिरकाल तक स्थित रहे और मेरे स्त्री, पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र लोक-हित के लिए पराक्रम करें। अत्यधिक पराक्रम के बिना इस कार्य का सम्पन्न होना सर्वथा असंभव है।"

कलिंग की घोषणाओं में भी अशोक ने यही कहा है कि—"समस्त मनुष्य मेरे पुत्र हैं और जिस प्रकार मैं अपने पुत्रों का हित तथा सुख चाहता हूँ उसी प्रकार मैं लोक के ऐहिक और पारलौकिक हित तथा सुख की कामना करता हूँ।" "सीमा-न्त जातियाँ मुझ से भयभीत न हों, मुझ पर विश्वास करें और मेरे द्वारा सुख प्राप्त करें, कभी दुःख न पाव तथा विश्वास रखें कि जहाँ तक क्षमा का व्यवहार हो सकता है वहाँ तक राजा हम लोगों के साथ क्षमा का व्यवहार करेंगे।" चौथे स्तम्भलेख में अशोक का तीसरा घोषणा-पत्र है जिसमें लिखा है कि "जिस प्रकार कोई मनुष्य अपनी सन्तान को निपुण धाई के हाथ में सौंप कर निश्चिन्त हो जाता

है और विचारता है कि यह धाई मेरी सन्तान को सुख देने के लिए पूर्ण रूप से प्रत्यन करेगी, उसी प्रकार प्रजा के हित और सुख के सम्पादनार्थ मैंने राजुक नाम के कर्मचारी नियुक्त किये हैं।" जिस प्रकार वृक्ष सूर्य के प्रखर ताप को सहन कर अपनी छाया में विश्राम करने वाले प्राणियों को सुख पहुंचाता है उसी प्रकार राजर्षि अशोक अपने सुख की अभिलाषा को छोड़कर प्रजा के लिए खिन्न और व्याकुल रह कर उसके हित-सम्पादन में निरन्तर संलग्न रहता था।

कलिंग के शिलालेखों से प्रमाणित है कि अशोक दूरवर्ती प्रान्तों के शासकों को प्रजा का हित-चिन्तन करते रहने के लिए सर्वदा आदेश करता रहता था। शासकों के लिए उसका यह आदेश था कि अत्यन्त कठोरता और अत्यन्त कोमलता त्याग कर उन्हें मध्य-मार्ग (न्याय-मार्ग के अवलम्बन करने की चेष्टा करनी चाहिए और ऐसे दोषों से बचना चाहिए जिनके कारण सफलता नहीं होती; जैसे ईर्ष्या, अकर्मण्यता, निष्ठुरता, त्वरा, आलस्य और तन्द्रा। राज्य के उच्च पदाधिकारियों पर अशोक अपना प्रबल अंकुश रखता था। प्रत्येक पाँचवें वर्ष अशोक के महामात्य कलिंग प्रान्त में तथा तक्षशिला और उज्जयिनी में प्रत्येक तीसरे वर्ष प्रान्तीय शासनों के निरीक्षण के लिए भेजे जाते थे। अशोक ने अपने राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष में यह आज्ञा दी कि समस्त राज्य में युक्त, रज्जुक और प्रादेशिक प्रति पाँचवें वर्ष जिस प्रकार शासन-सम्बन्धी कार्यों के लिए दौरा करते हैं उसी प्रकार धर्मानुशासन के लिए भी दौरा करें। अशोक ने विहार यात्रा की प्राचीन प्रथा को त्याग कर धर्म—यात्रा की नवीन प्रथा इस उद्देश्य से प्रचलित की थी कि वह अपने राज्य की प्रजा से स्वयं मिले तथा उन्हें और उनकी वास्तविक दशा को देखे। अशोक में धर्मानुराग की जितनी मात्रा थी उतनी ही मात्रा प्रजा-वात्सल्य की भी थी।

उसने प्रजा के आराम और सुख के लिए सड़कों पर कुएँ खुदवाये, वृक्ष लगवाये, चिकित्सालय स्थापित किये और औषधियों के उद्यान आरोपित किये। उसने धर्म के उपदेश और अहिंसा के नियम स्थल-स्थल पर शिलाओं और स्तम्भों पर अङ्कित करवाये अशोक ने चन्द्रगुप्त के दण्ड-विधान की कठोरता को हलका कर दिया और फाँसी की सजा (प्राणदण्ड) से अपराधी को मुक्त करने अथवा उस दण्ड को कम करने का अधिकार धर्म-महामात्रों को दे दिया। अशोक की शासन प्रणाली में विशेष कोई परिवर्तन नहीं हुआ अशोक के राजदूत दूरवर्ती यवन-राज्यों

में भेजे गये थे। उच्च श्रेणी के पदाधिकारी 'महामात्र' कहलाते थे। निम्न श्रेणी के कर्मचारी 'युक्त' कहे जाते थे। प्रान्त के सबसे ऊँचे पदाधिकारी, जो लाखों मनुष्यों पर शासन करने के लिए नियत थे 'राजुक' कहलाते थे। भूमिकर और न्याय-विभाग के उच्च कर्मचारी 'प्रादेशिक' थे।

अशोक ने इन्हीं समस्त पदाधिरियों के नाम अनेक शासन निकाले थे और उन्हें उपदेश किया था कि वे प्रजा के प्रति मृदुता, सहनशीलता और उपकार-बुद्धि से व्यवहार करें। ये पदाधिकारी नियम से दौरे पर जाया करते थे। दौरे की प्रथा 'अनुसंयान' कहलाती थी। अशोक ने विशेष रूप से एक धर्म-विभाग स्थापित किया था। इसके उच्च पदाधिकारी 'धर्म-महामात्र' कहलाते थे। 'प्रतिवेदक' राजा को प्रजा के समाचार सुनाते और राज्य के कार्यों को उसके सामने उपस्थित करते थे। 'परिषद्' का भी उल्लेख अशोक के शिलालेखों में पाया जाता है जो संभवतः मन्त्रि-परिषद् हो सकती है।

अशोक ने सड़कों पर मनुष्यों और पशुओं को छाया देने के लिये बरगद के वृक्ष लगवाये, आम्र-वाटिकाएँ बनवाईं, एक-एक मील की दूरी पर कुएँ खुदवाये, धर्मशालाएँ बनवाईं और जहाँ-तहाँ मनुष्यों और पशुओं के लिए जल के कुण्ड बनवाये। अशोक ने यह सब व्यवस्था इस उद्देश्य से की कि लोग धर्म के अनुसार आचरण करें और परोपकार तथा पुण्य के कार्यों में जीवन व्यतीत करें। काठिया-वाड़ में गिरनार के रुद्रदामा के शिलालेख में उल्लेख है कि अशोक मौर्य के आदेश से यवन-राजा तुषास्फ ने सुदर्शन नामक झील से कृषकों के उपयोगार्थ नहरें निकाली थीं। अशोक ने स्तम्भ, स्तूप, विहार और गुफा मन्दिर सहस्रों की संख्या में बन वाये थे। ये समस्त सार्वजनिक कार्य उसकी परोपकार-परायणता सूचित करते हैं।

अशोक ने रोगी मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा के लिए चिकित्सालय तथा औषधालय स्थापित किये थे। अपने सम्पूर्ण राज्य में ही नहीं, किन्तु दूर-दूर के चोड़, पाण्ड्य, सिंहल आदि सीमान्त प्रदेशों में और अन्तियोक आदि यवन राजाओं के देशों में उसने दोनों प्रकार की चिकित्साओं का प्रबन्ध किया था। जहाँ-जहाँ औषधियाँ और कन्द-मूल-फल नहीं थे, वहाँ वहाँ वे भिजवाये और लगवाये गये थे। जीव-दया और विश्व-मैत्री तथा लोक-सेवा का अनुपम आदर्श राजर्षि अशोक था। निस्सन्देह वह समदर्शी था। उसका हृदय मानवी समवेदना के भाव से परिपूर्ण था

जाति-भेद, वर्ण-भेद, देश-भेद तथा सम्प्रदाय-भेद उसके दया, दान और लोक-हित के कार्यों में कदापि बाधक नहीं होते थे। उसने जितने भी लोक-हित के कार्य किए उन सब में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का ही भाव अतिशय प्रबल था।

अशोक ने अपने राज्याभिषेक के तेरहवें वर्ष में धर्म-महामात्रों को नियत किया था। उसने लिखा है कि वे समस्त प्रजा के हित और सुख के लिए नियत किए गए हैं। उन्हें दूर-दूर के सीमा-प्रान्त के देशों में, समस्त सम्प्रदायों में भृत्यों, आर्यों अनार्थों और वृद्धों में जाकर उनका हित और उन्हें धर्मोपदेश करना चाहिए। वे राज्य में जहाँ कहीं अनुचित बन्धन अथवा वध की आज्ञा होती पावें वहाँ रुकवा दें, बदलवा दें और जहाँ उचित हो उन्हें छुड़ा दें। वे यह भी ध्यान रखें कि ऐसा दण्डनीय व्यक्ति कहीं अनेक सन्तान वाला, आपत्ति का मारा अथवा वृद्ध तो नहीं है। वे मेरे और मेरे भाई, बहिन तथा सम्बन्धियों के अन्तःपुर का निरीक्षण करें और सर्वत्र धर्म तथा दान के कार्यों की देख-रेख रखें। इन्हीं समस्त अधिकारों को देकर अशोक ने धर्म-महामात्रों को नियत किया था।

अशोक के राज्य-काल के अन्तिम चरण में एक बौद्ध महासभा का अधिवेशन पाटलिपुत्र में हुआ था। इस सम्बन्ध की अनेक कथाएँ बौद्ध-ग्रन्थों में पाई जाती हैं। किन्तु इस महासभा का उल्लेख किसी भी शिलालेख में नहीं है। कदाचित् साँची और सारनाथ के स्तम्भ-लेख इस महासभा के बाद प्रकाशित हुए हों, जिनका आशय यह है कि जो भिक्षुणी या भिक्षु संघ में भेद भाव उत्पन्न करेगा वह तुरन्त संघ से निकाल दिया जायगा।

अशोक के बौद्ध-धर्मावलम्बी होने का प्रमाण उसके मुख्य-मुख्य शिलालेखों से नहीं मिलता। वास्तव में बात यह है कि शिलालेखों में जिस धर्मके स्वरूप का निरूपण किया गया है वह तो उस समय भारतवर्ष के समस्त सम्प्रदायों को मान्य था। परंतु अशोक के उत्कीर्ण लेखों में भाब्रु का शिलालेख अधिक महत्व का है, क्योंकि इससे अशोक का बौद्ध धर्मावलम्बी होना सिद्ध होता है। इसमें 'त्रिरत्न'—बुद्ध, धर्म और संघ—तथा बौद्ध ग्रंथों के सात प्रसंगों का उल्लेख है जो बौद्ध-धर्म में अशोक को अधिक प्रिय थे। इन्हीं समस्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि अशोक राज्यके कार्यों से अवकाश पाकर कुछ समय के लिए भिक्षु-संघ में जाकर रहता था। चीनी-यात्री ईत्सिंग ने भिक्षु के वेष में निर्माण की हुई अशोक की एक प्राचीन मूर्ति को देखा था।

संसार के इतिहास में अनेक प्रतापशाली राजा हुए हैं किन्तु अशोक के समान कोई नहीं हुआ। बौद्ध साहित्य में अशोक को 'धर्माशोक' कहा जाता है। अशोक ने इस नाम को पूर्णतया चरितार्थ किया, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। यद्यपि आधुनिक काल के लब्ध प्रतिष्ठ इतिहास के विद्वानों ने अशोक की तुलना इतिहास के अन्य प्रतापी राजाओं से की है तथापि उन्हें यह मुक्तकण्ठ से स्वीकार करना पड़ा है कि अशोक का चरित्र सर्वथा अनुपमेय है और उसका नाम केवल प्रतापी सम्राटों की ही नहीं, किन्तु लोक प्रसिद्ध धर्म धुरीण महात्माओं की नामावली में भी अग्रगण्य है। इसमें सन्देह नहीं कि संसार के इतिहास में वह सबसे बड़ा धर्म-प्रचारक, परोपकार-परायण और प्रजा-वत्सल सम्राट था। उसमें न केवल राजोचित नीति-निपुणता एवं बुद्धिमत्ता थी किन्तु महात्माओं की-सी पवित्रता और धर्मनिष्ठा कूट-कूट कर भरी हुई थी। भारत के नर-रत्नों के गणना-प्रसंग में गौतम बुद्ध के बाद अशोक का ही नाम लिया जा सकता है।

अशोक की तुलना संसार के प्रसिद्ध सम्राटों के साथ की जाती है। कुछ इतिहास के विद्वानों का विचार है कि अशोक रोम के सम्राट कान्स्टेण्टाइन के समान था और इसलिए कि जिस प्रकार कि अशोक बौद्ध-धर्म का महान् संरक्षक था उसी प्रकार ईसाई धर्म का महान् संरक्षक कान्स्टेण्टाइन था। किन्तु हमें यह विचार मान्य नहीं है। कारण यह है कि कान्स्टेण्टाइन ने ईसाई धर्म को उस समय अंगीकार किया था जिस समय उसका अधिक प्रचार हो चुका था किन्तु अशोक ने बौद्ध-धर्म को उस समय अंगीकार कर उन्नत किया था जिस समय उस धर्म का प्रभाव अतिशय संकीर्ण प्रदेश में मर्यादित था। अशोक ने बौद्ध धर्म को केवल आश्रय ही नहीं दिया था प्रत्युत उसके समस्त सिद्धान्तों के साथ अपने जीवन के प्रत्येक क्षण को भी जोड़ दिया था। अहिंसा, मित्रता, और लोक-सेवा के उत्तम आदर्शों को अपने व्यक्तिगत और राजनैतिक जीवन में चरितार्थ करने का उसने निरन्तर प्रयत्न किया था। प्रत्येक दृष्टिकोण से विचार करने के बाद कहना पड़ता है कि कान्स्टेण्टाइन में ये समस्त गुण इतनी अधिक मात्रा में न थे।

कहीं-कहीं अशोक की तुलना रोम के सम्राट मार्कस ओरिलियस से की गई है। हम यह मान सकते हैं कि अशोक की अपेक्षा मार्कस ओरिलियस अधिक प्रगल्भ तत्वचिन्तक था किन्तु साथ ही साथ यह भी कह देना चाहते हैं कि परमोत्तम

आदर्शों को लक्ष्य में रखकर जिस महान् उत्साह, शक्ति और त्याग से अशोक ने उनका अनुसरण किया उन समस्त गुणों का शतांश भी मार्कस ओरिलियस में न था। मार्कस ओरिलियस अपनी जाति और देश का बड़ा अभिमानी था। उसने ईसाइयों पर अत्याचार किये थे। किन्तु अशोक जाति, देश और कुल का अभिमानी न था। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' इस सिद्धान्त को सामने रखकर उसने निरन्तर सभी के लौकिक और पारलौकिक, कल्याण के लिए उद्योग किया था।

कभी-कभी कह दिया जाता है कि अकबर बादशाह के समान सम्राट अशोक था। इसमें सन्देह नहीं कि अकबर पर धर्म-सहिष्णु और तत्वान्वेषक था किन्तु न तो वह त्यागी था और न तपस्वी। वह तो नित्य सांसारिक विषयों में लिप्त रहा करता था। यश और आत्म-गौरव पाने की लालसा से उसने अपना धर्म 'दीन इलाही' चलाया था। सम्राट अशोक उससे कहीं बड़ा धर्मात्मा था।

यह सत्य है कि सिकन्दर, सीज़र और नेपोलियन आदि बड़े वीर और विजयी सम्राट थे किन्तु अशोक से उनकी भी तुलना नहीं की जा सकती। अपनी समस्त प्रजा के और संसार के प्राणियों के कल्याण-साधन की जैसी चेष्टा और व्यवस्था अशोकने की, वैसी इनमें किसी ने भी नहीं की। यही कारण है कि संसार के असंख्य सम्राटों और महाप्रतापी चक्रवर्तियों की नामावली में सम्राट अशोक का नाम सर्वापेक्षा अधिक उज्जवल और प्रकाशमान् नक्षत्र के समान अपनी अनुपमेय ज्योति से जगमगाता है।

मुद्रक--कैलाश प्रेस, बागमुजफ्फर खाँ आगरा।

नई पुस्तकें

१. जब सारा आलम सोता है—(कहानी संग्रह)
लें० श्री पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' १॥)

२. कंचन घट—(कविता संग्रह)
ले० श्री पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' १॥)

३. जब राम राज आजायेगा (हास्य गीतों का संग्रह)
ले० श्री० कृपाशङ्कर जी शर्मा १)

४. 'राज तरङ्गिणी' की काश्मीरी कहानियाँ
ले० श्री बेनीप्रसाद बाजपेयी १॥)

५. प्राचीन भारत की जनसत्ता और सँस्कृति
ले० श्री बेनीप्रसाद बाजपेयी ३॥)

६. रस अलङ्कार पिङ्गल (बी० ए०, विशारद आदि परीक्षाओं के लिए)
ले० श्री शम्भूनाथ पाण्डेय एम० ए०, एल० टी० २॥)

७. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ (एम० ए०, साहित्य रत्न, प्रभाकर आदि परीक्षाओं के लिये)
ले० श्री जयकिशन प्रसाद ४॥)

प्रकाशक—

विनोद पुस्तक मन्दिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा